विवेकानन्द-चरित

श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार

(द्वादश संस्करण)

रामकृष्ण मठ

नागपुर

समर्पण

श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलासहचर

श्रीमत् स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज

को पुण्य-स्मृति में

यह ग्रन्थ सादर समर्पित करता हूँ।

सेवक—

श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार

स्वामी प्रेमानन्द

वक्तव्य

'विवेकानन्द-चरित' का यह द्वादश संस्करण प्रकाशित करते हमें प्रसन्नता होती है। यह पुस्तक बंगाल के प्रसिद्ध लेखक श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार की मूल पुस्तक 'विवेकानन्द-चरित' का अनुवाद है। स्वामी विवेकानन्द भारत के महान् सन्त थे, जिनके हृदय में स्वदेश प्रेम की अग्नि सतत प्रज्वलित रहती थी। उन्होंने भारतीय और विश्व सस्कृति के पुनरुद्धार और विकास मे अमूल्य योग-दान दिया है। आध्यात्मिक उपदेष्टा तथा राष्ट्रनिर्माता के रूप मे उनका भारतीय इतिहास मे अत्यन्त उच्च तथा स्पृहणीय स्थान है। उन्होने हिन्दू-धर्म को नव-जीवन से अनुप्राणित किया, पाश्चात्य देशो को वेदान्त के सत्य से अवगत किया तथा विश्व-विख्यात 'रामकृष्ण मिशन' को प्रस्थापित कर "आत्मनो मोक्षार्थं, जगद्धिताय च" के उच्च आदर्श के अनुसार सेवा के महत्त्व को प्रचारित किया। उनके सन्देश तथा उनके दैवी एवं अतुल शक्तिशाली व्यक्तित्व ने नव भारत को नये ढाँचे में ढाला है, जिससे वह उनका सदैव कृतज्ञ रहेगा।

हमारा विश्वास है कि स्वामी विवेकानन्द का यह जीवनचरित हिन्दी जनता को स्फूर्ति प्रदान करेगा तथा अपना उद्देश्य पूर्ण करने मे सफल होगा।

नागपुर,
२७.१२.९१

——प्रकाशक

अनुक्रमणिका

विवेकानन्द-चरित

प्रथम अध्याय

बालक विवेकानन्द

(१८६३-१८८०)

ॐ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-वेदान्ताम्बुजभास्करम् ।
नमामि युगकर्तारम् आर्तनाथ वीरेश्वरम् ।।

भगवान् श्रीरामकृष्ण के मंगलमय आशीर्वाद को शिरोधार्य कर जिन महापुरुष ने इस उन्मार्गगामी, परानुकरणमोह से आच्छन्न, आत्मविस्मृत जाति के बीच खड़े होकर अद्वैतवाद की गम्भीर गर्जना से सनातन धर्म का पुन· उद्घोष किया, जिनका समाधि-पूत अपूर्व ज्ञान तप.सम्भूत अमित तेज की उज्ज्वल प्रभा विकीर्ण कर दस वर्ष तक मध्याह्न सूर्य के सदृश समस्त जगत् मे अपनी किरणे फैलाता रहा, जिनकी अक्लान्त चेष्टा एव निर्भीक आत्मोसर्ग से भारत के एक गौरवमय भविष्य का सूत्रपात हुआ, —और केवल भारत ही क्यों, जो अखिल मानव की कल्याण-कामना से महान् युगादर्श को अपने जीवन मे मूर्त बनाकर अवतीर्ण हुए थे, उन जगद्गुरु आचार्य श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव एव तिरोभाव दोनों ही आज अतीत की घटनाएँ हो चुकी है ।

भारतीय इतिहास के एक सकटमय संक्रान्तिकाल मे, इस पराजित जाति के अध:पतन की चरमावस्था में संन्यास के महावीर्य

का आश्रय ले जिन महापुरुष ने धर्म, समाज और राष्ट्र में समष्टि-मुक्ति के महान् आदर्श को प्रतिष्ठित किया है, उनके कार्य तथा उपदेशो का ऐतिहासिक महत्त्व इतने अल्प काल में स्पष्ट रूप से हृदयंगम कर लेना बहुत ही कठिन है। समाज की श्रेणियों में जिस समय ऊँच-नीच का भेद असहनीय हो उठता है, राजदण्ड जहाँ दुर्बलो को अन्यायपूर्वक व्यर्थ पीड़ित करता रहता है, मानव-समाज मे जिस समय धर्म की ग्लानि प्रकट होती है, अत्याचारपूर्ण दुर्नीतियाँ जब शतश. रूप धारण करती हुई दीख पड़ती है, विनाश जब अवश्यम्भावी तथा निकट हो जाता है, तब पुरातन की जीर्ण मृत देह को श्मशान-चिता मे फूंककर उसी की राख की ढेरी पर नव स्फुलिंग द्वारा फिर से एक नयी सृष्टि का सूत्रपात होता दिखायी देता है। मनुष्य-समाज को समय-समय पर ध्वस्त कर गढते रहने की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वामी विवेकानन्द-सदृश महापुरुषों का प्रादुर्भाव होता रहता है।

एक दिन, भारत मे स्त्री, शूद्र तथा ब्राह्मणों का भेद चरम सीमा को पहुँच गया था,—अश्वमेध, गोमेध, नरमेध यज्ञो के आडम्बरो से भारतभूमि खून से लथपथ हो उठी थी, चक्रवर्ती सम्राट् प्रजाशक्ति के कबन्ध पर अपने विजयी रथचक्रो को सोन्माद चला रहे थे, प्रजाशक्ति निर्दयता से रौंदी जा रही थी, वेद तथा शास्त्रों का ज्ञान केवल ब्राह्मणो की श्रेणी तक ही सीमित था, सभ्यता अपनी स्वाभाविकता खोकर कृत्रिम हो गयी थी, उस समय इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप भगवान् बुद्ध अवतीर्ण हुए। तब, वेद अस्वीकृत हो गये, ब्राह्मण-वर्ग दूर हटा दिया गया, स्त्री तथा शूद्र धर्म के नाम पर सघबद्ध हुए, चक्रवर्ती सम्राट् अपने सिहासन

और राजदण्ड को दूर फेंक भगवान बुद्ध के पदचिह्नों का अनुसरण कर साधारण भिक्खु के वेष मे जीवन की संध्या में देश की वीथी-वीथी में भ्रमण करने लगे। सभ्यता की कृत्रिमता का मैल धुल-गया, ऊँच-नीच सर्वसाधारण मे ज्ञान का आलोक-फैला और भारतवासियों ने एक अनुपम साम्यवाद के आदर्श से अनुप्राणित हो धर्म और समाज को एक नये साँचे मे ढाल लिया। राष्ट्र साम्यवाद के इस रूप से प्रभावित हो उठा।

यूरोप के रंगमंच पर भी बीते युग मे ऐसा ही एक अभिनय हो चुका है। रोम-साम्राज्य मे जिस दिन ऊँच-नीच का भेद प्रबल हो चला, विलास और व्यभिचार स्रोत की भाँति अनिर्बन्ध बहने लगे, रोम का सम्राट् अपने साम्राज्य में शासन के नाम पर प्रजा-पीड़न करने लगा, दुर्बल प्रजा पीड़ित, आर्त एव भयभीत होकर जब मृतप्राय बन गयी और धर्म के नाम पर अधर्म का बोलबाला होने लगा, रोम के नेता -जब इन्द्रिय-दास और भोगलोलुप ही बने रहे, उस समय सभ्यता की उस कृत्रिमता के विरुद्ध, उस अधर्म के विरुद्ध, दुर्बल की रक्षा के निमित्त प्रतिक्रिया के रूप मे एक नवीन शक्ति का स्फुरण हुआ। एक दीन, निर्धन, मूर्ख बढई के लड़के ने यूरोप के इतिहास को अपने अगुलिनिर्देश-मात्र से परिवर्तित कर दिया। ग्रीस एव रोम की सभ्यता के बाद यूरोप जब बर्बरता की बाढ मे बहने ही वाला था, उस समय उस प्रलय-पयोधि से ईसामसीह ने यूरोप को खीचकर उसकी रक्षा की।

हमने स्वामी विवेकानन्द के श्रीमुख से सुना है, "अब तो भारत ही केन्द्र है।" और यह भी सुना है, "हे मानव, मृत की पूजा से हम तुम्हे जीवन्त की पूजा के लिए बुला रहे है; गतकाल

के लिए शोक करना छोड़कर वर्तमान में प्रयत्न करने के लिए हम तुम्हें बुला रहे हैं; लुप्त मार्ग के पुनरुद्धार में वृथा शक्तिक्षय करने की अपेक्षा नवनिर्मित, विशाल तथा समीप के पथ पर हम तुम्हें बुला रहे हैं। बुद्धिमान् ! समझ लो। जिस शक्ति के आविर्भाव के साथ ही दिग्-दिगन्त मे उसकी प्रतिध्वनि उठ चुकी है, अपनी कल्पना द्वारा उसकी पूर्णता का अनुभव करो और वृथा सन्देह, दुर्बलता तथा दास-जाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष को छोड़, इस महायुगचक्र के प्रवर्तन मे सहायक वनो।"

स्वामी विवेकानन्द के विचार एवं उनका चरित्र मानव-सभ्यता के परिवर्तन के इतिहास की परम्परा की रक्षा करते हुए ही एक के वाद 'दूसरे स्तर मे क्रमशः विकसित हुए है। उस विकास की धाराएँ वैचित्र्यपूर्ण होने के कारण समझने मे कठिन हैं; अतः उनके सामंजस्य की रक्षा करते हुए संगृहीत सामग्री को ठीक ठीक उपस्थित करने मे, सम्भव है, सभी जगह मै सफल न हो पाऊँ; फिर भी महापुरुषों की इस वाणी पर श्रद्धा रखते हुए कि लोकोत्तर चरित्र-सम्पन्न महामानवों की पवित्र जीवनी की चर्चा से हमारा विशेष कल्याण होता है, मै इस कार्य में अग्रसर होने का दु:साहस कर रहा हूँ। अस्तु।

कलकत्ता नगरी के उत्तर भाग में सिमुलिया मोहल्ले में गौरमोहन मुखर्जी स्ट्रीट पर दत्त-परिवार के विशाल भवन का एक जीर्ण वहिद्वार आज भी अतीत वैभव का साक्षी वना खड़ा है। दत्त-वश का ऐश्वर्य और ख्याति, 'बारह महीने के तेरह उत्सव' का आडम्वर एक समय कलकत्ता के धनी समाज में ईर्ष्या उत्पन्न करता था। कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के नामी वकील राम-मोहन दत्त के समय मे सिमुलिया के दत्तों ने नगर में काफी प्रभाव

और प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। राममोहन के पुत्र दुर्गाचरण ने उस समय की प्रथा के अनुसार संस्कृत तथा फारसी भाषा मे शिक्षा प्राप्त की और कामचलाऊ राजभाषा अँगरेजी भी सीखकर थोडी ही उम्र में वकालत प्रारम्भ कर दी। परन्तु राममोहन की ऐश्वर्य-लिप्सा तथा धनोपार्जन की प्रवृत्ति उनमे न थी। तत्कालीन धनी सन्तानों के समान नवीन नागरिक सभ्यता के भोग-विलास उन्हे अपनी ओर आकर्षित न कर सके। यह धर्मानुरागी युवक अवसर एव सुयोग पाते ही धर्मशास्त्रों की चर्चा तथा सत्सग किया करते थे। उत्तर-पश्चिम प्रदेशों से आये हुए हिन्दी-भाषी वेदान्ती साधुओं के भाव से अनुप्राणित होकर दुर्गाचरण ने पचीस वर्ष की उम्र मे ही सारा ऐश्वर्य एव सम्मान का लोभ छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया। घर मे वे छोड़ गये अपनी चिर-विरहिणी धर्मपत्नी और एकमात्र शिशु पुत्र। कहते है, एक बार वाराणसी-धाम में दुर्गाचरण की धर्मपत्नी ने श्रीविश्वेश्वर के मन्दिर के द्वार पर एकाएक अपने पतिदेव के दर्शन किये थे। संन्यासियों के नियमानुसार बारह वर्ष के बाद दुर्गाचरण एक बार अपने जन्मस्थान का दर्शन करने भी आये थे तथा बालक पुत्र विश्वनाथ को आशीर्वाद दे गये थे। उसके बाद और उन्हें किसी ने नही देखा। पिता के आगमन के एक वर्ष पहले ही विश्वनाथ की माता का भी निधन हो गया था। संन्यासी के सुपुत्र विश्वनाथ दत्त ही विश्वविख्यात सन्यासी विवेकानन्द के पिता है।

विश्वनाथ ने राममोहन का अनुसरण कर वकालत करना प्रारम्भ किया। विश्वनाथ प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वकालत में व्यस्त रहते हुए भी अध्ययन के प्रति उनका प्रबल अनुराग था। उन्होंने फारसी भाषा सीखी थी। हाफिज की कविताएँ उन्हे विशेष

प्रिय थी। अँगरेजी साहित्य, इतिहास आदि पढने के फलस्वरूप धार्मिक कट्टरता उनमें न थी। कई ऊँचे खानदान के मुसलमान उनके असामी थे तथा लखनऊ, इलाहावाद, दिल्ली, लाहोर आदि स्थानों की यात्रा करने के कारण वे उस समय के अनेक शरीफ मुस्लिम परिवारों के घनिष्ठ सम्पर्क मे भी आ चुके थे। फलत: वे मुसलमानी रीति-रिवाजों को सम्मान की दृष्टि से देखते और उनकी पावन्दी भी करते थे। इधर धर्म के सम्वन्ध में वाइविल के अध्ययन के कारण वे ईसाई-धर्म के भी प्रेमी थे। तात्पर्य यह कि धर्म, ईश्वर आदि के वारे मे वे कुछ विशेप ऊहापोह नही करते थे। धनोपार्जन करना और जीवन को सुखी रखना, इसी एक साधारण आदर्श पर वे चलते थे। जैसा कमाते, खर्च भी वैसा ही करते थे। आत्मीय-स्वजनों और वन्धु-वान्धवों का नित्य आतिथ्य-सत्कार करना तथा आवश्यकता से अधिक नौकर-चाकर, गाड़ी-घोड़े रखकर वड़े ठाट-वाट से रहना विश्वनाथ दत्त पसन्द करते थे। स्वातन्त्र्य-प्रेमी, उदारहृदय, मित्रवत्सल, आश्रितो के प्रतिपालक विश्वनाथ के धनजनपूर्ण विशाल भवन में किसी पार्थिव सुख की कमी नही थी। परन्तु पति-सौभाग्य-गर्विता भुवनेश्वरी देवी एक प्राचीनपन्थी हिन्दू महिला थी। इस वुद्धिमती, कर्म-कुशल गृहिणी की स्नेहपूर्ण देखरेख मे इस विराट् परिवार के सभी कार्य वड़ी कुशलता से सम्पन्न होते थे। वे वँगला लिखना एव पढ़ना भलीभाँति जानती थी। रामायण, महाभारत, भागवत आदि पुराणों का नियमित रूप से पाठ करती और साथ ही अपने पति तथा पुत्रों के साथ चर्चा आदि करके तत्कालीन विचारधारा से भी परिचित रहती थी। उनके तेजस्वी चरित्र मे शील-सौजन्य का एक ऐसा सुन्दर मेल था, जो अनायास ही

पड़ोसी स्त्रियों की श्रद्धा को आकर्षित कर लेता था। वे मिष्ट-भाषी परन्तु गम्भीर प्रकृति की थी। उनके सामने कोई भी स्त्री वाचाल बनने का साहस नही करती थी। इन सब से बढकर उनकी विशेषता थी उनकी धर्मपरायणता। वे प्रतिदिन अपने हाथ से शिवपूजा करती थी। अपने इष्ट के प्रति उनकी निष्ठा को देखकर परिवार की अन्य महिलाएँ भी संयत धर्म-जीवन व्यतीत करती थी।

भुवनेश्वरी देवी के चित्त मे एक दु ख था। पुत्र न होने के कारण वे कभी-कभी बड़ी ही उद्विग्न हो जाती थी। पुत्र-मुख देखने की लालसा ने धीरे-धीरे उन्हें बहुत ही व्याकुल कर डाला। वे प्रतिदिन साय्-प्रातः शिवमन्दिर में पुत्र-कामना से कातर होकर प्रार्थना करने लगी। सरल भक्ति तथा सहज विश्वास के साथ देवाधिदेव की सन्तुष्टि के लिए वे कठोर व्रतों का पालन करने लगी, परन्तु फिर भी उनके चित्त को शान्ति न हुई। उस समय दत्त परिवार की एक वृद्ध महिला काशी मे रहती थी। भुवनेश्वरी ने अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए उनके पास एक विस्तृत पत्र लिखा और उनसे अनुरोध किया कि वे उनकी ओर से प्रतिदिन श्रीविश्वेश्वर के सम्मुख पुत्र-कामना से पूजा एवं होम आदि की व्यवस्था करे। यह जानकर कि उनकी इच्छा के अनुसार कार्य हो रहा है, माता भुवनेश्वरी प्रफुल्लित और आश्वस्त हुई। श्रद्धा एव आशा से उत्फुल्ल उनका हृदय देवाधिदेव महादेव के स्मरण-चिन्तन मे विभोर हो उठा। गृहकार्य के बदले गृहदेवता के मन्दिर मे ही वे शिवार्चन मे अपना अधिकाश समय व्यतीत करने लगी।

एक दिन प्रातःकाल शिवपूजा के बाद भुवनेश्वरी देवी

ध्यानमग्न हो गयी। दोपहर बीत गया, सूर्य पश्चिम की ओर ढलने लगा। भुवनेश्वरी देवी का बाह्य ज्ञान मानो लुप्त हो गया। भगवान् के ध्यान में वे पूर्ण रूप से मग्न हो गयीं। धीरे धीरे सन्ध्या का धूसर आलोक उनके तमःक्लान्त, संयम के पुण्य से उज्ज्वल मुखमण्डल को स्वर्गीय तेज द्वारा सुशोभित कर विलीन हो गया। अधिक रात बीत जाने पर थकी हुई माता सो गयी। उनकी बहुत दिनों की आकांक्षा मानो पूर्ण हुई। भुवनेश्वरी ने स्वप्न में देखा—तुषारधवल कर्पूरगौर कैलासपति शिव उनके सामने खड़े है! धीरे धीरे दृश्य बदल गया। भक्त के विस्मयमुग्ध हृदय को एक अपूर्व आनन्द से सराबोर करते हुए भगवान् शिव ने एक छोटे शिशु का रूप धारण कर माता की गोद में शरण ले ली।

स्वर्गीय आनन्द के पुलक से नीद खुलने पर माता ने जब भूमिशय्या का त्याग किया, उस समय सूर्यदेव की उग्र-उज्ज्वल किरणों से चराचर विश्व भर गया था। "हे शिव, हे शकर, हे करुणामय" कहती हुई भक्ति के साथ भूमि पर साष्टांग हो वे बारम्बार प्रणाम करने लगी।

उस दिन १८६३ ईसवी की बारह जनवरी थी। पौप संक्रान्ति का पुण्य प्रभात कुहरे से ढका हुआ था। शीत से ठिठुरते हुए नर-नारियों के दल मकर सप्तमी के स्नान के लिए भागीरथी की ओर जा रहे थे। इसी समय सूर्योदय से छः मिनट पूर्व छः बजकर तैंतीस मिनट तैंतीस सेकण्ड पर भुवनेश्वरी देवी ने विश्वविजयी पुत्र को जन्म दिया। आनन्दोल्लास और हर्षकोलाहल से दत्तभवन मुखरित हो उठा। नारीगण मंगल-शख बजाकर मांगलिक ध्वनि करने लगी। बंगाल के घर घर में पौष पर्व का आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था; मानो नवजात शिशु की सादर अभ्यर्थना

करने के लिए लाखों बालक बालिकाओं के आनन्द कोलाहल से बंगभूमि का प्रत्येक गृहप्रांगण मुखरित हो उठा।

धीरे धीरे नामकरण का दिन आया। बालक की आकृति बहुत कुछ उसके सन्यासी पितामह की तरह देख, परिवार के कुछ लोगों ने शिशु का नाम 'दुर्गादास' रखने की इच्छा प्रकट की। परन्तु माता ने अपने स्वप्न का स्मरण कर कहा, "उसका नाम वीरेश्वर रखा जाय।" आत्मीयजन उस नाम को संक्षिप्त बनाकर 'बिले' कहकर पुकारते थे। अन्त में शुभ अन्नप्राशन के समय बालक का नाम रखा गया 'नरेन्द्रनाथ'। प्रत्येक हिन्दू सन्तान के दो नाम होते है, एक राशिनाम और दूसरा जनसाधारण में प्रचलित नाम। इसलिए भविष्य मे यह शिशु 'नरेन्द्रनाथ' नाम से ही सर्वसाधारण मे परिचित हुआ।

अशान्त नरेन्द्रनाथ ज्यों ज्यों बड़े हुए, त्यों त्यों अधिकाधिक नटखटी होते चले। स्वेच्छाचारी बालक के अशिष्ट आचरण से सभी लोग तंग आ गये थे। भय, फटकार या धमकी आदि किसी भी तरह से अपनी इस उद्धत सन्तान को विनयी और विनम्र बनाने में असमर्थ देखकर माता ने एक अद्भुत उपाय का आविष्कार किया। 'शिव' 'शिव' कहते हुए सिर पर कुछ जल डाल देने से ही मन्त्रमुग्ध साँप की तरह बालक नरेन्द्र शान्त हो जाया करथे थे। आशुतोष शिव जलाभिषेक से ही सन्तुष्ट होते है—इस विश्वास से माता ने इस नवीन उपाय का आविष्कार किया था, इसमें सन्देह नही। बालक का जन्म शिव के अंश से हुआ है, इस पर दृढ़ विश्वास होते हुए भी बुद्धिमती माता यह बात किसी के पास प्रकट न करती थी। एक दिन बालक के ऊधम से तंग आकर उन्होने कह ही तो डाला, "महादेव ने स्वय न आकर

न जाने कहाँ से एक भूत भेज दिया है !" अपनी इच्छा के अनुसार काम करने में वाधा प्राप्त होने पर बालक इतनी जोर से रोने लगता कि सारे घरवालो को बेचैन हो जाना पड़ता था। तव माता गुस्से में आकर कहती, "देख, विले, अगर तू ऊधम मचायगा, तो महादेव तुझे कैलास में आने न देगे।" यह सुन वालक भयभीत नेत्रों से माँ की ओर एकटक देखते हुए उसी समय चुप हो जाता।

वालक नरेन्द्रनाथ के ऊधम मे परेशान होकर उसकी दो वड़ी वहने कभी कमी उसे पीटने के लिए उसका पीछा किया करती थी। परन्तु चतुर नरेन्द्रनाथ चट से नाली मे उतरकर वदन पर कीचड लगाकर खडे हो जाते। अपवित्र होने के भय से जब वे उन्हे पीटने में असमर्थ होकर लौट जातीं, तो शुचिअशुचि-ज्ञानहीन यह बालक विजय गर्व से खिलखिलाकर ताली पीटते हुए कहने लगता, "कहो, पकड़ो न मुझे !"

वालक नरेन्द्र गाड़ी पर सवार होकर घूमने में वहुत ही आनन्द का अनुभव करते थे। माँ की गोद मे वैठकर गाड़ी में से दोनों ओर की चीजें देखते हुए एक के वाद दूसरा प्रश्न पूछते हुए माता को हैरान कर डालते थे। गाड़ी से उन्हे इतना प्रेम था कि वे प्रतिदिन अपने मकान के सामने बैठकर प्रत्येक गाड़ी को ध्यान से देखा करते। एक दिन उनके पिताजी ने उनसे पूछा, "नरेन्द्र, तू वड़ा होने पर क्या वनेगा, वोल तो ?" नरेन्द्र ने सिर हिलाते हुए गम्भीर मुद्रा वनाकर उत्तर दिया, "घोडे का सईस या कोचवान वनूंगा।" कोचवान का छाती फुलाकर वैठना, तेज घोड़े की लगाम को खीचकर उसे हाँकने का कौशल, उसकी खास पोशाक, चपरास, जरीदार पगड़ी आदि

का बालक के मन पर जो विशेष प्रभाव पड़ा होगा, उसमें भला कौनसी विचित्र बात है ! कोचवान बनने की आशा से बालक ने अपने पिताजी के बूढे कोचवान के साथ मित्रता कर ली थी और अवसर पाते ही अस्तबल में जाकर वह सईस और कोचवानों के कामों को देखा करता था।

माँ के मुँह से रामायण एवं महाभारत की कहानियाँ सुनना नरेन्द्रनाथ को बहुत पसन्द था। माता भुवनेश्वरी अपने प्यारे पुत्र को गोद मे बिठाकर सीताराम की कहानी सुनाती हुई अपने अवकाश का समय बिताया करती। दत्त-भवन मे प्राय: प्रतिदिन दोपहर को रामायण तथा महाभारत की कथा होती थी। कोई वृद्ध महिला पाठ करती, कभी कभी भुवनेश्वरी देवी स्वयं पढ़ती। घर का कार्य समाप्त कर दूसरी स्त्रियाँ पाठिका को घेरकर बैठ जाती। इस छोटीसी महिला सभा में दुर्दमनीय नरेन्द्र शान्त होकर बैठा रहता। इसमे कोई सन्देह नहीं कि पुराणों की कहानियो का बालक के मन पर गम्भीर प्रभाव पड़ा था। सुदूर, अतीत युग के धर्मवीरों की पवित्र जीवनियाँ सुनकर उसके शिशु हृदय मे न मालूम भावों की क्या क्या लहरें उठा करती, जिससे वह अपनी स्वाभाविक चंचलता छोड़ घण्टों मन्त्र-मुग्ध जैसा रहा करता था।

रामायण सुनते सुनते बालक नरेन्द्र का सरल शिशुहृदय भक्ति-रस से परिपूर्ण हो उठता। एक दिन अपने खेल के एक साथी को लेकर वे बाजार से श्रीसीताराम की एक युगलमूर्ति खरीद लाये और मकान की छत पर एक सुनसान कमरे मे उसकी स्थापना कर दी। वे प्रत्यह उस मूर्ति के सामने ध्यानमग्न जैसे बैठे रहते। सीताराम के प्रति बालक का यह प्रेम उनके पश्चिम-

देशीय कोचवान मित्र के लिए बड़ा ही आनन्ददायक था। शिशु-हृदय की किसी भी समस्या, किसी भी प्रश्न का हल कर देने में वह कभी विरक्ति या क्लान्ति का अनुभव नही करता था। एक दिन बात बात मे विवाह की बात चली। किसी अज्ञात कारण से कोचवान को विवाह पसन्द न था। इसलिए उसने विवाहित जीवन की अशान्ति का ऐसा जीताजागता वर्णन किया कि बालक नरेन्द्रनाथ के सुकुमार चित्त पर उसकी छाप गम्भीर रूप से अकित हो गयी। उनके मन में अनेक चिन्ताएँ उठने लगीं और बेचैन होकर आँखो मे आँसू भरे वे माता के पास लौट आये। उनकी आँखों मे आँसू देखते ही चिन्तित हो माता ने कारण पूछा। कोचवान से उन्होंने जो कुछ सुना था, वह कम्पित कण्ठ से कहते हुए नरेन्द्र बोले, "मै सीताराम की पूजा कैसे करूँ ? सीता राम की तो पत्नी थी !" प्रेममयी माता ने अत्यन्त प्यारे पुत्र को गोद मे उठाकर उसका मुँह चूमते हुए कहा, "सीताराम की पूजा न भी करो तो क्या हानि है ? कल से शिवजी की पूजा करना, बेटा !"

माता को दूसरा काम करते देख नरेन्द्र धीरे से कमरे से निकल आये। प्रियतम श्रीसीताराम की मूर्ति को हाथ में ले, किसी को कुछ न बतलाते हुए वे छत पर आकर खड़े हो गये। सन्ध्या का अन्धकार धीरे धीरे प्रगाढ़ होता जा रहा था। ऊपर असंख्य गतिशील, उज्ज्वल नक्षत्रों से सुशोभित नीलाकाश फैला हुआ था और नीचे आदर्श दाम्पत्यप्रेम के सर्वश्रेष्ठ आदर्श को दोनों हाथों मे लिये सन्देहचित्त भावी संन्यासी विवेकानन्द खड़े थे। एक ओर सीताराम के प्रति गम्भीर भक्ति थी और दूसरी ओर थी विवाह के प्रति तीव्र विरक्ति ! बालक का नन्हा हृदय

आकुल हो उठा। नहीं, विवाहित जीवन कितना ही उन्नत, कितना ही पवित्र क्यों न हो, वह मेरा आदर्श नहीं है! छत पर से मूर्ति नीचे फेंक दी गयी। वह गिरकर चूर-चूर हो गयी। विजयी वीर की तरह गर्व के साथ पग रखते हुए नरेन्द्र छत से नीचे उतरे।

हिन्दू घरों में अरसे से माने जानेवाले देशाचार और लोकाचार के छोटे-मोटे नियमों को नरेन्द्र बचपन से ही नही मानते थे। इसके लिए कभी माँ के झुँझला उठने पर तुरन्त वे इन नियमों का कारण पूछ बैठते। "भात की थाली छूकर बदन पर हाथ लगाने से क्या होता है?" "बाये हाथ से जलपात्र उठाकर जल पीने से हाथ क्यों धोना पड़ता है? हाथ मे तो झूठा लगा नही?"––आदि-आदि प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देने मे माँ कभी कभी चुप हो जाती। सन्तोषजनक उत्तर न पाने पर नरेन्द्र के उस प्रकार के अनाचार की मात्रा दुगुनी हो जाती।

विश्वनाथ बाबू के एक पेशावरी मुसलमान मुवक्किल थे। वे नरेन्द्र के प्रति विशेष स्नेह रखते थे। उनके आने का समाचार पाते ही नरेन्द्र उनके पास आ जाते और उनकी गोद मे बैठकर पंजाब और अफगानिस्तान की हाथी एव ऊँट की सवारी की अपूर्व भ्रमणकहानियाँ एकाग्र चित्त से सुनते। कभी-कभी तो बालक नरेन्द्र उन देशों मे भ्रमण करने के लिए उनके साथ जाने का अनुरोध भी करने लगते। तब वे मुसलमान सज्जन हँसते हुए कहते, "तुम और दो उँगली बड़े हो जाओ, फिर मै तुम्हें जरूर ले जाऊँगा।" आग्रह की अधिकता से बालक कभी-कभी दूसरे ही दिन कह बैठता, "आज रात-भर मे मै दो उँगली बढ़ गया हूँ; अब आप मुझे ले चलिये।" इस प्रकार नरेन्द्र उनसे

इतने अनुरक्त हो गये कि उनके हाथ से सन्देश (मिठाई), फल आदि खाने-पीने की चीजें ग्रहण करने में वे जरा भी सोच-विचार न करते। पर इस बात को लेकर उनके परिवारवालों ने एक बड़ा भारी आन्दोलन खड़ा कर दिया। विश्वनाथ बाबू कट्टरपन्थी हिन्दू नहीं थे। सभी जाति के लोग उनकी दृष्टि में एक-सी प्रीति तथा श्रद्धा के पात्र थे। अतः पुत्र के ये 'मनमाने आचार' उनकी दृष्टि मे दण्डनीय न थे। वे तो हँसते हुए उनकी उपेक्षा कर देते।

अनेक जातियों के मुवक्किल मुकदमे के सिलसिले मे विश्वनाथ बाबू के घर आते थे। अतः उस समय के रीतिरिवाज के अनुसार बैठक घर के एक कोने मे चाँदीजडाऊ के कई हुक्के भी सजे रखे रहते थे। इन मुसलमान सज्जन के हाथ का सन्देश खाने के कारण नरेन्द्र को अपने घरवालों से बुरी तरह उपालम्भ सुनना पड़ा था। उसी दिन से जाति-भेद उनके सामने एक विशेष समस्या का विषय हो गया। कोई व्यक्ति दूसरे किसी के हाथ का क्यों नही खाता ? यदि कोई किसी दूसरी जात बिरादरी के हाथ का खा ले, तो उसका क्या होगा ? क्या उसके सिर पर घर की छत टूट पड़ेगी ? क्या वह मर जायगा ? इस प्रकार के विचारों में मग्न नरेन्द्र बैठकघर मे आये। वहाँ पर किसी अन्य व्यक्ति को न देखकर वे साहस के साथ एक एक करके वहाँ रखे हुए सारे हुक्कों को अपने होठ से लगाने लगे। पर उससे उन्होंने देखा कि उनका कोई परिवर्तन तो हुआ नहीं। वे जैसे पहले थे, वैसे ही अब भी है। उसी समय विश्वनाथ बाबू एकाएक वहाँ आये और पुत्र को उस स्थिति में देखकर पूछा, "क्यों, यह क्या कर रहा है, बिले ?" नरेन्द्र ने तुरन्त उत्तर

दिया, "मै इस बात की परीक्षा कर रहा था कि अगर जातिभेद न मानूं, तो मेरा क्या होगा।" विश्वनाथ बाबू ने हँसते हुए वात्सल्यपूर्ण दृष्टि से पुत्र की ओर देखा और वे अपने पठनकक्ष में चले गये ।

नरेन्द्र ने सीताराम की मूर्ति को तोड़कर दूसरे ही दिन उसके स्थान पर एक शिवमूर्ति की स्थापना कर दी। माता का अनुकरण कर वे प्रतिदिन शिवपूजा करते थे। कभी पद्मासन में बैठकर ध्यान लगाते, तो कभी अपने साथियों को बुलाकर सब मिलकर शिवमूर्ति के चारों ओर घिरकर ध्यानस्थ होकर बैठे रहते। यह खेल उन्हें बहुत भाता था। इस प्रकार ध्यान मे बैठे बालक नरेन्द्र क्या सोचते थे, वे ही जाने। बड़े होने पर एक दिन बात-बात मे उन्होंने कहा था कि उन दिनो एक दिन ध्यान लगाते समय उन्हे अपनी माता की बात याद आ गयी। दुःखी होकर वे सोचने लगे, "सचमुच क्या मै दुष्ट हूँ, इसीलिए शिव ने मुझे अपने पास से हटा दिया है?" ऐसा सोचते हुए नरेन्द्र उदास चित्त से माता के पास आकर बोले, "माँ, अगर मै साधु हो जाऊँ, तो क्या शिवजी मुझे अपने पास लौट आने देगे?" माता ने उन्हे शान्त करते हुए कहा, "हाँ, क्यो नही?" पर यह बात अनजान मे कह जाने के बाद ही एकाएक किसी अनिर्दिष्ट भय से माता का हृदय काँप उठा। अपने दादा की तरह यदि नरेन्द्र भी कही ससार छोड़कर चला गया तो! माता भुवनेश्वरी को अपने मन की बात गुप्त रखने का अभ्यास था। दृढहृदय माता ने शिवजी का स्मरण कर क्षणिक स्नेह की दुर्बलता को हृदय से दूर हटा दिया। सोचा, भगवान् की जो इच्छा होगी वही तो होगा, मै उसमे बाधा देनेवाली कौन हूँ?

एक दिन, सन्ध्या के कुछ ही पूर्व नरेन्द्र अपने साथियों के साथ खेले के कमरे मे उपस्थित हुए। उनकी देखादेखी सभी लड़के शरीर पर भस्म लगाकर ध्यान मे वैठे। इसी वीच एक वालक ने ऑखे खोलकर देखा, तो सामने एक वड़ा भारी सॉप! डरकर वह लड़का 'सॉप, सॉप' चिल्ला उठा। सभी लड़के हड़वड़ाकर कमरे से वाहर निकल गये। नरेन्द्र वाह्यज्ञानशून्य थे—उनके कान मे चीत्कार, कोलाहल, कुछ भी न पहुँचा। लडको ने जल्दी से उतरकर सव को यह समाचार सुनाया। नरेन्द्र के माता-पिता तथा अन्य सभी लोग दौड़कर छत पर आये। उस समय आकाश में चन्द्रमा निकल चुका था।

कोमल चन्द्र-किरणो की छटा से नरेन्द्रनाथ का किशोर मुन्दर मुखमण्डल एक स्वर्गीय आभा से शोभायमान प्रतीत होता था। देह स्पन्दनहीन थी; कुमार-योगी पद्मासन पर ध्यानमग्न थे और सामने विपधर सर्प भीपण फन फैलाकर मन्त्रमुग्ध की तरह निश्चल पड़ा हुआ था। इस मधुर एवं भयंकर दृश्य के सम्मुख उपस्थित दर्शकगण भी भयविह्वल हो किंकर्तव्यविमूढ से खड़े रहे। थोड़ी देर वाद सॉप अपना फन समेटकर चला गया और ढूंढने पर भी फिर देखने मे न आया। ध्यान से उतरने पर ऑखे खोलकर नरेन्द्र ने घरवालो को जव उस दशा मे देखा तो कुछ विस्मित-से हुए। सॉप की वात सुनकर उन्होने आश्चर्यचकित होकर कहा, "मै सॉप की वात कुछ भी नही जानता, मै तो एक अपूर्व आनन्द का उपभोग कर रहा था!"

यह घटना निस्सन्देह अद्भुत है। सर्वदा चंचल, क्रीड़ाप्रिय नरेन्द्रनाथ ध्यान मे वैठकर ऑखे वन्द करते ही वाह्यजगत् को भूल जाते थे। सुनना तो दूर रहा, कई वार शरीर पर हाथ

लगाने पर भी उन्हें मालूम न होता था। एक संयतमना योगी की अनेक वर्षो की साधना का फल इस बालक को कैसे मिला ?——इस प्रकार का प्रश्न मन मे उठना स्वाभाविक है।

स्मरणातीत शैशवकाल से ही नरेन्द्रनाथ दोनों आँखे बन्द करते ही दोनो भौहो के बीच मे एक गोलाकार दिव्य ज्योति.पिण्ड का दर्शन करते थे। सोते समय आँखे बन्द करते ही वह ज्योति गोलक उनकी भौहो के बीच प्रकट हो जाता और धीरे धीरे विस्तृत होकर उनकी समस्त देह मे फैल जाता। चिन्मय ज्योति:समुद्र मे उनका 'मै'-पन डूब जाता और वे निद्रामग्न हो जाते। इस प्रकार की घटना प्रतिदिन ही हुआ करती थी, इसीलिए उनके असाधारणत्व के सम्बन्ध मे उनके मन में कभी कोई प्रश्न नही उठा। दस वर्ष की अवस्था तक भी उनका यह विश्वास था कि शायद सोने के पूर्व सभी को ऐसा होता है। इस अद्भुत ज्योति.पिण्ड की सहायता से उनका मन अपने आप ही एकाग्र हो जाता था। इसीलिए उन्हे ध्यानस्थ होने के लिए मन के साथ, वासनाओं के साथ कभी सग्राम करने की प्रबल चेष्टा नही करनी पडी।

बचपन से ही नरेन्द्र साधु सन्यासी देखकर आनन्दित होते थे। उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने मे नरेन्द्र सदा से मुक्तहस्त थे। कभी कभी तो वे अपने पहने हुए सारे वस्त्र तक दान मे दे डालते। घर की नित्य आवश्यक चीजे दान कर देने के कारण कभी कभी उन्हे अच्छी डॉट खानी पडती, पर अवसर आने पर वे पुन: भूल जाते। कभी कभी पहने हुए वस्त्र को फाड़कर कौपीन पहनकर सुन्दर नरेन्द्रनाथ 'शिव' 'शिव' कहते हुए ताली बजाकर आँगन मे नाचने लगते। उस अद्भुत नृत्य को, उस प्रफुल्ल

सुन्दर मुखमण्डल, विभूति-भूषित वाल-संन्यासी को अतृप्त नेत्रों से देखती हुई स्नेहमुग्ध जननी ताड़न-शासन करने की वात ही भूल जाती।

वचपन से ही लगातार रामायण और महाभारत सुनते-सुनते उन ग्रन्थों का वहुतसा भाग उन्हें कण्ठस्थ हो गया था। वे समय-समय पर अपने सुमधुर कण्ठस्वर से उन्हें सुनाकर श्रोताओं को मुग्ध कर देते थे। कभी कभी वे भिक्षुक-गायकों से सीखे हुए राधाकृष्ण या सीताराम के लीला सम्वन्धी गीतों अथवा गीतांशों को अपने सुमधुर कण्ठ से गाकर घरवालों को तथा अपने पिता के मित्रों को आनन्द प्रदान करते। सदानन्दी नरेन्द्र सभी के प्रिय पात्र थे। लाड़ प्यार से पले हुए नरेन्द्र के स्वेच्छाचारी तथा स्वाधीनता-प्रिय होने पर भी उनके किशोर-चरित्र में अपने माता-पिता के नाना प्रकार के सद्गुणों का समावेश हो गया था। पग-पग पर नीतिशास्त्र के कठिन नियन्त्रण द्वारा वाधा प्राप्त न होने के कारण उनका चरित्र अप्रत्यक्ष रूप से अपनी स्वाभाविक मधुरता के साथ स्वतः ही विकसित हो रहा था।

श्रीरामचन्द्रजी के कार्य मे अपने जीवन को अर्पित कर देनेवाले वीरभक्त हनुमान के अलौकिक कार्यों की कथाएँ सुनना उन्हें वहुत ही अच्छा लगता था। माता से उन्होंने सुना कि हनुमानजी अमर हैं, वे अभी भी जीवित हैं। तव से उन्हें देखने के लिए नरेन्द्र के प्राण छटपटाने लगे। एक दिन नरेन्द्र कथा सुनने गये। कथाकार पण्डितजी नाना प्रकार की आलंकारिक भाषा मे हास्य-रस मिलाकर हनुमानजी के चरित्र का वर्णन कर रहे थे। इसी समय नरेन्द्र धीरे धीरे उनके पास जा पहुँचे। वालक ने उनसे पूछा, "पण्डितजी, आपने जो कहा कि हनुमानजी केला खाना

पसन्द करते हैं और केले के बगीचे में ही रहते हैं, तो क्या मै वहाँ जाकर उनके दर्शन पा सकूँगा ?" बालक ने किस गम्भीर विश्वास, किस परिपूर्ण आन्तरिकता के साथ वह प्रश्न पूछा, इसे समझने का अवसर या सामर्थ्य कथाकार पण्डितजी में न था। उन्होंने हँसते हुए कह दिया, "हाँ बेटा, केले के बगीचे में ढूँढने पर तुम उन्हें पा सकते हो।"

नरेन्द्र फिर घर न लौटे। सचमुच वे मकान के पासवाले एक बगीचे मे जाकर केले के पेड़ के नीचे बैठ गये और हनुमानजी की प्रतीक्षा करने लगे। काफी समय बीत गया, पर हनुमानजी न आये। अन्त मे लाचार होकर अधिक रात बीतने पर निराश हो वे घर लौटे। अभिमान के साथ माता को सारी घटना सुनाकर उन्होंने इसका कारण पूछा। बालक के विश्वास के मूल पर आघात करना बुद्धिमती माता ने उचित न समझा। उनके विषण्ण मुखमण्डल को चूमकर कहा, "तुम दुःख न करो, सम्भव है आज हनुमानजी श्रीरामजी के काम से कही दूसरी जगह गये हों, किसी और दिन मिलेगे।" आशामुग्ध बालक का चित्त शान्त हुआ, उनके मुँह पर फिर से हँसी की रेखा आ गयी। इसके बाद बालक ने फिर कभी इस प्रकार हनुमानजी के दर्शन के लिए चेष्टा की या नही यह तो हमे ज्ञात नही, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि हनुमानजी के प्रति गम्भीर श्रद्धा का भाव उनके मन से कभी लुप्त नही हुआ। उत्तरकाल मे स्वामी विवेकानन्द ब्रह्मचर्य-ग्रहण के अभिलाषी प्रत्येक युवक को महावीर के चरित्र को आदर्श बनाने के लिए कहा करते थे। दूसरो के लिए आत्मत्याग को अपना जीवन-व्रत बनानेवाले शिष्यो से दास्यभक्ति की जीती जागती मूर्ति श्रीहनुमानजी की बात कहते

कहते उनका मुखमण्डल भावावेश से लाल हो उठता था। सिंह की तरह गरजते हुए वे बोल उठते, "चला दे भला देश-भर में महावीर हनुमानजी की पूजा ! इस दुर्बल हिन्दू-जाति के सामने इसी महावीर्य के आदर्श को रख। शरीर में शक्ति नही, हृदय मे साहस नही, क्या होगा मांस के इन लोंदों से ? मै चाहता हूँ, घर घर में महावीर की पूजा हो।" एक समय उन्होंने बेलुड़-मठ मे श्रीहनुमानजी की प्रस्तर-मूर्ति की स्थापना का विचार भी किया था, परन्तु इसे वे पूरा नही कर सके।

इधर पाँचवाँ वर्ष पूरा हो जाने के बाद ही नियमानुसार नरेन्द्रनाथ का विद्यारम्भ हो गया। नरेन्द्रनाथ के गृहशिक्षक 'गुरुमहोदय' अपने इस छात्र को लेकर बड़े ही परेशान थे। मार-पीटकर सिखाने की जिस सनातन नीति का प्रयोग वे अपने दूसरे छात्रों पर बेरोक-टोक करते आये थे, उससे इन पर कुछ भी परिणाम न हुआ। गुरुमहोदय के गुस्से मे आते ही नरेन्द्रनाथ अड़ जाते थे। लाचार होकर गुरुजी को अपनी पुरानी प्रथा छोड़कर इस छोटे से छात्र को मीठी बातों से सन्तुष्ट करना पड़ता था। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा समाप्त होने पर नरेन्द्र मेट्रोपोलिटन इन्स्टिटच्यूशन मे भेज दिये गये। समवयस्क सह-पाठियो का साथ पाकर नरेन्द्र के आनन्द की सीमा न रही। नये साथियो को लेकर नरेन्द्र के नेतृत्व मे शीघ्र ही एक छोटासा दल सगठित हो गया। प्रातःकाल तथा तीसरे प्रहर खेलनेवाले बालकों के कोलाहल से दत्त-भवन का सुविशाल आँगन गूंज उठता था।

परन्तु इधर स्कूल मे जाकर पहले पहल नरेन्द्रनाथ बड़ी ही कठिनाई मे पड़े। पग पग पर उनकी स्वाधीनता सकुचित होने

लगी। वे एक ही तरह से बहुत देर तक बैठे नही रह सकते थे। कभी खड़े होते, कभी बैठते और कभी विना कारण ही कमरे से दौड़कर बाहर चले जाते। कभी कभी तो जब करने को कुछ न रहता, तब अपने शरीर पर का वस्त्र या पुस्तक ही फाड़ डालते। उनके माता-पिता की तरह शिक्षकगण भी समय समय पर तंग आ जाते और यह जानकर कि नरेन्द्रनाथ शासन की कठोर वाणी से नियन्त्रित होनेवाला लड़का नही है, वे उन्हें मीठी बोली से शान्त करते। चचल प्रकृति का बालक होने पर भी नरेन्द्र के चरित्र मे बचपन से ही साधारण बालकों की अपेक्षा कुछ अधिक वैशिष्टच देखने मे आता था। खेलते समय साधारण बातो को लेकर जब कोई झगड़ने लगता, तो वे वहुत असन्तुष्ट होते और स्वयं अग्रसर होकर फैसला कर दिया करते थे। यदि उनका उपदेश न मानकर लड़के आपस में मार-पीट करने पर उतारू होते, तो वे निर्भीक भाव से उनके बीच में खड़े होकर उन्हे रोक देते थे। शारीरिक शक्ति में नरेन्द्रनाथ किसी से कम न थे, बल्कि उनका असीम साहस देख कई लोग चकित हो जाते थे। घूँसाघूँसी में निपुण होने के कारण अनेक दुष्ट लड़के उनसे बड़े भयभीत रहते थे। न्यायी, उदार, क्षमावान्, शक्तिमान् एव प्रतिभाशाली नरेन्द्रनाथ को उनके सहपाठियों नें स्वयं ही नेतृत्व-पद दे दिया था।

बचपन से ही भय किसे कहते है, यह नरेन्द्रनाथ नही जानते थे। जब उनकी उम्र केवल छ· वर्ष की थी, उस समय वे एक दिन अपने साथियों के साथ 'चड़क' का मेला देखने गये। मिट्टी की बनी महादेव की कुछ मूर्तियाँ खरीदकर वे लौट रहे थे कि इसी बीच एक छोटासा लड़का दल से अलग होकर फुटपाथ से

रास्ते मे चला गया। ठीक उसी समय सामने से एक गाड़ी आती देख वह बालक घबड़ा गया। पथिकगण भयंकर विपत्ति की आशका से चीत्कार कर उठे। शोरगुल सुनकर पीछे की ओर देखते ही नरेन्द्र ने सारी परिस्थिति ताड़ ली। एक क्षण का भी विलम्ब न करते हुए वे महादेव की मूर्ति को किनारे फेककर तेजी से लपके और लगभग घोड़े के पैर के नीचे से उस बालक को घसीटकर बाहर निकाल लाये। इसमे सन्देह नही कि यदि और एक सेकण्ड का विलम्ब हुआ होता, तो उस बालक की हड्डियाँ चूर चूर हो जाती। छोटे से बालक के इस निर्भीक कार्य को देखकर सभी लोग मुक्त कण्ठ से प्रशसा करने लगे। कोई कोई तो भाव की अधिकता से उनके मस्तक पर हाथ फेरते हुए आनन्दविभोर हो गद्गद कण्ठ से उन्हें आशीर्वाद देने लगे। सारी घटना सुनकर माता अचल से अपने आनन्दाश्रु पोंछती हुई नरेन्द्र को गोद मे उठाकर रुद्ध कण्ठ से बोली, "बेटा, इसी भाँति सदैव मनुष्य की तरह काम करना।" सन्तान को किस तरह मनुष्य बनाना होता है यह वे जानती थी। इस श्रेष्ठ माता के अपने हाथ से गढ़े हुए नरेन्द्र, महेन्द्र और भूपेन्द्र नामक तीनों पुत्रों की महिमा और उज्ज्वल कीर्ति बगाल के इतिहास का एक गौरवमय पृष्ठ है। एक दिन बाल्यकाल के बारे मे किसी शिष्य से बातें करते हुए स्वामीजी ने कहा था, "बचपन से ही मै एक जिद्दी शैतान था। नही तो क्या खाली हाथ सारी दुनिया घूम आ सकता था ?"

जो लड़के हौआ, भूत आदि का नाम सुनते ही भयभीत न होकर उलटे भूत को देखना चाहते है, नरेन्द्र उसी श्रेणी के बालक थे। डराकर उन्हे किसी काम से रोकना असम्भव था।

नरेन्द्र के एक पड़ोसी साथी के घर मे चम्पक फूल का एक पेड़ था। उस पेड़ की शाखा मे पैर की गोंफ डालकर सिर और हाथ नीचे लटका कर झूलना नरेन्द्र का एक प्रिय खेल था। घर के बूढ़े मालिक एक दिन नरेन्द्र को ऊँची टहनी पर उस प्रकार झूलते देखकर भयभीत हो गये। इधर नरेन्द्र के उत्पात से टहनी के टूटने की भी काफी आशंका थी। वे नरेन्द्र के स्वभाव से परिचित थे। जानते थे कि धमकाने से उलटा फल होगा। अत: मीठी बोली मे बोले, "बेटा, उस पेड़ पर न चढ़।" नरेन्द्र ने पूछा, "क्यो ? इस पेड़ पर चढने से क्या होता है ?" वृद्ध ने कहा, "इस पेड पर ब्रह्मराक्षस रहता है।" यह कहकर वृद्ध ने ब्रह्मदैत्य की विकट आकृति का वर्णन किया और साथ ही दो-चार उदाहरण देकर यह भी समझाया कि ब्रह्मराक्षस अपने आश्रित वृक्ष का अपमान सहन नही करेगे। नरेन्द्र को चुप देख-कर वृद्ध ने सोचा कि उनका मतलब बन गया। वहाँ से वृद्ध के जाते ही नरेन्द्र फिर पेड़ की टहनी पर चढ़ बैठे। मन ही मन सोचने लगे, "ब्रह्मराक्षस महोदय को एक बार देखूँ तो !" नरेन्द्र का साथी काफी भयभीत हो गया था। कातर-कण्ठ से उसने कहा, "नही भाई, ब्रह्मराक्षस की बात कौन जाने ? न मालूम कब किधर से आकर गर्दन मरोड़ दे।" नरेन्द्र ने हँसते हुए कहा, "तू भी निपट मूर्ख ठहरा ! तेरे दादा डराने के लिए झूठमूठ बात बना गये। अगर सचमुच इस पेड पर ब्रह्मराक्षस रहता, तो उसने मेरी गर्दन कब की मरोड़ दी होती !"

दूसरो से सुनकर जिस किसी भी बात पर विश्वास कर लेना नरेन्द्र के स्वभाव के विरुद्ध था। बचपन से ही बिना प्रत्यक्ष प्रमाण के किसी बात पर विश्वास कर लेना वे नही जानते थे।

युवावस्था में इसी भाव की प्रेरणा से नरेन्द्रनाथ पुस्तक मे लिखे दार्शनिक तत्त्व की आलोचना से तृप्त न होकर सत्य की प्राप्ति के लिए साधना मे प्रवृत्त हुए थे।

चौदह वर्ष की उम्र मे नरेन्द्रनाथ के पेट मे रोग हुआ। लगातार कई दिनों तक रुग्ण रहने के कारण उनका शरीर अस्थि-चर्म मात्र रह गया। उस समय विश्वनाथ अपने काम के सिल-सिले मे मध्यप्रदेश के अन्तर्गत रायपुर मे रहते थे। हवा वदलने से स्वास्थ्य मे उन्नति की आशा से उन्होंने अपने परिवार को रायपुर में वुला लिया। १८७७ ई० मे नरेन्द्र रायपुर अपने पिता के पास पहुँच गये।

उस समय मध्यप्रदेश में सभी जगह रेल-मार्ग नही था। इलाहाबाद एवं जवलपुर होकर नागपुर तक रेल से जाना होता था। नागपुर से रायपुर जाने मे लगभग पन्द्रह दिन तक वैल-गाड़ी से यात्रा करनी पड़ती थी। सुदीर्घ पथ घूमकर आधे भारतवर्ष का चक्कर लगाने के फलस्वरूप भारतमाता के वैचित्र्य-वहुल रूप ने नरेन्द्रनाथ के तरुण मन पर जादू सा प्रभाव डाला। आज न जाने किसने विश्वप्रकृति के अनन्त रूप के भण्डार को उनके सामने स्तर स्तर पर सजाकर रख दिया। किशोर कविहृदय के प्रथम आवेग मे सुन्दरता के प्रति जो आकर्षण उत्पन्न हुआ था, वह अनन्त के आनन्द की असीम तृप्ति मे डूब गया। इस स्वर्गीय अनुभूति की वात नरेन्द्रनाथ कभी न भूले। उनके गुरुभाई पूजनीय स्वामी सारदानन्दजी ने इस सम्बन्ध मे उनसे जैसा सुना था, वह उन्होंने 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसग'* में इस प्रकार लिपिवद्ध किया है--

* श्रीरामकृष्णदेव का विस्तृत जीवन-चरित्र।

"'वे कहा करते थे, 'वन के बीच से जाते हुए उस समय मैंने जो कुछ देखा या अनुभव किया, वह स्मृतिपटल पर सदैव के लिए दृढ रूप से अंकित हो गया है। विशेष रूप से एक दिन की बात उल्लेखनीय है। उस दिन हम उन्नतशिखर विन्ध्य पर्वत के निम्न भाग की राह से होकर जा रहे थे। मार्ग के दोनों ओर बीहड़ पहाड़ की चोटियाँ आकाश को चूमती हुई खड़ी थी। तरह तरह की वृक्षलताएँ, फल और फूलों के भार से लदी हुई, पर्वत-पृष्ठ को अपूर्व शोभा प्रदान कर रही थी। अपने मधुर कलरव से समस्त दिशाओ को गुँजाते हुए रग बिरगे पक्षी कुज कुज मे घूम रहे थे, या फिर कभी कभी आहार की खोज मे भूमि पर उतर रहे थे। इन दृश्यो को देखते हुए मै मन मे अपूर्व शान्ति अनुभव कर रहा था। धीर मन्थर गति से चलती हुई बैलगाडियाँ एक ऐसे स्थान पर आ पहुँची, जहाँ पहाड़ की दो चोटियाँ मानो प्रेमवश आकृष्ट हो आपस मे स्पर्श कर रही हैं। उस समय उन शृगों का विशेष रूप से निरीक्षण करते हुए मैंने देखा कि पास वाले एक पहाड़ मे नीचे से लेकर चोटी तक एक बड़ा भारी सुराख है और उस रिक्त स्थान को पूर्ण कर मधुमक्खियों के युग-युगान्तर के परिश्रम के प्रमाणस्वरूप एक प्रकाण्ड मधुचक्र लटक रहा है। उस समय विस्मय में मग्न होकर उस मक्षिका-राज्य के आदि एवं अन्त की वात सोचते सोचते मन तीनों जगत् के नियन्ता ईश्वर की अनन्त उपलब्धि में इस प्रकार डूब गया कि थोडी देर के लिए मेरा सम्पूर्ण वाह्यज्ञान लुप्त हो गया। कितनी देर इस भाव मे लीन होकर बैलगाडी में पडा रहा, याद नही। जब पुनः होश मे आया, तो देखा कि उस स्थान को छोड़ काफी दूर आगे बढ आया हूँ। बैलगाड़ी में मै अकेला ही था,

इसलिए यह बात और कोई न जान सका ।' प्रबल कल्पना की सहायता से ध्यान-राज्य मे विचरण करते हुए पूर्णरूप से तन्मय हो जाने का नरेन्द्रनाथ के जीवन में, सम्भवतः यही पहला मौका था ।"

रायपुर में उस समय स्कूल नही था । अतएव विश्वनाथ स्वयं पुत्र को शिक्षा देने लगे । उन्हें उस समय न मामलामुकदमों में माथापच्ची करनी पडती थी और न अदालतों मे ही दौड़धूप की परेशानी उठानी पड़ती थी । इसलिए उन्हे काफी अवकाश मिलता था । पुत्र की प्रतिभा उनसे छिपी न थी । पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त इतिहास, दर्शन तथा साहित्य सम्बन्धी अनेक पुस्तकें वे पुत्र को पढाने लगे । उनके घर मे प्रतिदिन रायपुर के गुणी, ज्ञानी व्यक्ति आया जाया करते । नरेन्द्र प्रायः अधिकाश समय वहाँ उपस्थित रहकर साहित्य, दर्शन आदि विविध विषयों पर वादविवाद ध्यान से सुना करते थे । कभी कभी विश्वनाथ नरेन्द्र से वादविवाद मे सम्मिलित होने के लिए कहकर उन्हें अपनी राय प्रकट करने का भी निर्देश देते थे । यद्यपि नरेन्द्र उम्र मे बहुत छोटे थे, तो भी बड़े बूढ़े कई बार उनके युक्तिपूर्ण विचारों को सुनकर आनन्दित हो जाते थे । पुत्र की योग्यता देख विश्वनाथ भी आनन्द के साथ हर प्रकार से उन्हे उत्साहित करते थे । एक दिन विश्वनाथ के मित्र जो बग साहित्य के एक नामी लेखक थे, बग साहित्य के सम्बन्ध मे वादविवाद कर रहे थे । नरेन्द्रनाथ भी पिता की अनुमति से उस वादविवाद में बुला लिये गये । उस नामी साहित्यिक ने थोड़े ही समय में समझ लिया कि इस बालक ने अधिकाश प्रसिद्ध लेखकों के ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया है । उन्होंने विस्मय तथा आनन्द के साथ नरेन्द्र से कहा,

"बेटा ! आशा है, एक दिन तुम्हारे द्वारा बंगभाषा गौरवान्वित होगी !" और इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी विवेकानन्द द्वारा लिखित 'वर्तमान भारत,' 'परिव्राजक,' 'भाववार कथा' (चिन्तनीय बातें), 'प्राच्य और पाश्चात्य' आदि ग्रन्थों ने उनकी भविष्यवाणी को सत्य प्रमाणित कर दिया है ।

पुत्र की विकासोन्मुख बुद्धि एवं प्रतिभा को भलीभाँति जानने के कारण विश्वनाथ ने नरेन्द्र की शिक्षा-पद्धति मे थोड़ाबहुत परिवर्तन कर दिया । किताबी विद्या के भार से पुत्र की प्रखर स्मृतिशक्ति को क्लान्त न कर वे उसके साथ अनेकानेक विषयों पर तर्क किया करते और उसे स्वाधीन भाव से अपना मत प्रकट करने का अवसर देते थे । इधर नरेन्द्रनाथ भी पिता के ज्ञान की गम्भीरता से मुग्ध हो जाते । ससार मे सदैव से ही श्रद्धावान् व्यक्ति वांछित वस्तु प्राप्त करते है । विशालहृदय, दयालु विश्वनाथ दूसरों के दु.ख को सहन करने में असमर्थ हो एक ओर अपनी भौतिक सम्पत्ति खुले हाथों दान कर गये और दूसरी ओर इतने कष्ट से उपार्जित अपनी ज्ञानसम्पदा अजस्र धारा मे सुयोग्य पुत्र को अर्पित कर उन्होंने अपने को कृतार्थ समझा । नरेन्द्रनाथ ने दो वर्ष तक पिता के पास रहकर केवल ज्ञानलाभ ही नहीं किया, बल्कि उनके किशोर चरित्र पर पिता की महानता की गम्भीर छाप भी पड़ी । तेजस्विता, दूसरों को दु.खी देखकर विकल होना, विपत्ति में धैर्य को न छोड़ते हुए निर्विकार चित्त से अपना कर्तव्य करते जाना, नरेन्द्र ने अपने पिता से ही सीखा था । शिक्षा के साथ ही नरेन्द्र ने पिता के चरित्र की विशिष्टताओं को भी अपना लिया था । विश्वनाथ मितव्ययी न थे, इसलिए वे धन बटोर न सकते थे । इस समय नरेन्द्र की जो उम्र थी,

उसमे भविष्य की बात उनके मन मे उदित होना सम्भव नहीं था। सम्भव है, किसी आत्मीय या स्वजन के लिखने पर ही नरेन्द्र ने पिता से पूछा था, "पिताजी, आप हमारे लिए क्या छोड़ रहे है ?" यह प्रश्न सुनते ही विश्वनाथ ने दीवार पर लटकते हुए आइने की ओर उँगली से इशारा करते हुए कहा, "जा, आइने मे अपना चेहरा देख, तभी समझेगा कि मैंने तुझे क्या दिया है।" बुद्धिमान किशोर बालक ने बात समझ ली। पुत्रों को शिक्षा देने के लिए, उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए विश्वनाथ कभी उन्हे बुरा नही कहते थे, कभी अपशब्द नही कहते थे। उदाहरणस्वरूप एक और घटना दी जा सकती है। एक दिन बालकोचित चचलता के वशीभूत हो नरेन्द्र ने अपनी माता के प्रति कुछ कटु शब्दों का प्रयोग किया। इसके लिए पुत्र को भर्त्सना देने के बदले, जिस कमरे मे नरेन्द्र अपने सहपाठी तथा मित्रो के साथ वार्तालाप या लिखाई-पढाई करते थे, उस कमरे की दीवाल पर विश्वनाथ ने कोयले से बड़े बड़े अक्षरों में लिख दिया, "नरेन्द्र बाबू ने आज अपनी माता के प्रति इन दुर्वचनों का प्रयोग किया है।" इससे नरेन्द्रनाथ को जो लज्जा और पश्चात्ताप हुआ था, उसका उन्हें आजीवन स्मरण रहा। हमने पहले ही कहा है कि दत्तभवन में अनेक दूर के रिश्तेदारों, आत्मीय एवं अनात्मीय व्यक्तियो ने स्थायी रूप से डेरा डाल रखा था। इनमे ऐसे भी कई व्यक्ति थे, जिनके नियमित नशा-व्यसन का खर्च भी विश्वनाथ को ही देना पड़ता था। निकम्मों और नशाखोरों को इस तरह आश्रय देने के बारे मे नरेन्द्रनाथ ने एक दिन पिता के निकट शिकायत की। विश्वनाथ ने स्नेह से पुत्र को गोद में लेकर गद्‌गद कण्ठ से कहा, "जीवन मे कितने

दुःख है, यह तू अभी क्या समझेगा, बेटा ! बड़ा होने पर देखेगा कि किस गहरे दुःख के पंजे से, जीवन के खोखलेपन की ग्लानि के पंजे से क्षणिक छुटकारा पाने के लिए वे लोग नशा करते है। जब इस बात को जानेगा, तब तेरी भी उन पर दया ही होगी।"

इस तरह की शिक्षा द्वारा नरेन्द्र के हृदय मे पिता के प्रति गम्भीर श्रद्धा उत्पन्न हुई थी। कभी कभी वे अपने मित्रों के पास पिता के गुणो का वर्णन कर गौरव अनुभव करते थे। 'मैं एक महान् व्यक्ति का पुत्र हूँ' इस बात की घोषणा वे बड़े अभिमान के साथ करते थे और इसीलिए एक प्रबल आत्माभिमान उनके प्रत्येक वाक्य तथा आचरण मे स्पष्ट हो उठता था। यदि कोई बालक समझकर उनकी लापरवाही करता, तो वे क्रुद्ध हो जाते थे। उनके औद्धत्य और अहंकार मे ईर्ष्याद्वेष नही था---धनी-निर्धन, ऊँच-नीच सभी श्रेणियो के पड़ोसी उनके लिए एक समान प्रेम तथा सम्मान के पात्र थे। सच बोलना ओर सचाई का व्यवहार करना उनके जीवन का मूलमन्त्र था। वे निडर होकर लोगो के मुँह पर ही निष्कपट भाव से अप्रिय सत्य कह डालते थे। इसलिए कभी-कभी वे दण्ड भी पाते थे, परन्तु फिर भी सत्य को छिपा न सकते थे।

किशोरावस्था मे उनके प्रत्येक कार्य मे उनकी शक्तिमत्ता और बुद्धि का परिचय मिलता था। यदि कोई उनकी युक्तिपूर्ण बातों को बालकोचित धृष्टता समझकर उपेक्षा करता, तो वे क्रोध के मारे आपे से बाहर हो जाते थे। उस समय उन्हें छोटेबड़े का भी ख्याल न रहता था। यहाँ तक कि, अवज्ञा करने पर बालक नरेन्द्र की कठोर समालोचना से उनके पिता के मित्रगण तक छुटकारा न पाते थे। पर उनमे समझदार तथा उम्र मे बड़ों को

अपमानित कर आत्मगौरव प्राप्त करने की हीन बुद्धि न थी। गहरी चोट न पाने तक वे कभी आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अग्रसर न होते थे। उनके इस औद्धत्य के लिए विश्वनाथ उन्हें कभी क्षमा न करते थे, बल्कि उचित दण्ड दे उन्हें भविष्य के लिए सावधान कर देते थे। परन्तु साथ ही पुत्र की इस आत्म-निष्ठा को देखते हुए मन ही मन आनन्दित भी होते थे।

थोडे ही महीनों मे नरेन्द्र को पूर्व स्वास्थ्य प्राप्त हो गया। सोलह वर्ष की उम्र मे उनके दीर्घ और बलिष्ठ शरीर को देखकर कई लोग उनकी उम्र का अनुमान बीस वर्ष का लगाते थे। नियमित रूप से शरीर के अगप्रत्यगों की पुष्टि के लिए वे बचपन से ही कुश्ती का अभ्यास करते थे। तत्कालीन 'हिन्दू मेला' के प्रवर्तक नवगोपाल मित्र ने शिमला मुहल्ले मे कार्नवालिस स्ट्रीट पर एक व्यायामशाला की स्थापना की थी। नरेन्द्रनाथ इस अखाडे मे नियमित रूप से व्यायाम करते थे। यौवन के प्रारम्भ मे बाक्सिग खेल मे सर्वप्रथम होने पर एक बार उन्हें चॉदी की बनी हुई एक तितली इनाम मे मिली थी। उस समय के छात्र-समाज मे क्रिकेट के उत्कृष्ट खिलाडी के रूप मे भी उन्होंने काफी नाम कमाया था।

विश्वनाथ अच्छी रसोई बना सकते थे। नरेन्द्र ने रायपुर मे रहते समय पिता से तरह तरह के स्वादिष्ट भोजन व्यजन बनाना सीखा था। कालेज मे पढते समय वे समय समय पर अपने मित्रों को बुलाकर अपने हाथ से रसोई बनाकर खिलाते थे। नरेन्द्र आजीवन पाकशास्त्र के प्रेमी रहे। विश्वविख्यात स्वामी विवेका-नन्द बनकर भी वे अपनी इस कला को छोड़ न सके। बहुधा तरह तरह की रसोई बनाकर आग्रह के साथ शिष्यों को खिलाते

हुए वे आनन्द का अनुभव करते थे ।

लगभग दो वर्ष के बाद प्रियदर्शन नरेन्द्रनाथ शारीरिक एव मानसिक परिवर्तन प्राप्त कर रायपुर से अपने मित्रों के बीच पुनः लौटे । बहुत दिनों के बाद उन्हें पाकर उन लोगो के आनन्द की सीमा न रही । लगभग दो वर्ष तक अनुपस्थित रहने के कारण प्रवेशिका श्रेणी मे भरती होने मे उन्हे कुछ अडचन हुई । अन्त मे उनके गुणमुग्ध शिक्षकों ने अधिकारियों की विशेष अनुमति प्राप्त कर उन्हे भरती कर लिया । दो वर्ष की पाठ्य-पुस्तकें कठोर परिश्रम से एक ही वर्ष मे समाप्त कर वे प्रवेशिका परीक्षा के लिए तैयार हुए । और जब वे प्रशसा के साथ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए, तब तो उनके मित्र तथा परिवारवालो के आनन्द का पारावार न रहा । स्कूल के अधिकारी भी नरेन्द्र की इस सफलता पर विशेष रूप से प्रसन्न हुए, क्योंकि एकमात्र उन्ही ने प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर स्कूल के गौरव की रक्षा की थी ।

मेट्रोपोलिटिन इन्स्टिटचूशन मे पढते समय नरेन्द्र को यह पता चला कि एक पुराने माननीय शिक्षक काम से अवकाश ग्रहण कर रहे है । अतएव कुछ उत्साही छात्रो को साथ ले नरेन्द्र ने उन्हे विदाई का अभिनन्दन देने की तैयारी की । यह निश्चय हुआ कि आगामी पुरस्कारवितरण की सभा मे वे शिक्षक महोदय का अभिनन्दन करेगे । देशविख्यात सुवक्ता सुरेन्द्रनाथ वनर्जी इस सभा का नेतृत्व कर रहे थे । उनके सामने खड़े होकर कौन भाषण देगा यह सोचकर सभी लड़के सकोच कर रहे थे । अन्त मे सभी के अनुरोध से नरेन्द्रनाथ ही भाषण देने के लिए चुने गये । नरेन्द्र ने सभामंच पर खड़े होकर लगभग आध घण्टे तक अपने स्वाभाविक सुमधुर कण्ठ से सुन्दर अँगरेजी में इन शिक्षक

महोदय के गुणों का वर्णन किया। अन्त में छात्रों के क्षोभ और दु.ख की वात कहकर जव वे वैठे, तो सुरेन्द्रनाथ ने खड़े होकर अपना हार्दिक सन्तोष प्रकट करते हुए नरेन्द्र के भाषण की वड़ी प्रशंसा की। सोलह या सत्रह वर्ष के किशोर वालक के लिए सुविख्यात वक्ता सुरेन्द्रनाथ के सामने खड़े होकर भाषण देना असाधारण दृढ़ता एव आत्मनिर्भरता का ही काम था।

जिन महामानवो ने युग युग मे जन्म लेकर मानवजाति की विचारधारा में अभूतपूर्व परिवर्तन किया है, जिन्होंने देश और समाज के कल्याण की कामना से अमित शक्ति से अथक परिश्रम किया है, उनमे से प्रत्येक को वचपन से ही अपने असाधारणत्व का थोड़ावहुत अनुभव हुआ है। नरेन्द्रनाथ के भी मन में इसी प्रकार के विचार समय समय पर अवश्य उत्पन्न होते थे। चारों ओर की परिस्थिति तथा अन्य वालकों की तुलना मे कई वार वे अपने को एक विशिष्ट व्यक्ति के रूप मे अनुभव करते थे। इसीलिए उनकी उस समय की आत्मनिष्ठा और दृढ़ता साधारण व्यक्ति की दृष्टि मे अहंकार सी लगती थी। और यदि उसे अहकार भी मान लिया जाय, तो भी वह दूसरों को पीड़ा-दायक न था, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो वे अपने सहपाठी और पड़ोस के वच्चेवूढ़े, स्त्रीपुरुषो का हृदय अपनी ओर कभी आकर्षित न कर सकते।

नरेन्द्रनाथ के चरित्र मे जो कुछ भी महान् और सुन्दर था, वह सव उनकी सुशिक्षित तथा उच्च विचारशील माता की शिक्षा एव प्रयत्नो का ही परिणाम था। सन्तानों के चरित्र में किसी प्रकार की हीनता न आने पाये, इस विषय में वे सदा सतर्क रहती थी। मातृभक्त नरेन्द्र कभी माता की आज्ञा का उल्लंघन

न करते थे। सन्तान की यशोवृद्धि की कामना भला कौन माता न करेगी? परन्तु उस यशोवृद्धि का उपाय बहुधा सभी माताएँ नही जानती। आजकल की माताएँ जब पारिवारिक कलह मे लिप्त होकर अज्ञानवश अपने दुधमुँहे बच्चो के हृदय मे ईर्ष्याद्वेष का विष फैलाती है, तब वे यह नही सोच पातीं कि जिस बालक के सम्बन्ध मे ज्योतिषियों ने 'असाधारण लक्षण' बताये है, वह भी भविष्य में केवल दूसरों की उन्नति को देख जलनेवाला, सकीर्ण हृदय तथा निम्न प्रवृत्ति का भोगविलासप्रिय 'बाबू' ही बनेगा। हमारे देश के माता-पिता सन्तान की आकांक्षा तो रखते है, परन्तु यह नही जानते और न सीखते या सोचते ही है कि उन्हे 'मनुष्य' कैसे बनाया जाय। लकीर के फकीर की तरह दिन मे तीन बार भोजन कराकर संसार में दूसरो की जूठन में से दो दाने चुनकर खाने के लिए अपने बच्चों को छोड़ देते हैं; परिणामतः देश में लोकसख्या की तो अवश्य वृद्धि हो रही है, परन्तु 'मनुष्यों' की सख्या धीरे धीरे घटती जा रही है।

माता भुवनेश्वरी सिहनी थी। तभी तो उन्होंने नरेन्द्रनाथ की तरह पुरुषसिह को जन्म दिया था। नारी की कोमलता के पीछे उनके चरित्र मे एक ऐसी दृढ़ता थी, जो अन्याय, असत्य तथा असद्विचार के विरुद्ध सदा दर्प के साथ सिर ऊँचा कर खडी हो जाती थी। अतीत काल की राजपूत रमणियो की तरह वे जिस प्रकार अपने पुत्रो को उच्च व्रत ग्रहण करने के लिए उत्साहित और प्रेरित करती थी, सम्भव है, आज भी बगदेश उसे न भूला होगा। स्वामी विवेकानन्द के देहत्याग के बाद भी ये महिमा-मयी माता नौ वर्ष तक जीवित रही। उन्होंने अपने प्यारे पुत्र नरेन्द्रनाथ को विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्द बनते देखा था।

संसार ने विस्मयचकित होकर देखा कि ये तेजस्विनी माता पवित्र गगातट पर अपने पुत्र की चिता के पास खड़ी हो धीर स्थिर भाव से अन्तिम प्रार्थना मे सम्मिलित हुई है । उस समय उनके शोककातर मुखमण्डल पर वेदना का जो चित्र अकित हो उठा था, उसका कारण केवल सन्तान वात्सल्य ही न था; वरन् विवेकानन्द के अधिक दिन जीवित रहने पर अखिल विश्व का जो असीम कल्याण होता, उसी का अभाव उन्हें अधिक सता रहा था । वे विवेकानन्द की माँ है इस गौरव का गर्व उनके संयमशील, गम्भीर एव प्रशान्त मुखमण्डल पर सदैव जागृत रहकर सब की सश्रद्ध दृष्टि को आकर्षित करता था । २५ जनवरी १९११ ई० को इस महिमामयी माता का निधन हुआ ।

माता-पिता की स्नेहमय गोद मे नरेन्द्रनाथ का शैशव और किशोर जीवन हँसी, आनन्द और खेलकूद मे व्यतीत हुआ । उनका वाल्यजीवन यद्यपि अलौकिक अथवा असाधारण नही है, तथापि वैशिष्टचपूर्ण अवश्य है । सोलह वर्ष की उम्र में ही उनमे जिस प्रकार तीक्ष्ण विद्या-वुद्धि, प्रवल आत्मनिष्ठा और ज्ञानप्राप्ति का तीव्र आग्रह देखा गया है, वह वास्तव मे अतुलनीय है । उन्होने पिता से वचपन से ही सगीत की शिक्षा प्राप्त की थी और उस समय भी गानेवजाने मे उनकी दक्षता कम नही थी । यह बुद्धिमान्, तेजस्वी और चपलस्वभाव वालक एक ओर जैसा हास्यप्रिय क्रीडाप्रेमी और हठीला था, वैसा ही दूसरी ओर गम्भीर विचारशील, धर्मपरायण, दयालु और मित्रवत्सल था । उसके चालचलन मे एक ऐसी निष्कपट सरलता प्रकट होती थी, जिससे वह अपने आत्मीय स्वजनों और मित्रो की दृष्टि मे प्रिय से भी प्रियतर हो गया । प्रवेशिका परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर कालेज मे भरती होने

के बाद से ही घटनाओं के घातप्रतिघात से नरेन्द्र के सहज एवं स्वाभाविक जीवन के एक विचित्र तथा जटिल अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

द्वितीय अध्याय

सुधारयुग

(१८००–१८८०)

"सुधारकगण असफल हुए है, इसका क्या कारण है ? यही कि उनमें से केवल कुछ इने गिने लोगो ने ही अपने धर्म का भलीभाँति अध्ययन और चिन्तन किया है, 'समस्त धर्मो के प्रस्रवण' को समझने के लिए जिस साधना की आवश्यकता होती है, उनमे से कोई भी उस साधना मे से होकर नही गया है । ईश्वर की कृपा से मै दावे से कहता हूँ कि मैने इस समस्या को हल कर लिया है ।"

—स्वामी विवेकानन्द

अठारहवीं शताब्दी में भारतवर्ष की दो महान् जातियों के वशधर आदर्शच्युत तथा आत्मविस्मृत हो धर्म, समाज एव राष्ट्र के क्षेत्र मे अध.पतन की चरम सीमा पर पहुँचे थे । विधाता के अचिन्त्य विधान से इस दुर्बलता और जड़ता का दण्ड उन्हे बडे ही भयानक रूप मे प्राप्त हुआ । मुगल साम्राज्य का सुविख्यात मयूर सिहासन डाकुओ ने लूट लिया, नवोत्थित शक्ति के गर्व मे चूर महाराष्ट्र जाति के गौरवपूर्ण अभ्युत्थान का उन्नत सिर इतिहास के कठोर वज्रदण्ड से चूर चूर हो गया; वणिक् अँगरेजों का मापदण्ड (तराजू) एकाएक भारतवासियों के सिर पर राज-दण्ड के रूप मे प्रकट हुआ; सिक्खो का गौरवसूर्य उदयाचल के शिखर पर ही अस्त हो गया । बारहवी शताब्दी के भारतवर्ष मे जिस प्रकार असहाय होकर हिन्दू और बौद्ध एक ही साथ सिर झुकाते हुए इस्लामी राजशक्ति के सामने खड़े हुए थे, अठारहवी

सदी में ठीक उसी तरह हिन्दू और मुसलमान दोनों निरुपाय जातियाँ एक प्रकार से बिना प्रतिवाद के ही अँगरेजों के चरणों में झुक पड़ी। इस अभिनव राजनीतिक परिवर्तन द्वारा, पश्चिमी देशों से आये हुए वणिक्-व्याधों के सुलभ मृगया-क्षेत्र बने हुए भारतवर्ष की दीनता और दुर्बलता का प्रायश्चित्त प्रारम्भ हुआ उन्नीसवी शताब्दी में।

आदर्शच्युत तथा बिखरी हुई हिन्दू-जाति समस्त इस्लामयुग में भी प्राणपण से अपने जातीय स्वातन्त्र्य और वैशिष्ट्य को पर्याप्त मात्रा में ज्यों-का-त्यों बनाये रखकर अपनी आत्मरक्षा कर सकी थी। परन्तु ब्रिटिश युग में एक विपरीत शिक्षा और सभ्यता के सघर्ष मे प्राचीन समाज की पुरानी रक्षणशीलता का कोई भी उपयोग न रहा। इस्लामी शिक्षा एवं सभ्यता के प्रभाव से आत्मरक्षा करने के लिए जो उपाय काम में लाये गये उनका अन्धानुकरण इस नवीन शिक्षा और सभ्यता के प्रभाव को न रोक सका। काल और परिस्थिति के अनुसार आत्मरक्षा तथा आत्म-प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक व्यवस्था करने मे सम्पूर्ण रूप से असमर्थ हिन्दू समाज सदियों के कुसंस्कारों के भार से दबकर लगभग् सभी प्रकार से कमजोर हो चुका था। विजित जाति सहज मे ही विजयी जाति के गुणगौरव से मोहित हो जाती है। कई सदियों की पराधीनता के फलस्वरूप आत्मविस्मृत हिन्दू जाति के सामने पाश्चात्य शिक्षा एव सभ्यता जिस दिन मरुमरी-चिका की सम्मोहिनी शक्ति लेकर रंग-बिरंगे इन्द्रधनुष की तरह अनेकविध वैचित्र्यपूर्ण दृश्यो से उद्भासित हुई, उस दिन भारतीय इतिहास और विशेषकर बंगाली जाति के इतिहास का एक नया अध्याय शुरू हुआ। विशेष रूप से बंगालियों के उल्लेख का

उद्देश्य यही है कि उनके समान अन्य किसी भी प्रान्त के निवासियो ने उतने असंयत भाव से पाश्चात्य सभ्यता के स्रोत मे वह जाने की चेष्टा नहीं की। फलस्वरूप पाश्चात्य आदर्श के साथ प्राच्य के सघर्ष से जिस क्रिया प्रतिक्रिया का प्रारम्भ हुआ, दासों की तरह दूसरों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति ने समाज जीवन में जिस चंचलता की सृष्टि की, वह मुख्यतः वगभूमि मे ही जोर से पनपी। और इस आन्दोलन का केन्द्रस्थल वना--भारत की नवप्रतिष्ठित राजधानी कलकत्ता नगरी।

इस देश पर अँगरेजों का राज्य भलीभाँति स्थापित होते ही ईसाई मिशनरी निश्चिन्त होकर 'हीदनों' (Heathens) को अन्धकार से आलोक में लाने के लिए जी-जान से लग गये। मिशनरियो के दल पर दल इस देश में आने लगे। धर्म का प्रचार करने के लिए पहलेपहल उन्हे बंगला भाषा सीखनी पड़ती थी। धीरे धीरे प्रचारकार्य मे आनेवाले विघ्नों को सोचकर उन्होंने स्थिर किया कि शिक्षा के विस्तार के साथ ही अगर ईसाई धर्म का प्रचार भी प्रारम्भ कर दिया जाय, तो प्रचार का काम अधिक सरलता से चल सकेगा। इस प्रकार वे स्थान स्थान पर विद्यालय खोलने लगे और शिक्षाप्रचार के द्वारा कोमलबुद्धि बालको तथा तरलमति युवको के चित्त पर प्राणपण से ईसाई धर्म की महिमा की मोहर लगाने के लिए प्रवृत्त हुए। फिर भी कुछ ऐसे उदारहृदय मिशनरी अथवा अँगरेज तो अवश्य थे, जो केवल शिक्षाप्रचार के लिए ही शिक्षा दान करने को तैयार हुए थे। उन्हें अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विघ्नबाधाओं के साथ पर्याप्त युद्ध करना पड़ा था। हमारी जाति इतनी अकृतज्ञ नहीं कि उनकी पवित्र स्मृति को आसानी से जाति के इतिहास से मिटा दे।

१८०० ई० में पहलेपहल कलकत्ता नगर मे फोर्ट विलियम कालेज स्थापित हुआ। ठीक उसी वर्ष आधुनिक शिक्षा के अन्यतम जन्मदाता डेविड हेअर बगाल में पधारे। ये मनीषी नास्तिक होने पर भी अनेक सद्‌गुणो से युक्त थे। कुछ दिनों बाद उन्होने अन्य सब काम छोड़कर एकमात्र शिक्षाप्रचार में ही आत्मनियोग किया।

ईसाई मिशनरीगण धीरे धीरे साहस पाकर धर्मविद्वेष का विष उगलने लगे। प्राचीन, पंगु तथा जड़पिण्ड सदृश हिन्दू समाज ने कान खड़े कर सुना कि उनके आचारव्यवहार, रस्मरिवाज सभी निन्दनीय है, भयावह है, पैशाचिकता से पूर्ण है! इसी कारण वे इस लोक मे सर्व प्रकार के सुखभोग से वचित है तथा परलोक में भी अनन्त नरक भोगेगे। जितने उपायों से निन्दा की जा सकती है, मिशनरियो ने एक भी नही छोडा। एक अँगरेज महिला मिशनरी ने हिन्दू धर्म को गाली और अभिशाप देने के लिए योग्य भाषा न पाकर अन्त मे अपने प्राणो की ज्वाला को शान्त करने के लिए काफी छानबीन के बाद लिखा, "Crystallized immorality and Hinduism are same thing"—अर्थात् ठोस घनीभूत दुश्चरित्रता और हिन्दू धर्म एक ही चीज है।

प्राचीन रक्षणशील हिन्दू समाज ने इस नवीन आक्रमण को रोकने के लिए किसी भी प्रकार की चेष्टा नही की। पठानों और मुगलो के समय इस्लाम धर्म के प्रचारको को बाधा देना ब्राह्मणो के लिए राजनीतिक कारण से असाध्य था। सम्भव है, इस समय भी उन्होंने सोचा हो कि ईसाई पादरियो के प्रचार-कार्य का प्रकट रूप से विरोध करने पर ईसाई राजशक्ति के कोप का भाजन होना पड़ेगा। एक और प्रधान कारण था। इस्लाम

या ईसाई धर्म की तरह हिन्दू धर्म प्रचारशील न था। हिन्दू समाज बनावटी जातिभेदप्रथा के कारण छोटी छोटी श्रेणियों मे विभक्त था, इसलिए उसके धर्म, नीति, सदाचार आदि समाज के सभी स्तरों मे एक जैसे न थे, और उनमें आपस में एक दूसरे के प्रति घृणा भी काफी थी। समाज की ऐसी स्थिति मे सब के लिए अपनापन सामाजिक जीवन से लुप्त ही हो गया था। विगत दो तीन सदियो मे बगाल के हजारों परिवार मुसलमान बन जाने पर भी जिस प्रकार हिन्दू समाज विचलित नही हुआ, उसी प्रकार इस समय भी मिशनरियों के आक्रमण से वह व्यग्र न हुआ। लकीर का फकीर हिन्दू समाज कुछ पुरानी प्रथाओं और निषेधो को मानकर चलना, 'बारह महीनो के तेरह त्यौहार' मनाना, तीर्थ-यात्रा और गगास्नान करना, ब्राह्मण वैष्णवो को दान-दक्षिणा देना तथा खानपान और लेनदेन मे कुछ निर्दिष्ट नियमो का पालन करना ही अपना धर्म मानता था। ब्राह्मणो मे इने गिने ही लोग न्यायशास्त्र और स्मृतिशास्त्र की चर्चा करते थे, वेद और वेदान्त की चर्चा तो बगभूमि से प्रायः विलुप्त सी ही हो गयी थी। धर्म की आड़ में धनी या बड़े लोगों का शोषण तथा उनके गुण कीर्तन द्वारा अर्थोपार्जन, मन्त्र देकर शिष्य के धन का अपहरण, देशाचार, लोकाचार और स्त्री-आचार का पालन तथा सामाजिक दलबन्दी आदि मे ही ब्राह्मणगण व्यस्त रहते थे। सर्वसाधारण हिन्दुओ मे ज्ञान विद्या की चर्चा का कोई उत्साह न था। अरबी, फारसी पढ़कर नौकरी कर लेना अथवा घरगृहस्थी का काम चलाने योग्य चिट्ठीपत्री लिख लेना और हिसाब रखना-रखाना ही शिक्षा का चरम आदर्श था। अँगरेज राज्य के प्रारम्भ मे धनी और बाबू बंगालियों का चरित्र कई

तरह से भ्रष्ट हो चुका था। धन रहने पर पत्नी या पत्नियों के सामने ही कई लोग उपपत्नियाँ रखते थे। वे विद्यासुन्दर की कविताओं से तथा आशुकवियो के अश्लील एवं कुरुचिपूर्ण सगीत-मय वाग्युद्ध के अभिनय से तृप्त होते थे। कलकत्ते के बाबू लोग बुलबुल की लड़ाई, पतंगों के पेच तथा चटकीली भडकदार पोशाक पहनकर वेश्याओं के साथ बगीचों में मौज उड़ाने मे ही मस्त रहते थे। ऐसे ही समय एक मेधावी महापुरुष कलकत्ता नगर मे आविर्भूत हुए। ऊँघती हुई बगाली जाति ने एक कठोर आघात द्वारा चेतना पाकर देखा—महामनीषी राजा राममोहन राय (१७७२–१८३३)। राममोहन के धर्म और समाजसुधार के आन्दोलन से कलकत्ता नगरी विक्षुब्ध हो उठी। बगाल में सर्वत्र इन्ही की चर्चा होने लगी। "बाबुओं के बैठकखाने में, भट्टाचार्यों की चौपालों में, गाँवो के चण्डी-मण्डपों में, जहाँ देखिये वहाँ राममोहन की ही चर्चा! अन्त पुर के अन्दर भी इस प्रवाह की लहरे अपना असर करने से खाली न रही।"

राममोहन का जन्म एक धनी तथा अभिजात ब्राह्मण-वंश मे हुआ था। बाल्यकाल में उन्होंने पटना मे अरबी तथा फारसी भाषा सीखी थी और उसी भाषा मे कुरान, यूक्लिड एवं अरस्तू के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उसके बाद काशी जाकर उन्होंने संस्कृत एव वेदान्त का अध्ययन किया। वेदान्त और कुरान का अध्ययन करते समय वे मूर्तिपूजा के विरोधी तथा एकेश्वरवादी बन गये। प्रचलित धर्म की निन्दा कर उन्होंने अरबी भाषा मे एक ग्रन्थ की रचना की, जिसके फलस्वरूप वे अपने पिता तथा स्वजनो से परित्यक्त हो गये। इसके बाद कलकत्ता आकर उन्होंने अँगरेजी, लैटिन एवं हिब्रू भाषा सीखकर

वाइविल आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। अनेक भाषाओं के ज्ञाता तथा विभिन्न धर्मों के तत्त्व को जाननेवाले राममोहन ने ही सर्वप्रथम विभिन्न धममतों की तुलनात्मक समालोचना का सूत्रपात किया।' इससे पूर्व, पाश्चात्य देशों में भी किसी पण्डित ने इस प्रकार युक्तिवाद की सहायता से विभिन्न धर्ममतों की तुलनामूलक समालोचना का प्रयत्न नही किया था। अस्तु—

पिता की मृत्यु के वाद १८०३ ई० में राममोहन पुनः अपने परिवारवालों के साथ सम्मिलित हो गये। १८०५ ई० से १८१५ ई० तक उन्होंने कई स्थानों में कलेक्टर के नीचे कार्य किया। रंगपुर में रहते समय (१८०९–१८१४) ही राममोहन ने वेदान्त-चर्चा का श्रीगणेश किया और वे उपनिषदों के अनुवाद-कार्य में प्रवृत्त हुए। उसके वाद नौकरी छोड़कर १८१४ ई० में कलकत्ता आकर उन्होंने 'आत्मीयसभा' नामक एक समिति की स्थापना की और कुछ प्रेमी सज्जनों के सहयोग से दीर्घ काल से लुप्तप्राय उपनिषदों का प्रचार करना और साथ-ही-साथ मूर्तिपूजा तथा प्रचलित पौराणिक हिन्दू धर्म के विरुद्ध आन्दोलन करना प्रारम्भ किया। केवल हिन्दू धर्म के कुसंस्कारों एवं युक्ति-विरुद्ध मतवादों की ही नही, वरन् ईसाई धर्म और विशेष रूप से मिशनरियों द्वारा प्रचारित मतवादों की भी सारहीनता प्रमाणित कर इस विषय पर वे निवन्ध तथा पुस्तक आदि की रचना कर प्रचार करने लगे। उनके इस प्रचार से सनातनी हिन्दू समाज और मिशनरीगण तग आ गये। १८२१ ई० में विलियम आडाम नामक एक मिशनरी ने राममोहन के पदचिह्नों पर चलते हुए ईसाई मत के त्रित्ववाद को छोड़ एकेश्वरवाद को ग्रहण कर लिया। इस बात से मिशनरी समाज मे भी एक

हलचल मच गयी। मिशनरियों ने देखा कि मूर्तिपूजा अथवा तथाकथित आचारव्यवहार पर हिन्दू धर्म निर्भर नही है, उसका मूल है वेदान्तदर्शन। बस, सब कुछ भूलकर मैर्समेन, केरी आदि श्रीरामपुर के मिशनरीगण वेदान्तदर्शन पर टूट पडे। राममोहन भी तैयार थे। वे धीर स्थिर भाव से उनके युक्तिविरुद्ध मतों का एक एक करके खण्डन करने लगे। यह विख्यात वेदान्तयुद्ध एक ऐतिहासिक घटना है। बगालियो को ईसाई बनाने के लिए मिशनरियों की आप्राण चेष्टा के विरुद्ध राजा राममोहन अकेले खड़े हुए थे। कहना न होगा कि उस समय उनका साथ देना तो दूर रहा, हिन्दू समाज ने उलटे उनका विरोध किया था। एक ओर थे अपने जाति के सदियो से संचित कुसंस्कार और दूसरी ओर थी धर्मान्ध ईसाइयों द्वारा हिन्दुओं के धर्म और दर्शन की गलत व्याख्या। राममोहन को एक ही साथ इन दोनों के विरुद्ध शास्त्र और युक्ति का प्रयोग करना पड़ा।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम भाग में अमित शक्तिशाली राममोहन की विचारधारा और चरित्र ने समाज की अभ्यस्त जड़ता पर बार बार आघात करते हुए एक नये जीवन की चहलपहल पेदा कर दी। धर्म मे, समाज मे और राष्ट्र मे अधः-पतित जाति को हीनता के दलदल से घसीटकर उठा देने के लिए राजा ने सारी प्रतिकूल शक्तियो के विरुद्ध अकेले खड़े होकर जिस असाध्य बात को सम्भव बनाने की चेष्टा की थी, उसकी आज एक शताब्दी के बाद कल्पना करना भी कई कारणों से कठिन है। रवीन्द्रनाथ की भाषा मे कहना होगा, "उन्होने क्या नही किया? शिक्षा, राजनीति, बँगला भाषा, बगसाहित्य, समाज, धर्म जो कुछ भी कहिये, बंगाली समाज के जिस किसी

विभाग मे उत्तरोत्तर जो भी उन्नति हो रही है, वह मानो केवल उन्ही के हस्ताक्षर है, जो नये नये पृष्ठों मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक परिस्फुट हो रहे है।"

उस समय के वंगाली समाज मे राममोहन राय की प्रतिभा और गम्भीर स्वदेशप्रेम को समझ सकनेवाले व्यक्ति वहुत ही थोड़े थे। उन अल्पसंख्यक साथियों को लेकर ही उन्होंने कुसस्कार, निरर्थक सामाजिक प्रथाएँ और प्राणहीन आचार आदि के विरुद्ध निर्भय होकर सग्राम का श्रीगणेश किया था। मूर्तिपूजा या जातिभेदप्रथा के विरुद्ध राजा ने जो आन्दोलन चलाया, उसकी तुलना में सतीप्रथा की निन्दनीय निष्ठुरता के विरुद्ध चलाये हुए उनके आन्दोलन ने सनातनी समाज को अधिक क्षुब्ध किया था। शोकार्ता विधवा को छल, कौशल और बलपूर्वक खुले आम मृत पति के साथ जला डालने को महा पुण्यकार्य मानकर समर्थन करनेवाले लोगों की कमी न थी। प्रथा का यह कैसा भीषण प्रभाव है! साधारणत: जो लोग दयालु एवं न्यायपरायण होते है, वे भी प्रथा के मोह में हिताहितज्ञान से शून्य होकर निर्दय आचरण करने मे ग्लानि नही अनुभव करते। इसीलिए हम देखते है कि रक्षणशील-दल राजा सर राधाकान्त देव के नेतृत्व मे एक 'धर्मसभा' की स्थापना कर 'सतीदाह'-प्रथा का समर्थन करने लगा। यद्यपि वे लोग जानते थे कि कभी कोई विरली ही नारी स्वेच्छा से सती होती है, अधिकांश अवसरो पर तो सम्पत्ति और धन के लोभ से उपवास-क्लिष्ट शोकार्त विधवा को भग, धतूरा आदि खिलाकर उससे सहमरण की सम्मति ले ली जाती है और उसे चिता पर वॉधकर वॉस से दवाकर जला दिया जाता है, तो भी सत्य को छिपाते

हुए वे लोग युक्तिविहीन हठ करने लगे।

जो भी हो, इससे पूर्व अनेक अँगरेज शासकों ने भी इस कुप्रथा को दूर करने के प्रयत्न किये थे, परन्तु राममोहन के दीर्घ बारह वर्ष के आन्दोलन के फलस्वरूप ४ दिसम्बर १८२९ ई. को सतीदाहप्रथा को निषिद्ध ठहरानेवाला एक कानून बन गया। लॉर्ड विलियम बेन्टिन्क ने राममोहन की युक्ति के औचित्य को समझा। राजा राममोहन के परामर्श से गवर्नर जनरल ने गंगा-सागर में सन्तान फेकने की प्रथा को भी कानून द्वारा बन्द करा दिया। प्राचीन समाज विधवाओं को जिन्दा जलाने का अवसर खोकर 'हिन्दू धर्म नष्ट हो गया' कहकर चिल्लाने लगा। हिन्दू जाति के कपाल पर से राममोहन के प्रयत्नों द्वारा कलंक की दो अमिट रेखाएँ मिट गयी। अब सर राधाकान्त का दल विफल होकर राममोहन के मूर्तिपूजा-अस्वीकार और वेदान्त आन्दोलन का प्रतिवाद करने लगा। इस वितण्डावाद में हीन अभिरुचि और ईर्ष्या आदि काफी थी। परन्तु इसका एक अच्छा फल यह हुआ कि विस्मृतप्राय प्राचीन शास्त्रो की चर्चा सर्वसाधारण के बीच होने लगी और प्राचीन पन्थी समाज में भी सुधारवादियों के दल जाग उठे; क्योंकि हम देखते है कि राममोहन के विरोधी सर राधाकान्त ने ही उस समय स्त्री शिक्षा के लिए आन्दोलन खड़ा किया था।

पाश्चात्य प्रणाली से तथा अँगरेजी भाषा की सहायता द्वारा शिक्षा देने के उद्देश्य से विद्यालय आदि की स्थापना के लिए आन्दोलन प्रारम्भ करते हुए राममोहन को उस समय के राज-पुरुषो की सहायता एवं सहानुभूति प्राप्त हुई थी। स्वदेश के भी कई उदारहृदय व्यक्तियों ने राममोहन की यथोचित सहायता की

थी। फलस्वरूप १८१७ ई. मे जब उन्ही की चेष्टा से हिन्दू कालेज की स्थापना हुई, उस समय प्राचीनपन्थीगण राममोहन को उसका सदस्य वनाने के लिए सहमत न हुए। महानुभाव राममोहन ने देश सेवा की दृष्टि से उस अपमान को हँसते हँसते सहन कर लिया। उन्होंने केवल इतना ही कहा, "भला यह भी कोई वात है? क्या मेरा नाम रहना कोई इतनी बड़ी चीज है कि उसके लिए एक अच्छे काम को विगाड़ा जाय?" अँगरेजी शिक्षा प्रचलित करने के विरुद्ध भी अनेक लोगों ने आन्दोलन अवश्य उठाया, परन्तु वह आन्दोलन टिका नहीं।

धीरे धीरे हिन्दू कालेज के छात्रगण पाश्चात्य शिक्षादीक्षा के प्रभाव से स्वेच्छाचारी हो गये। स्वाधीनता के नाम से उच्छृ-खलता प्रारम्भ हुई। मासाहार, मदिरापान, खुले आम मुसल-मानों की दूकान से मास आदि खरीदकर खाना तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य सत्साहस के परिचायक माने जाने लगे। कलकत्ता नगर के इस छोटे से समाजविप्लव के सहायक हुए--कालेज के ईसाई अध्यापकगण। इसी समय अठारहवी शताब्दी के फरा-सीसी विप्लवरूपी सागरमन्थन से उद्भूत अमृत और गरल को लेकर आये--प्रतिभाशाली शिक्षक डी रोजियो। वे जाति के युरे-शियन थे। धर्म के क्या थे यह कहना या अनुमान करना कठिन है। बिना किसी प्रकार की रोकटोक के सभी तरह से व्यक्तिगत स्वाधीनता का उपभोग करना, यही उनका मूलमन्त्र था।

दृढहृदय, शक्तिशाली शिक्षक डी रोजियो को नेता के रूप में पाकर हिन्दू कालेज के छात्रो का उत्साह वहुत वढ गया। उनका आचार व्यवहार धीरे धीरे समाज के सभी श्रेणी के लोगो के लिए असहनीय हो चला। जो भी कुछ हिन्दू का है या हिन्दुत्व-

पूर्ण है, वही कुसंस्कार है---इस अद्‌भुत धारणा को लेकर शराब को ही "कुसंस्कार नष्ट करने का तथा चरित्र को उन्नत बनाने का एक प्रधान उपाय मानते हुए" वे सुरापान मे मस्त हुए। हिन्दू कालेज के 'सफल' छात्रगण धीरे धीरे बगाल के विभिन्न नगरों मे जाकर अपने आदर्श का प्रचार करने लगे। इनका हठधर्म और उच्छृंखलता धीरे धीरे धीरता की सीमा पार कर गये। इसी बीच १८३० ई० मे पादरी अलेक्जैण्डर डफ कलकत्ता आये। राममोहन ने इनके लिए एक स्कूल खोल दिया। इससे पूर्व राममोहन के मित्र आडाम साहब ने भी एक विद्यालय की स्थापना की थी। हिन्दू कालेज मे धार्मिक शिक्षा नही दी जाती थी। छात्रो के नैतिक चरित्र को भ्रष्ट होते देख राममोहन ने उनकी शिक्षा को धर्मानुगत करने की चेष्टा की। इसी समय राममोहन को कई कार्यो के लिए विलायत जाना पड़ा। भारतवर्ष से सर्वप्रथम हिन्दू सन्तान राममोहन विलायत गये---यह एक इतिहास प्रसिद्ध घटना है और इसमे भी राममोहन के असीम साहस का परिचय मिलता है।

हिन्दू कालेज के छात्रो के ऐसे पैशाचिक आचारव्यवहार को---अपनी बडी प्यारी पाश्चात्य शिक्षा के इस विपमय विकृत फल को---देखकर राममोहन बडे दु खी हुए। उनके जीवनचरित्रकार ने लिखा है *---

---

* "In his younger years his mind had been deeply struck with the evils of believing too much, and against that he directed all his energies; but, in his latter days, he began to feel that there was as much, if not greater, danger in the tendency to believe too little. He often deplored the existence

"उहोंने (राममोहन ने) अपने प्रथम जीवन में स्वदेशवासियों की अत्यधिक विश्वासप्रवणता को देखकर हृदय में गम्भीर वेदना का अनुभव किया और इसके विरुद्ध अपनी सारी शक्ति को लगा दिया था। परन्तु वाद में वे समझने लगे कि स्वल्प विश्वास घोर घातक भले ही न हो, पर उतनी ही विपत्ति का कारण अवश्य हो सकता है। वे प्राय: कलकत्ते के एक दल की वात खेद के साथ कहा करते थे, जो विशेषत: विनयशून्य युवको द्वारा संगठित हुआ था। इन युवकों में कोई कोई वुद्धिमान् भी थे और वे पूरी तरह से सन्देहवादी हो उठे थे। राममोहन कहा करते कि यह दल हिन्दू और फिरंगी युवकों के मेल से वना है। ये लोग नयी शिक्षाप्रणाली के प्रभाव में आकर अपना धर्ममत तो छोड़ देते हैं, परन्तु दूसरा कोई धर्ममत ग्रहण नही करते। इस प्रकार किसी भी धर्म में विश्वासविहीन स्थिति एक कुसंस्कार वाले हिन्दू की स्थिति से भी अधिक शोचनीय है और इनका मतवाद किसी भी प्रकार की नैतिक उन्नति का विरोधी है।" (राजा राममोहन राय का जीवन-चरित्र, लन्दन, १८३३-३४)

---

of a party which had sprung up in Calcutta composed principally of imprudent young men, some of them possessing talent, who had avowed themselves sceptics in the widest sense of the term. He described it as partly composed of East Indians, partly of the Hindu youths, who from education, had learnt to reject their own faith without substituting any other, these he thoght more debased than the most bigoted Hindu, and their principles the bane of all morality."—*Biography of Raja Ram Mohan Roy, London, 1833—34.*

पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता की प्रबल लहरों के आघात से एक अति प्राचीन सभ्यता के वंशधर निस्सहाय होकर कही बह न जायें तथा कालोपयोगी उपाय के अवलम्बन से अपने जातीय जीवन के आदर्श की रक्षा करते हुए जीवन-संग्राम मे वे डटे रह सके, इसी महती सद्भावना की प्रेरणा लेकर राजा राममोहन ने धर्म और समाज के सस्कार का व्रत ग्रहण किया था। परन्तु अपने प्रारभ किये हुए कार्य को भलीभाँति प्रतिष्ठित कर जाने का अवसर उन्हे अपने जीवन मे न मिल सका। इसीलिए उनका आदर्श भलीभाँति परिस्फुट न हुआ।

दुर्भाग्यवश वे इँगलैण्ड से लौट न सके। २७ सितम्बर १८३३ ई० को उनका देहान्त हो गया। उनकी स्थापित 'ब्रह्मसभा' आचार्य रामचन्द्र विद्यावागीश के प्रयत्न से जैसे तैसे टिकी रही। उस समय जो लोग राजा के साथी थे, उनमे से कोई भी इस प्रचण्ड भावधारा को सचालित करने के लिए दृढ़ता से अग्रसर न हुआ। स्वामी विवेकानन्द राममोहन की शिक्षा के तीन मूल सूत्रों का निर्देश करते थे—उनका वेदान्तग्रहण, स्वदेशप्रेमप्रचार तथा उनकी हिन्दू और मुसलमान से समान प्रीति। वे कहा करते थे कि इन सब बातों में राजा राममोहन राय की उदारता और दूरदर्शिता द्वारा जिस कार्यप्रणाली का श्रीगणेश हुआ था, वे स्वयं उसी के सहारे अग्रसर हुए है।

हिन्दू धर्म के सुधार के लिए अग्रसर होकर राममोहन श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद की नीव पर खड़े हुए थे। उपनिषद् एवं तन्त्रादि शास्त्रो की प्रामाणिकता को जिस भाव से ग्रहण कर, वेद को जिस प्रकार प्रधानता देकर, राममोहन ने हिन्दुधर्म की व्याख्या की है, उसके सम्बन्ध में कई प्रकार के मतभेद रहते

हुए भी यह बात विशेष दु:ख के साथ कहनी पड़ती है कि उनके अनुयायियो ने उनके सिद्धान्तों को ठीक ठीक ग्रहण नही किया, अथवा ग्रहण न कर सके। इधर यह भी साहस के साथ नही कहा जा सकता कि हिन्दू धर्म के सम्बन्ध मे राममोहन सभी दृष्टि से अचूक सिद्धान्त पर पहुँचे थे। उनके रचित ग्रन्थों का एक तिहाई तो बिलकुल लुप्त हो गया है, और आज जो उपलब्ध है, उनकी निरपेक्ष रूप से आलोचना करने पर, अर्थात् बाद के ब्राह्म सुधारकों के दृष्टिकोण से न देखने पर, निम्नलिखित बातें समझ मे आती है—

(१) बगाल के शाक्त और वैष्णव ये दो प्रधान सम्प्रदाय कालक्रम से कई भागों मे विभक्त होकर विकृत हो गये थे। देश की साधारण जनता धर्म के नाम से केवल कुछ रिवाज और नियमों को ही बिना सोचे-विचारे मानती थी। इसके अतिरिक्त छोटे छोटे सम्प्रदायो मे आपसी विरोध और विद्वेष का अन्त न था। वेदान्त के सहारे राममोहन ने इन बिखरे हुए सम्प्रदायों को एकतामूलक एक दार्शनिक नीव पर लाने की चेष्टा की। परन्तु इसमे वे शाक्त एव वैष्णवो के इतिहास, साहित्य, दर्शन, गुरु एवं अवतारवाद, मन्त्र, साधना एव सिद्धि के विषय मे ठीक ठीक विचार नही कर सके। वैष्णव आदर्श को उन्होंने अश्लील बताकर एक प्रकार से उसकी अवहेलना ही की। स्वयं तन्त्र के प्रति विशेष अनुरक्त होते हुए भी, तान्त्रिक साधक के शिष्य होकर भी और तन्त्रोक्त चक्रसाधना मे शक्तिग्रहण तथा शैव विवाह का समर्थन करते हुए भी उन्होंने तन्त्र के मातृभाव का परित्याग किया है।

(२) हिन्दू-शास्त्रो का अध्ययन कर राजा इस सिद्धान्त पर

पहुँचे थे कि हिन्दू लोग धर्म के तत्त्वनिरूपण म उन्नति के चरम शिखर पर आरूढ़ होकर भी नीति की दृष्टि से अत्यन्त अवनत है। हिन्दू की धर्मनीति की अपेक्षा ईसाई धर्मनीति उनकी दृष्टि में अधिक उपयोगी जँची। राजा खुलेआम प्रचार करते थे कि हिन्दू जाति के पुनरुत्थान के लिए ईसाई नीतिमार्ग का अवलम्बन करने के अतिरिक्त और कोई गति नही है।

(३) वेदान्तकथित निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना के प्रचार द्वारा राममोहन ने हिन्दू के साम्प्रदायिक विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया था।

(४) उनके मत मे जातिभेद, मांस खाने में अनिच्छा, बाल्यविवाह, बहुविवाह, मूर्तिपूजा, विदेश जाने मे अनिच्छा समुद्रयात्रा को पाप मानना आदि हमारे जातीय जीवन की अवनति के कारण है। और इन सभी प्रथाओं के विरुद्ध अपनी कठोर लेखनी के प्रयोग में वे किसी प्रकार की आलोचना से भयभीत नही हुए।

(५) उन्होंने देश मे स्वाधीन चिन्तन और विचार-बुद्धि के विकास के उद्देश्य से अँगरेजी शिक्षा को चलाने के लिए भरसक कोशिश की। वे शिक्षा के द्वारा सुधार के पक्षपाती थे। देश के नये विद्यालयों मे गणित, पदार्थविज्ञान, रसायनशास्त्र, शरीर-विज्ञान आदि विषयों के शिक्षण के लिए उन्होंने विशेष प्रयत्न किया। बगला भाषा की गद्यरचना में अधिक उत्कृष्ट प्रणाली के अवलम्बन द्वारा मातृभाषा की उन्नति करने मे भी उनका काफी हाथ था।

सारांश मे, राममोहन की सर्वतोमुखी प्रतिभा की प्रखर दृष्टि जातीय जीवन के सभी विभागों पर पड़ी थी। स्वधर्मानुराग

तथा जातीयताबोध के प्रथम पुरोहित राजा राममोहन ने ही सबसे पहले नवजागरण के भेरीनिनाद से देश को जाग्रत होने के लिए पुकारा था। परन्तु खेद है, इस महापुरुष की विचारधारा और चरित्र पर आज तक निरपेक्ष रूप से कोई चर्चा नहीं की गयी। हम साहस के साथ कहेगे कि ब्राह्म सुधारकों ने साम्प्रदायिक संकीर्णता के वशीभूत हो राममोहन के उदार सार्वभौम आदर्श के सम्बन्ध में इतनी भ्रमपूर्ण धारणा कर लेने का मौका दिया है कि आज बंगाल के इस महापुरुष को न जानने के दुर्भाग्य के बजाय उन्हें गलत रूप से जानने का दुर्भाग्य ही अधिक है।

"आत्मा और परमात्मा के अभेद-चिन्तन-रूप मुख्य उपासना" को नींव बनाकर राममोहन धर्म एवं समाज के सुधार मे प्रवृत्त हुए थे। कई प्रकार की त्रुटियों और कमी के बीच भी राममोहन भारत की सनातन साधना और सभ्यता के मर्म को समझने में सफल हुए थे और इसीलिए कुछ प्रचलित लोकाचार एवं अनुष्ठानों का प्रतिवाद करते हुए भी उन्होंने किसी नवीन धर्म या सम्प्रदाय की स्थापना न की। जो 'ब्राह्मधर्म' राममोहन के नाम की छाप लेकर इतने दिनो से चला आ रहा है, उसके संस्थापक हैं महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७–१९०५)—राजा राममोहन नही। देश में अभी तक कही कही इस प्रकार की भ्रमात्मक धारणा है कि राममोहन ही 'ब्राह्मधर्म' के प्रवर्तक हैं, इसलिए इस विषय पर संक्षेप मे थोड़ीबहुत चर्चा करना आवश्यक है।

१८४३ ई० के ७ पौष को महर्षि देवेन्द्रनाथ ने अपने बीस मित्रो के साथ ब्राह्म धर्म मे दीक्षा ली। इस ब्राह्म-धर्म का विकास राममोहन की इच्छा के अनुसार नही हुआ। ब्राह्मसमाज के

अन्यतम प्रचारक मनीषी स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल, राजा राम-मोहन और महर्षि के आदर्शों की समालोचना कर निम्नलिखित सिद्धान्तों पर पहुँचे है :—

" . . . राजा राममोहन ने शास्त्र की प्रामाणिकता का सम्पूर्ण रूप से त्याग नही किया । महर्षि देवेन्द्रनाथ ने वेद का प्रामाण्य अस्वीकार कर केवल व्यक्तिगत विचार-बुद्धि को ही ऐकान्तिक रूप से सत्यासत्य और धर्माधर्म की मीमांसा का एकमात्र प्रमाण माना । राजा ने इस बात को कभी अस्वीकार नहीं किया कि धर्म की साधना मे गुरु का भी एक विशेष स्थान है । महर्षि देवेन्द्रनाथ ने शास्त्र के ही समान गुरु को भी अस्वीकार कर प्रत्यक्ष आत्मशक्ति तथा अप्रत्यक्ष ब्रह्म-कृपा के सहारे ही सिद्धि की सम्भावना को स्थापित किया । राजा ने धर्म के तत्त्वांग, साधनाग या किसी भी अग में, भारतीय सनातन साधना के साथ अपने धर्म-संस्कार का प्राणगत योग कभी नष्ट नही किया। महर्षि ने एक प्रकार की स्वदेशीयता के विशेष पक्षपाती होते हुए भी वास्तव में इस सम्बन्ध की रक्षा नही की और न वैसा करने की चेष्टा ही की । राजा ने वेदान्त पर ही अपने तत्त्वसिद्धान्त की स्थापना की । महर्षि ने वास्तव में अठारहवी ईसवी के यूरोपीय युक्तिवाद पर ही अपने ब्राह्म-धर्म को खड़ा किया । राजा ने वेदान्त द्वारा प्रतिपादित धर्म को ही ब्राह्म-धर्म कहकर उसका प्रचार किया । महर्षि ने अपने निजी 'आत्मप्रत्यय या स्वानुभूति-प्रतिपाद्य' धर्म की ही ब्राह्म-धर्म के नाम से प्रतिष्ठा की ।

. . . यह सत्य है कि महर्षि के ब्राह्मधर्म-ग्रन्थों में केवल उपनिषद् के उपदेश ही उद्धृत और व्याख्यात हुए है, परन्तु इन सब उद्धृत उपदेशों का प्रामाण्य वेदो पर प्रतिष्ठित नही है,

बल्कि वह महर्षि की अपनी स्वानुभूति पर ही प्रतिष्ठित है। उपनिषद् की जो श्रुतियां महर्षि को सत्य जँची, उन्हें छाँटछाँटकर उन्होंने अपने ब्राह्मधर्म-ग्रन्थों मे रख दिया। उन्होंने इसका अनुसन्धान नही किया कि ऋषियों ने सत्य के रूप मे क्या प्रत्यक्ष किया था, क्या जाना था। किसी श्रुति का उत्तरार्ध और किसी का पूर्वार्ध--जिसका जितना अंश उन्हे अनुकूल मिला, उतना ही उन्होने काट-छाँटकर अपने ब्राह्मधर्म ग्रन्थ मे जोड दिया। अतः महर्षि के ब्राह्मधर्म ग्रन्थो मे अनेक श्रुतियों के उद्धरण रहते हुए भी वे ग्रन्थ उनके निजी हैं, उनमें का मतामत उनका अपना है, प्राचीन ऋषियो का नही। संस्कृत श्लोकों का उद्धरण न देकर यदि वे इन मतामतों को बँगला भाषा मे ही लिखते, तो इनकी जितनी प्रामाणिकता रहती, उपनिषद् के छींटे देने पर भी उससे कही अधिक प्रामाणिकता उन्हें प्राप्त न हुई।" ('पण्डित शिवनाथ शास्त्री और ब्राह्म समाज' से उद्धृत)

जो भी हो, राजा के आदर्श के साथ काफी भेद रहते हुए भी 'व्यक्तित्वाभिमानी यूरोपीय युक्ति या तर्कवाद पर स्थापित ब्राह्मधर्म' की स्थापना और प्रचार में महर्षि ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। इस कार्य मे उनके सहायक हुए प्रसिद्ध साहित्यिक, वंग-भाषा के अन्यतम निर्माता अक्षयकुमार दत्त और मनीषी राजनारायण वसु।

महर्षि देवेन्द्रनाथ प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर के पुत्र थे। जोड़ासाँको के ठाकुर परिवार का कलकत्ते के धनी समाज मे काफी मानसम्मान था। ऋणग्रस्त पैतृक सम्पत्ति जब महर्षि के संयम और उद्यम से ऋणमुक्त हो गयी, तो वे फिर से कलकत्ते के धनी समाज मे अग्रगण्य हो गये और उनकी आर्थिक सहायता तथा

विशेष प्रयत्न से ब्राह्मधर्म का प्रचारकार्य चलने लगा। महर्षि के धन-बल तथा जन-बल की सहायता से ब्राह्म समाज ने थोड़े ही समय मे शिक्षित समाज की दृष्टि को आकर्षित कर लिया।

मूर्तिपूजा आदि क्रियाकाण्ड को त्यागने पर भी महर्षि वास्तव में समाज-सुधार में प्रवृत्त नही हुए थे, बल्कि हिन्दू समाज के साथ मेल की भावना की रक्षा करते हुए ही रक्षणशील देवेन्द्रनाथ अपने नवीन धर्म के प्रचार मे संलग्न हुए थे।

पादरी अलेक्जैण्डर डफ की अथक चेष्टा से हिन्दू कालेज के छात्रो मे नास्तिकता का भाव धीरे धीरे कम होता जा रहा था। उन्होंने आशा की थी कि अब वे शिक्षित बगालियों को ईसाई बना ले सकेंगे। ऐसे ही समय उनके सकल्प की सिद्धि के पथ में एक घोर विघ्न खड़ा हो गया और वह था——महर्षि द्वारा प्रचलित ब्राह्म धर्म। पादरी डफ की चेष्टा से इससे पहले ही डी रोजिओ के शिष्यों से से महेशचन्द्र घोष, कृष्णमोहन बन्द्योपाध्याय, ज्ञानेन्द्रमोहन ठाकुर आदि ईसाई बन चुके थे और उनका अनुसरण कर अन्य कई लोगों ने भी ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। इसी अवसर पर और भी कई व्यक्ति ईसाई बनने की सोच ही रहे थे कि इसी समय ब्राह्म समाज 'ईसा के स्वर्गराज्य मे जाने का' द्वार बन्द करने के लिए खड़ा हो गया। बस, फिर से वेदान्तयुद्ध का श्रीगणेश हुआ। वेदान्त के पक्ष का समर्थन कर महर्षि की 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका मे लेख प्रकाशित होने लगे। डफ साहब ने भी प्राणपण से अपने दल-बल के साथ वेदान्त पर आक्रमण किया। इस आन्दोलन से कलकत्ता नगरी डगमगा उठी। डफ साहब को हिन्दू धर्म और समाज के प्रति गालियो की वर्षा करते देख हिन्दू कालेज के नेताओं ने छात्रो पर डफ एव डियेल्ट्री के व्याख्यान

सुनने का प्रतिवन्ध लगा दिया। फलस्वरूप, काल की गति को रोकने में असमर्थ होकर पादरी डफ निराश हो १८६३ ई० में अपने देश लौट गये।

१८५० ई० में अक्षयकुमार और राजनारायण के परामर्श से वाध्य होकर महर्षि ने वेद की अपौरुषेयता तथा अभ्रान्तता के सिद्धान्त का ब्राह्म समाज से परित्याग किया, जिससे सदैव के लिए ब्राह्म समाज हिन्दू धर्म से अलग हो गया। जो हो, इन्हीं लोगों की अथक चेष्टा से वंगाल के विभिन्न स्थानो में ब्राह्म समाज की स्थापना हुई और समाज का काम अधिक व्यापक हो गया।

इसी समय एक और शक्तिशाली पुरुष का वंगाली समाज में आविर्भाव हुआ। वे थे वीरसिह ग्राम के मनीषी पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर। एक ओर परानुकरण के मोह को और दूसरी ओर आत्मविस्मरण को छोड़ विविध सद्‌गुणों से मण्डित इनके चिर-स्मरणीय चरित्र में मनुप्यत्व की एक अत्युज्ज्वल मूर्ति विकसित हो उठी। वंग भापा के निर्माता एवं पालक विद्यासागर, शिक्षा के प्रचार में व्रती विद्यासागर, दीन, दु:खी एवं आर्तों की सेवा में आत्मोत्सर्ग करनेवाले विद्यासागर, और सवसे वढ़कर, समस्त देश के समाज की दुर्गति एवं दुर्नीति को दूर करने का व्रत लिये हुए विद्यासागर की अतुलनीय कीर्तिकथा नव वंगाल के इतिहास की एक अक्षय सम्पत्ति है।

विद्यासागर ने लिखा है, "विधवाओं का विवाह चलाना मेरे जीवन का सर्वप्रधान सत्कर्म है। इस जन्म में इससे वड़ा और कोई सत्कर्म मैं कर सकूँगा, इसकी सम्भावना नही है। इस वात के लिए मैं अपना सर्वस्व अर्पण कर चुका हूँ और आवश्यकता

होने पर प्राणान्त करने से भी न चूकूंगा।"

बालविधवा के ब्रह्मचर्य तथा नारी के सतीत्व-धर्म के महिमा-कीर्तन से मुखरित भारतभूमि मे हतभाग्य अबला-जाति पर युग-युगान्तर से जो पैशाचिक अत्याचार हो रहा था, उसके विरुद्ध जिस दिन विद्यासागर खडे हुए, "उस दिन देश के लोग विद्यासागर के प्राणनाश के लिए गुप्त षड्यन्त्र कर रहे थे तथा देश के पण्डितगण शास्त्रो का मन्थन कर कुयुक्तियों तथा भाषा का मन्थन कर कटु वचनों की वर्षा विद्यासागर के सिर पर कर रहे थे।"

परन्तु माता की पदधूली और आशीर्वाद को सिर पर धारण कर पौरुष के प्रचण्ड अवतार विद्यासागर ने बालविधवाओं के दुःख को दूर करने का व्रत ग्रहण किया था। वे विचलित न हुए, क्षुब्ध न हुए। "संस्कृत श्लोकों और बँगला गालियों के मिश्रण से उत्पन्न विकट कोलाहल" का खण्डन कर इस ब्राह्मण-वीर ने विजयी होकर विधवा-विवाह को शास्त्रसम्मत प्रमाणित कर दिया, और यह उन्ही के ऐकान्तिक प्रयत्न का फल था कि विधवा-विवाह सरकार द्वारा कानून के रूप मे स्वीकृत हो गया।

विगत शताब्दी के मध्य भाग में प्रचण्ड मार्तण्ड की तरह ये अकेले निस्संग महापुरुष आलोक एवं उत्ताप विकीर्ण कर, सारे समाज की अज्ञता, कट्टरपन तथा कुसंस्कार के साथ अविराम संग्राम कर, क्षुधार्तों, पीडितों और रोगियों के आँसू पोंछकर, अकृतज्ञों के सभी उद्धत आचरणों को क्षमा करते हुए, "अपने पुष्प जैसे कोमल और वज्र जैसे कठिन वक्ष में असह्नीय वेदना के शल्य को लेकर, अपने आत्मनिर्भरशील, उन्नत एवं बलवान् चरित्र के महान् आदर्श को राष्ट्र के मानसपटल पर चिरकाल के लिए

अंकित कर बँगला सन् १२९८ के १३ श्रावण की रात्रि को इह-लोक से विदा हो गये।"

"ऐ भारत के मनुष्यो ! अभ्यास के दोष से तुम्हारी बुद्धि और धार्मिक प्रवृत्तियाँ इस प्रकार दूषित और विकल हो गयी हैं कि हतभाग्य विधवाओ की दुर्दशा देख कर तुम्हारे चिरशुष्क हृदय मे करुणा का संचार होना तक कठिन है। व्यभिचार और भ्रूणहत्या की प्रबल पापधारा मे देश को बहते देखकर भी तुम्हारे मन मे घृणा के उदय होने की सम्भावना नही है। . . . तुम लोग समझते हो कि पति के मरते ही स्त्री का शरीर पत्थर का बन जाता है, दु.ख उसे दुःख-जैसा नही लगता, यन्त्रणा यन्त्रणा जैसी नही मालूम होती। . . . हाय ! यह कैसे शोक का विषय है ! जिस देश की पुरुषजाति में दया नही, धर्म नहीं, न्याय-अन्याय का विचार नहीं, हिताहित का ज्ञान नही, सत् और असत् की विवेचना नही, जहाँ केवल लौकिक आचार-रक्षा ही प्रधान कर्म और परम धर्म माना जाता है, उस देश मे भगवान् करे, हत-भागिनी अबला जाति अब आगे जन्म ग्रहण न करे !"

विधवा के दुःख से कातर ऐसी पौरुषयुक्त और प्रभावशाली वाणी की गर्जना बंगाल मे और कभी नही हुई थी। जिस प्रकार एक दिन शिव के जटाजूट से एकाएक निर्मुक्त हुई जगत्पावन भागीरथी धराधाम पर गिरकर अजस्र धारा में मुक्ति को वहन कर ले आयी थी, उसी प्रकार एक दिन भारत की अभिशप्त नारीजाति तथा विधवा के अपमान एवं दुःख पर विद्यासागर की महती दया का अभय आशीर्वाद करुणाविगलित भावधारा के रूप में बरस पडा था।

"ईश्वरचन्द्र का हृदय लेकर हम सभी इस मर्त्यभूमि मे नही

आये है। बालविधवा के आँसू हमारे पाषाणहृदय पर रेखा नहीं खीच सके। इसीलिए हम भण्डतापूर्ण ब्रह्मचर्य के कुत्सित आवरण से उस आँसू को पोछना चाहते है। ईश्वरचन्द्र की वीरता विधवा का दु:ख दूर करने मे सफल न हुई। देशाचार की विजय हुई यह सत्य है, परन्तु यही प्रकृति का विधान है। स्वाभाविक, सरल, छद्मवेषहीन मानवता इससे निस्सन्देह म्रियमाण होगी, परन्तु दु:ख प्रकट करना निष्फल है; क्योकि यह विधि का विधान है।"—बँगला १३०३ सन् के भाद्रमास मे बगाल के अन्यतम मनीषी, आचार्य रामेन्द्रसुन्दर ने इन शब्दो मे जो हृदयभेदी विलाप किया था, आज इस प्रसंग मे हमें भी उसकी याद आ रही है।

बंगाल के नवयुग की साधना और सिद्धि के मूर्तस्वरूप भगवान् श्रीरामकृष्ण ने एक दिन विद्यासागर के पास आकर कहा था, "इतने दिन नाला, गढ़ा और तालाब देखा है, आज समुद्र देखने को मिला।" वास्तव मे विद्यासागर मनुष्यत्व के महासागर थे। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ की भाषा में, "विद्यासागर जैसे व्यक्ति ने चारो ओर के उपेक्षारूपी पाषाण-खण्डों से बार बार टकराते हुए अपने कर्मव्यस्त जीवन को मानो चिरकाल व्यथापूर्ण क्षुब्धता के साथ बिताया है, क्योंकि वे पारमार्थिकता से भ्रष्ट हुए बगाल में पैदा हुए थे। वे मानो सैन्यविहीन विद्रोही की भाँति अपने चहुँमुखी वातावरण की परवाह न करते हुए जीवन के अन्त तक जय-ध्वजा को अपने कन्धे पर अकेले ही वहन करके ले गये। उन्होने न किसी को पुकारा, न किसी ने उन्हे सुना। पर बाधाएँ तो पग पग पर विद्यमान थीं। . . वे जिस शवसाधना मे प्रवृत्त हुए थे, उनके उत्तर-साधक भी वे स्वयं ही थे।"

१८५९ ई. मे केशवचन्द्र सेन (१८३८-८४) ब्राह्म-समाज मे

सम्मिलित हुए। सुधारयुग के एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ हुआ। देवेन्द्रनाथ के पुत्र सत्येन्द्रनाथ ठाकुर केशव के सहपाठी थे। वे ही केशव को ब्राह्म समाज मे लाये थे। इस इक्कीस वर्ष के नवयुवक ने अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा और भाषणपटुता के वल पर बड़ी ही सरलता से नवीन ब्राह्मों का नेतृत्व प्राप्त कर लिया। इसी समय हिमालय से महर्षि देवेन्द्रनाथ लौटे और गुरु-शिष्य का मिलन हुआ (१८६३)। महर्षि ने केशवचन्द्र को 'ब्रह्मानन्द' नाम देकर अपने सहकर्मी, पुत्र और प्रियतम शिष्य के रूप में ग्रहण कर लिया।

कुलगौरव और धनगौरव की दृष्टि से केशवचन्द्र की तुलना राममोहन या देवेन्द्रनाथ से नही की जा सकती। अँगरेजो के राज्य मे, अँगरेजी शिक्षा के प्रति आकृष्ट, नवीन शिक्षा में शिक्षित मध्यम श्रेणी की सन्तान केशवचन्द्र की विचारधारा, चरित्र और रुचि उन दोनो से सम्पूर्णतः पृथक् थी। सोलह वर्ष की उम्र मे राममोहन ने इस्लाम धर्म के प्रति आकृष्ट होकर हिन्दुओं की मूर्तिपूजा पर आक्रमण किया था, और नवयुवक केशवचन्द्र ईसाई धर्म तथा पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के आदर्श और भावधारा से अनुप्राणित होकर ब्राह्मधर्म एवं समाज को उसी आदर्श के अनुसार चलाने के लिए कटिवद्ध हो रहे थे। राममोहन की बात तो दूर, वे देवेन्द्रनाथ की तरह भी संस्कृत भापा न जानते थे। उस समय वे वेद वेदान्त अथवा शास्त्रादि से बिलकुल अपरिचित थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ जिन्हे (अर्थात् केशवचन्द्र को) स्वागत कर ले आये, उन्हे अपने भाव से अनुप्राणित न कर सके। मनीषी विपिनचन्द्र ने कहा है, "शास्त्र के प्राचीन अधिकार के विरुद्ध असंस्कृत और असिद्ध स्वमत के

अधिकार की प्रतिष्ठा, सामाजिक विधि-निषेध आदि के विरुद्ध व्यक्तिगत रुचि और प्रवृत्ति के अधिकार की प्रतिष्ठा--यही पहलेपहल केशवचन्द्र के कर्मजीवन के मूल सूत्र थे।"

महर्षि देवेन्द्रनाथ की अपनी स्वीय अनुभूति और सहज ज्ञान पर प्रतिष्ठित ब्राह्मधर्म की साधना, तथा समाजसुधार के क्षेत्र मे डेविड हेअर एव डी रोजियो का अठारहवी सदी का पाश्चात्य अन्यनिरपेक्ष व्यक्तिस्वातन्त्र्यवाद---इन दोनों धाराओ को आत्मसात् करके केशव और उनके साथी ब्राह्मसमाज को पाश्चात्य समाज के आदर्श पर गढने के लिए प्रयत्नशील हुए। ब्राह्म समाज के रक्षणशील एव मध्यपन्थी नेता देवेन्द्रनाथ केशवचन्द्र और उनके साथियों को वश मे लाने के लिए व्यर्थ मे प्रयत्न करने लगे। परन्तु उस समय केशवचन्द्र का प्रभाव और सम्मान केवल ब्राह्म समाज तक ही सीमित न था। उस समय के अँगरेजी शिक्षित 'उदार' हिन्दू और विशेष कर कालेज के छात्रगण उनके अनुयायी हो गये थे। केशव की भाषणपटुता असाधारण थी। अँगरेजी भाषा मे भाषण देने मे उनकी बराबरी का और कोई न था। उनका भाषण सुनकर उच्च पदाधिकारी अँगरेज तक उनकी प्रशसा करते और उनका आदर करते थे। जन-समाज मे उनकी ख्याति अतुलनीय थी। कलकत्ते के अँगरेजी शिक्षित समाज पर केशवचन्द्र के असाधारण प्रभाव का कारण उनकी भाषणपटुता ही थी। श्रेष्ठ वक्ता केशवचन्द्र के भाषणो की आँधी से कलकत्ता नगरी गूँज उठी। कृष्णनगर मे इसकी प्रतिध्वनि गूँजी। उस समय कलकत्ते में ऐसे बहुत ही कम शिक्षित युवक थे, जो उनकी प्रतिभा से प्रभावित न हुए हो। इनमे से कई तो खुलेआम ब्राह्म समाज मे सम्मिलित हो गये और कई अल्पाधिक मात्रा में

ब्राह्मभावापन्न होने लगे।

स्त्री-स्वाधीनता, असवर्ण-विवाह, खान-पान में पुराने विधि-निषेधों का उल्लंघन, उपवीतहीन तथा अब्राह्मण आचार्यों द्वारा ब्राह्म समाज की उपासना आदि संस्कारों के प्रस्ताव के साथ ईसाई-धर्म के प्रति अत्यधिक प्रीति और ईसाई-नीतिवाद के प्रति प्रबल आकर्षण को सम्मिलित कर केशव-परिचालित ब्राह्म समाज जिस पथ पर चलना चाहता था, सामाजिक व्यवहार मे रक्षण-शील देवेन्द्रनाथ के लिए उसे सम्पूर्ण रूप से मानकर चलना असम्भव हो गया। विद्रोही तथा पुत्रतुल्य केशवचन्द्र के युक्तिरूपी बाणों की वर्षा को धीर भाव से सहन कर महर्षि अटल रहे। इस विच्छेद के बारे मे रवीन्द्रनाथ ने कहा है :—

"प्रत्येक व्यक्ति जिस समय अपनी प्रकृति के अनुसार पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है, उस समय वह मनुष्यत्व प्राप्त करता है—साधारण मनुष्यत्व व्यक्तिगत विशेषत्व पर ही निर्भर है। मनुष्यत्व हिन्दू मे या ईसाई मे वास्तव मे एक ही है। फिर भी हिन्दू-विशेपत्व 'मनुष्यत्व' की एक विशेप सम्पत्ति है तथा ईसाई-विशेपत्व भी 'मनुष्यत्व' का एक विशेष लाभ है। इनमें से किसी को भी पूर्ण रूप से छोड़ने पर 'मनुष्यत्व' हीनता को प्राप्त हो जाता है। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ धन है, वह सार्व-भौमिक है; तथा यूरोप का जो कुछ श्रेष्ठ धन है, वह भी सार्व-भौमिक है; फिर भी भारतीयता और यूरोपीयता इन दोनों की अपनी स्वन्तत्र सार्थकता है और इसीलिए इन दोनों को एक नही किया जा सकता। . . . नवीन ब्राह्म समाज ने जिस समय पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव मे आकर इस बात को भुला दिया, जिस समय धर्म के स्वदेशी रूप की रक्षा को वह संकीर्ण समझने

लगा, जिस समय उसने यह मान लिया कि विदेशी इतिहास का फल भारतीय शाखा पर पैदा करना सम्भव है और इसी चेष्टा में वास्तविक उदारता की रक्षा होती है, उस समय पितृदेव (महर्षि) ने सार्वभौमिक धर्म के स्वदेशी स्वरूप को एक मिश्रित एक-आकारता के बीच डुबो देने से इनकार कर दिया। इससे उनके अनुयायी, असाधारण प्रतिभाशाली, धर्मोत्साही अनेक तेजस्वी युवकों के साथ उनका विच्छेद हो गया।"

हमने पहले ही कहा है कि महर्षि और केशवचन्द्र की शिक्षा और प्रकृति मे काफी अन्तर था। घात-प्रतिघात के फलस्वरूप यही अन्तर विच्छेद के रूप मे प्रकट हुआ और वह भी एक साधारण घटना को निमित्त बनाकर। महर्षि ने जब यज्ञोपवीत-धारी आचार्यों को वेदी के काम से भगा देने से इनकार कर दिया, तब गुरु देवेन्द्रनाथ की उपेक्षा करते हुए ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र ने अपना अलग दल बना लिया। १८६६ ई० मे ब्राह्म समाज दो भागों मे बँट गया। महर्षि के समाज का नाम पडा 'आदि-समाज' तथा केशव, विजयकृष्ण आदि ने जिस नूतन समाज की स्थापना की, उसका नाम पड़ा 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज'। इस नवीन समाज ने यूरोप की ईसाई-प्रणाली मे समाज को ढालने की चेष्टा करते हुए जातिभेद की प्रथा को उठा दिया, असवर्ण-विवाह की प्रथा प्रारम्भ कर दी और इस प्रकार के विवाह को कानून द्वारा स्वीकृत करने के लिए प्रबल आन्दोलन खडा कर दिया। १८७२ ई० के तीसरे कानून के अनुसार एक प्रकार से असवर्ण विवाह राजदरबार मे कानून की दृष्टि से स्वीकृत हो गया। केशव द्वारा परिचालित इस नवीन समाजसुधार आन्दोलन के ब्राह्म प्रचारकगण रक्षणशील प्राचीन समाज पर आक्रमण

करते हुए भाषण आदि देने लगे। इधर ब्राह्म समाज की धार्मिक साधना ने भी भिन्न रूप ले लिया। केशव की ईसाई धर्मप्रीति से प्रभावित होकर ब्राह्म साधकगण पापबोध, पापभय, पश्चात्ताप, भाव के आवेश में रोना आदि को आध्यात्मिक उन्नति के सहायक मानने लगे।

निराकार और एकाकार की इस विलायती परिपाटी की नकल करते हुए प्राचीनपन्थियों ने 'हरिसभा', 'धर्मसभा' आदि की स्थापना द्वारा 'हिन्दुत्व' की रक्षा के लिए यथेष्ट प्रयत्न किया। इस हिन्दू आन्दोलन के पीछे कोई आन्तरिक आवेग न था। भरपेट भोजन और संकीर्तन करना, दानदक्षिणा देना, पैसा देकर व्याख्याताओं को बुलाकर भाषण कराना—बस, यही धर्म का चूड़ान्त हो गया! बारह वर्ष के बच्चे भी 'हरिसभा' की वेदी से हरिभक्ति की महिमा के सम्बन्ध मे भाषण देते थे और दर्शकगण ताली बजाकर उन्हे आकाश पर चढ़ा देते थे। एक ओर ब्राह्म समाज की वेदी से आचार्य और उपाचार्यगण हिन्दुओं के धर्म एवं समाज के सिर पर अग्निमय अभिशापों की वर्षा कर रहे थे और उधर दूसरी ओर कट्टरपन्थियों के दल घोर अश्लील कविताओं और कहानियों के माध्यम से ब्राह्म समाज की दिखावटी साधुता का बड़ी बुरी भाषा में प्रतिवाद करने मे लगे हुए थे। इस वादप्रतिवाद के फलस्वरूप एक ऐसे निन्दनीय, कुरुचिपूर्ण साहित्य की सृष्टि हुई, जो बंग साहित्य के ललाट पर एक अमिट कलंक है।

नवीन नागरिक सभ्यता की केन्द्रभूमि कलकत्ता जिस समय इन सब प्रबल सुधार आन्दोलनों की क्रियाप्रतिक्रिया से विक्षुब्ध हो रहा था तथा समग्र बंगाल कातर हो रहा था, उस समय इस

नगर के निकट दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि के कालीमन्दिर में एक अप्रसिद्ध और अज्ञात पुजारी ब्राह्मण भारत के सर्व कल्याण-कारी पारमार्थिक आदर्श का विकृति और विस्मृति से उद्धार करने के लिए साधनामे संलग्न थे। वे थे भगवान् श्रीरामकृष्णदेव।

हुगली जिले के एक सुदूरवर्ती गाँव कामारपुकुर में एक निर्धन ब्राह्मण-परिवार मे १७ फरवरी सन् १८३६ ई को इन्होंने जन्म लिया। पिता के देहान्त के बाद ये अपने बड़े भाई के साथ कलकत्ता चले आये। उद्देश्य था कुछ विद्याभ्यास करके जीवि-कोपार्जन करना। बड़े भाई की एक सस्कृत पाठशाला थी। वे विद्वान् और उदार हृदय के ब्राह्मण थे। विद्याभ्यास मे प्रवृत्त होकर एकाएक बालक रामकृष्ण ने सोचा कि इस लौकिक विद्या की आवश्यकता क्यो है? क्या सासारिक उन्नति? प्राचीन युग के ऋपियो की तरह उन्होने सोचा, जो कुछ अमृत नही है, उसे लेकर मै क्या करूँगा? वे लिखनापढना छोड़ पारमार्थिक ज्ञानप्राप्ति का उपाय खोजने लगे। इसी समय कलकत्ते की धनशालिनी एव धर्मप्राणा महिला रानी रासमणि ने काफी धन व्यय कर दक्षिणेश्वर मे एक मन्दिर की प्रतिष्ठा की। बडे भाई के निर्देश पर निर्वाह के लिए श्रीरामकृष्ण ने माता आनन्दमयी के पुजारी का पद ग्रहण किया। सरलहृदय तरुण पुरोहित प्रतिदिन नियमित रूप से पूजा करते और सोचते थे, क्या वास्तव मे कोई जग-न्माता है? क्या वास्तव मे वह विश्व-ब्रह्माण्ड को नियन्त्रित कर रही है? जगन्माता की प्रत्यक्ष उपलब्धि की आशा से तन्मय साधक ने बाह्य जगत् को भुला दिया--दिन बीता, महीना बीता, वर्ष भी कई बार घूमफिर गये, पर अर्धोन्मत्त रामकृष्ण दिव्य भाव मे विभोर रहे। गगा के पश्चिम किनारे अस्तगामी आरक्त

सूर्य की ओर देखते हुए वे कातरकण्ठ से कह उठते, "माँ, एक और दिन भी तो व्यर्थ हुआ, तुम्हारे दर्शन तो नहीं मिले।" धीरे धीरे मृण्मयी देवी ने चिन्मयी रूप में दर्शन दिया। फिर से माता (जगन्माता) के निर्देश पर सन्तान की साधना चली। दक्षिणेश्वर मे सभी मतों के, सभी पथों के साधकगण, सिद्ध महापुरुषगण आ-आकर उनसे मिलने लगे। भैरवी ब्राह्मणी ने आकर उनसे तन्त्रोक्त साधना करायी। तोतापुरी ने आकर वेदान्त के अद्वैत ब्रह्मतत्त्व की शिक्षा दी। लोकदुर्लभ निर्विकल्प समाधि मे सत्य की प्राप्ति कर वहाँ से नीचे उतरकर रामकृष्ण सत्य के प्रचार के लिए सबको पुकारने लगे, "अरे, तुम लोग कौन कहाँ हो रे, चले आओ!"

अन्त में एक दिन सुधारयुग के नेता केशवचन्द्र के साथ श्रीरामकृष्ण का साक्षात्कार हुआ। एक अचिन्तनीय घटना घटी। मूर्तिपूजाविरोधी केशव मूर्तिपूजक ब्राह्मण की वाणी का प्रचार कर अपने पत्र मे लिखने लगे, "यदि शान्ति चाहते हो, तो दक्षिणेश्वर के महापुरुष के चरणों के पास बैठकर धन्य बनो।" यह आश्चर्यजनक है, परन्तु है सत्य। केशवचन्द्र, प्रतापचन्द्र मजुमदार, विजयकृष्ण आदि ब्राह्म धर्म के धुरन्धर व्यक्ति इस महापुरुष के प्रभाव से प्रभावित हो उठे और इन्ही लोगों के प्रचार के फल से कलकत्ते का शिक्षित समाज श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में जान सका।

१८७९ ई के 'Theistic Quarterly Review' के अक्तूबर अक में नवविधान-समाज के प्रचारक प्रतापचन्द्र मजुमदार ने श्रीरामकृष्ण सम्बन्धी एक बडे निबन्ध मे लिखा था—

"मेरा मन अभी तक एक ऐसे उज्ज्वल ज्योतिर्मय वातावरण में

घूम रहा है, जिसे वह अद्‌भुत महापुरुष जहाँ जाते हैं वही अपने चारों ओर फैलाये रहते है। जब भी उनके साथ साक्षात्कार होता है, उस समय वे जिस अनिर्वचनीय रहस्यपूर्ण भाव द्वारा मेरे हृदय को परिपूर्ण कर देते है, उसके प्रभाव से मेरा मन अभी तक मुक्त न हो सका।

"उनमें और मुझमे क्या सादृश्य है? मै यूरोपीय भावापन्न हूँ, सभ्य हूँ, आत्माभिमानी और अर्धसन्देहवादी हूँ, तथाकथित शिक्षित युक्तिवादी हूँ; और वे? वे तो धनहीन, निरक्षर, अमार्जित-रुचि, अर्ध-पौत्तलिक, मित्रविहीन हिन्दू भक्त हैं। क्यों मै उनकी बात सुनने के लिए घण्टों बैठा रहता हूँ? मैं—जो डिसराइल फासेट, स्टेन्ली, मैक्समूलर तथा पाश्चात्य जगत् के सभी विद्वानों एवं धर्मप्रचारकों के उपदेश सुन चुका हूँ, मै—जो ईसामसीह का एकान्त भक्त और अनुचर हूँ, उदारहृदय ईसाई मिशनरियों का मित्र एवं समर्थक हूँ, युक्तिपन्थी ब्राह्म समाज का अनुगत भक्त और कर्मी हूँ; मै भला क्यों उनकी वाणी सुनता हुआ मन्त्रमुग्ध की तरह रह जाता हूँ? और अकेला मै ही नही, मेरी तरह अनेक और व्यक्ति भी इसी प्रकार हो जाते है। . . .

"परन्तु जितने दिन वे हमारे निकट जीवित है; हम आनन्द के साथ उनके चरणो के पास बैठकर उनसे पवित्रता, वैराग्य, संसार के प्रति अनासक्ति, आध्यात्मिकता और भगवत्-प्रेमोन्मत्तता के सम्बन्ध मे अत्युच्च उपदेशो की शिक्षा ग्रहण करेगे।"

मजुमदार महाशय ने उपरोक्त शब्दों मे आत्मपरिचय देते हुए सरल भाव से जो राय प्रकट की है, उसे पढकर यह समझने मे अधिक कठिनाई नही होती कि ब्राह्म समाज पाश्चात्य भाव से कितना अधिक प्रभावित और अनुप्राणित हुआ था। हमे यह

भी विदित होता है कि श्रीरामकृष्ण के चरित्र एवं साधना का प्रभाव पहलेपहल ब्राह्म समाज पर पड़कर परानुकरण के मोह को काफी मात्रा में दूर करने में कारण हुआ था। इसीलिए तत्कालीन बंगाली समाज ने चकित दृष्टि से ताककर देखा—दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में, भागीरथी के तट पर, एक जीती-जागती जाति की युग-युगान्तरों की चिरपोषित आशाओं और आदर्शों के जीवन्त, मूर्त विग्रह के रूप मे पंचवटी के नीचे बैठे हुए शक्तिसाधक, निर्विकल्प समाधि मे मग्न महायोगी, भक्त-चूडामणि, वैष्णव, शाक्त, ईसाई, मुसलमान आदि विभिन्न धर्मों की साधना मे सिद्ध भगवान् श्रीरामकृष्ण को, जिनके सम्बन्ध में परवर्ती काल मे स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—

"काल के प्रभाव से सदाचार-भ्रष्ट, वैराग्यविहीन, एकमात्र लोकाचार मे निष्ठा रखनेवाली क्षीणबुद्धि आर्यसन्तानों ने . . . वेदान्त के सूक्ष्म तत्त्वों का स्थूल रूप से प्रतिपादन और प्रचार करनेवाले पुराणादि तन्त्रों के भी मर्म को ग्रहण करने मे असमर्थ होकर, अनन्त भावों की समष्टिरूप अखंण्ड सनातन धर्म को अनेक खण्डो मे विभक्त कर, साम्प्रदायिक ईर्ष्याद्वेप और क्रोध की अग्नि को भड़काकर उसमे एक दूसरे की आहुति देने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए जिस समय इस धर्मभूमि भारतवर्ष को लगभग नरकभूमि में परिणत कर दिया था, उस समय आर्य-जाति का यथार्थ धर्म क्या है तथा सदा आपस मे लड़नेवाले, ऊपर से कई भागों मे विभक्त प्रतीत होनेवाले, एक दूसरे के सर्वथा विपरीत आचारविचारयुक्त सम्प्रदायो मे बँटे हुए, स्वदेशियो के लिए भ्रम और विदेशियो के लिए घृणा के पात्र हिन्दू धर्म नामक युगयुगान्तरो से विखण्डित एवं देशकाल के

प्रभाव से इधर-उधर बिखरे हुए धर्मखण्ड-समूह के बीच वास्तविक एकता कहाँ है इसे दिखाने के लिए, तथा कालप्रवाह में विनष्ट इस सनातन धर्म के सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वभौमिक स्वरूप को अपने जीवन में समाहित करके सनातन धर्म के जीवन्त उदाहरण के रूप मे लोककल्याणार्थ सभी के सामने निज जीवन को प्रदर्शित करने के लिए भगवान् श्रीरामकृष्ण अवतीर्ण हुए हैं।"

१८७५ ई० के प्रथम भाग मे श्रीरामकृष्ण के साथ केशव की भेंट हुई। भक्त केशवचन्द्र उन्हें देखते ही श्रद्धासम्पन्न हो गये और उनके धर्मजीवन मे एक विचित्र परिवर्तन आ गया। ईसाई धर्म का बखान करनेवाले केशवचन्द्र भारत की वैराग्यमूलक साधनाओं के प्रति आकृष्ट हुए। उन्होंने शारीरिक कठोरता, स्वपाकभोजन आदि आरम्भ कर दिया, यहाँ तक कि हिन्दू देवी-देवताओ की आध्यात्मिक और रूपक व्याख्या करके भाषण आदि भी देने लगे। युक्तिपन्थी ब्राह्मगण केशवचन्द्र की भक्ति की अधिकता, उनका ईसा के प्रति अधिक झुकाव, विशेष साधन-भजन तथा योग, ध्यान आदि नापसन्द करते थे। इस पर ईश्वर के प्रत्यादेश के अनुसार जब वे नवविधान का प्रचार करने लगे, तब तो चरमपन्थी ब्राह्मगण केशव का अनुसरण न कर सके। 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज' मे गृह-विवाद का सूत्रपात हुआ। अन्त मे १८७८ ई० में केशव की अल्पवयस्क कन्या के साथ कूचविहार के महाराजा का विवाह हुआ। इस विवाह के उपलक्ष्य मे केशव अपने ही द्वारा रचित ब्राह्म समाज के नियमों की मर्यादा की रक्षा न कर सके, बल्कि उन्हे बाध्य होकर हिन्दू मत के अनुसार कन्यादान करना पड़ा। इससे ब्राह्म समाज मे एक विराट् आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उस समाज का एक दल

केशवचन्द्र को संचालक एवं आचार्य के पद से अलग करने के लिए प्रयत्नशील हुआ। इस विवाद में लज्जाजनक आत्मदूर्बलता प्रकट करते हुए ब्राह्म समाज फिर से दो भागों में विभक्त हो गया। विरोधी ब्राह्मों ने विजयकृष्ण, शिवनाथ आदि नेताओं को सामने रख कर 'साधारण ब्राह्म समाज' की स्थापना की।

साधारण ब्राह्म समाज के नायकगण केशव के शीघ्र परिवर्तित धर्ममत की तीव्र आलोचना करने लगे। गृहयुद्ध से जर्जरित होकर भी केशव अपने 'नवविधान' का प्रचार करते रहे। श्रीरामकृष्ण के बताये हुए 'सभी धर्म सत्य हैं' तथा 'जितने मत उतने ही पंथ' इत्यादि वाक्यों को आंशिक रूप में हृदयंगम कर वे हिन्दू, ईसाई, बौद्ध आदि धर्मशास्त्रों के अनुसार अपने शिष्यों और अनुयायियों को नये नयें साधन मार्ग प्रदर्शित करने लगे।

'नवविधान' समाज मे केशव ने श्रीरामकृष्णदेव के आदर्श पर 'माँ' का नाम चला दिया और स्वयं भी मातृभाव से भगवान् की साधना में अग्रसर हुए। मातृभाव से भगवान् की उपासना केशवबाबू ने श्रीरामकृष्ण से प्राप्त की थी, इसको अस्वीकार करते हुए बहुत दिनों बाद उस समाज के प्रचारकों ने लेख आदि लिखे थे। प्रोफेसर मैक्समूलर द्वारा रचित श्रीरामकृष्ण की जीवनी मे केशव के धार्मिक जीवन मे परिवर्तन, उन्नति और साधना आदि की आकांक्षा का प्रधान कारण ये महापुरुष ही बताये गये है। इससे उन प्रचारको की यह भावना हुई कि उनके 'आचार्य' का स्थान छोटा किया गया है। अतएव वे लोग लेख एव पुस्तकें लिखकर यह विपरीत प्रचार करने लगे कि श्रीराम-कृष्ण ही केशव के शिष्य बनकर धर्म-जीवन मे उन्नति कर सके थे, इत्यादि-इत्यादि। केशव के परवर्ती काल के शिष्यगण शायद

नही जानते थे कि उन्ही में से एक--'नवविधान चर्च' के अन्यतम मिशनरी बाबू गिरीशचन्द्र सेन ने बहुत समय पूर्व लिखा था--

"भगवान् के मातृभाव सम्बन्धी भाव ब्राह्म समाज ने श्रीरामकृष्ण के जीवन से प्राप्त किये है। विशेषकर हमारे आचार्य (केशवचन्द्र सेन) ने उनसे ईश्वर को 'माँ' कहकर पुकारना और उससे शिशु की सरलता एवं अभिमान के साथ हठ करते हुए प्रार्थना करना सीखा था। इससे पूर्व ब्राह्म धर्म ज्ञानप्रधान और शुष्क तर्क युक्तियों से पूर्ण था। श्रीरामकृष्ण के जीवनादर्श ने ब्राह्म धर्म से शुष्कता दूर कर उसे अधिक प्रिय और भक्तिमय बना दिया था।" (धर्मतत्त्व--१ आश्विन, १८०९ शकाब्द।)'

उदार भाव, सर्वजनीन धर्म इत्यादि के बहाने ब्राह्म समाज में जो लज्जाजनक दलबन्दी शुरू हुई, उससे ब्राह्म धर्म का प्रभाव विशेष रूप से घट गया।

उधर १८७० ई० से ब्राह्म समाज के विरुद्ध सनातनपन्थियों का आन्दोलन सफल होने लगा। इनमें प्रचारक श्रीकृष्णप्रसन्न सेन के प्रयत्न, भाषणशक्ति और कर्मोत्साह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नगर नगर में घूम घूमकर ये परिव्राजक संन्यासी सनातन धर्म का प्रचार करते हुए ब्राह्मभावापन्न शिक्षित व्यक्तियों को फिर से अपने धर्ममत मे लाने लगे। यह देखकर ब्राह्म प्रचारकगण हतोत्साहित हो गये। हिन्दू शास्त्रों पर पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि के व्याख्यानों ने भी कलकत्ता नगर मे कम हलचल पैदा नहीं की। इससे पूर्व शोभाबाजार के राजा कमलकृष्ण बहादुर द्वारा स्थापित 'सनातन धर्मरक्षिणी सभा' भी नवीन शक्ति के साथ उठ खड़ी हुई थी। प्राचीन शास्त्रों की व्याख्या,

सात्त्विक आचार-व्यवहार की स्थापना तथा हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में भाषण, विचारविमर्श और प्रबन्धपाठ आदि होने लगे। इसी समय से देश के सुशिक्षित समाज पर ब्राह्म समाज का प्रभाव घटने लगा। स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय तथा स्वर्गीय आनन्दमोहन बसु के प्रयत्नों से राजनीतिक आन्दोलन भी भलीभाँति उठ खड़ा हुआ और केशव का १८६०-६६ ई० का 'यग बंगाल' उसी ओर झुक पड़ा। तथाकथित धर्म एव समाज-सुधार के द्वारा राष्ट्रीय समस्याओ के हल करने मे असमर्थ होकर शिक्षित व्यक्तिगण राजनीति की सहायता से उनकी मीमांसा करने के लिए अग्रसर हुए।

इसी समय—"उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे, जब हम सुधार के भँवर में पड़कर यह नही समझ पा रहे थे कि किधर जायँ, पाश्चात्य की प्रखर चकाचौध से जब हमारी आँखें चौंधिया रही थी, जब सारा राष्ट्र दिग्भ्रमित हो रहा था, जब राष्ट्र के सामने प्रश्न के बाद प्रश्न, सन्देह के बाद सन्देह धीरे धीरे स्तूपाकार होते जा रहे थे, जब विजातीय पथ पर स्वजाति का सुधाररथ चलने मे असमर्थ होकर रुक सा गया था, एक दीर्घ शताब्दी के सुधार के परिणाम को सोचकर जब हम एक तरह से निराश से होकर बैठ गये थे, आगे 'क्या करें' यह सोच न पा रहे थे, उस समय सुधार के उस झञ्झावात से आन्दोलित और मथित बंगाली समाज के गर्भ से आविर्भूत हुए—स्वामी विवेकानन्द।"

सुधारयुग के प्रवर्तक राममोहन की बात अगर छोड़ दी जाय, तो आज तक उनके बाद के सुधारको ने ध्वस नीति का अनुसरण करते हुए शक्ति का इतना अधिक क्षय किया था कि संगठन या

निर्माण उनके लिए असम्भव और असाध्य हो गया, यहाँ तक कि अन्त में, तोड़ने के प्रबलतम आग्रह से वे अपने समाजशरीर तक को तीन भागो मे विभक्त कर शक्तिहीन और दुर्बल हो गये। अनुदार धर्ममत का प्रचार, पाश्चात्य सभ्यता का अन्ध अनुकरण तथा प्राचीन समाज एवं धर्म के मस्तक पर अकारण अभिशापों की बौछार---बस यही बाद के शक्तिहीन, दुर्बल सुधारकों का एकमात्र पेशा हो गया। इसी कारण तथा और भी कई अन्य गम्भीर कारणों से विजयकृष्ण गोस्वामी ब्राह्म समाज की सीमा को छोड 'विश्व-वैकुण्ठ' के पथ पर निकल पडे। ब्राह्म समाज ने काफी सोचविचार के बाद उनका नाम काट दिया।

गत शताब्दी के सुधारको मे से किसी किसी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी साधारण रूप से विवेकानन्द ने सुधारयुग में कुछ विशेष श्रद्धास्पद नही पाया। विवेकानन्द ध्वस के विरोधी थे। उनका मूल मन्त्र था सगठन। इधर यदि ऐसा कहा जाय कि सुधारको के आदर्श मे संगठन का प्रस्ताव था ही नही, तो यह भी ठीक न होगा, और साथ ही यह भी कहना मिथ्या होगा कि विवेकानन्द के आदर्श एव कार्यप्रणाली में बुराइयों को दूर करने की चेष्टा न थी। फिर भी स्वामी विवेकानन्द ब्राह्म सुधारयुग के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिवाद के रूप मे खड़े हुए थे। कौन कहेगा कि इस प्रतिवाद की आवश्यकता नही थी? जिसका प्रतिवाद किया जाता है, उसके सम्बन्ध मे मनुष्य विशेष रूप से सचेत रहता है। इस दृष्टि से ब्राह्मयुग के सम्बन्ध में विवेकानन्द विशेष रूप से जागरूक थे। और इसीलिए उनमें एक ओर जिस प्रकार राममोहन, विद्यासागर तथा केशवचन्द्र के संस्कारों का प्रभाव और प्रतिवाद देखा गया है, उसी प्रकार दूसरी ओर

राजनारायण, वंकिम और भूदेव की विचारधारा भी साहित्य के द्वारा उनमें संक्रमित हुई है। साथ ही, हम सभी दृष्टियों से उनके व्यक्तित्व और स्वातन्त्र्य को अत्यन्त प्रखर रूप से विकसित हुआ देखते है। देखते है कि वह एक अत्यन्त, अनुपम, उज्ज्वल दीप्ति से इतिहास को आलोकित कर गया है। उनके मानसिक विकास के इतिहास मे हम देखते है कि वे अपने पूर्वगामी सुधार युग को सम्पूर्ण रूप से आत्मसात् करके अग्रसर हुए है। प्रत्येक परवर्ती युगप्रवर्तक को ऐसा करना पड़ता है।

तृतीय अध्याय

साधक विवेकानन्द

(१८८०–८६)

"आजकल यह एक साधारण बात हो गयी है और सभी लोग बिन आपत्ति के ही इसे मान लेते है कि मूर्ति पूजा दोषयुक्त है। मै भी एक समय ऐसा ही सोचा करता था, और इसकी सजा के रूप मे मुझे एक ऐसे व्यक्ति के चरणो मे बैठकर शिक्षालाभ करना पड़ा, जिन्होने मूर्तिपूजा से ही सब कुछ पाया था।"

—**विवेकानन्द**

१८७९ ई० मे प्रवेशिका-परीक्षा मे पास होकर नरेन्द्रनाथ जब कालेज मे प्रविष्ट हुए, उस समय उनकी अवस्था अठारह वर्ष की थी। परीक्षा के लिए तैयार होते समय तीन वर्षो का पाठ-विषय केवल एक वर्ष में ही समाप्त कर लेने के कारण नरेन्द्रनाथ को अत्यधिक मानसिक परिश्रम करना पड़ा था। वे प्रेसिडेन्सी कालेज मे अध्ययन तो करने लगे, परन्तु मलेरिया ज्वर से पीड़ित होकर उन्हे उस वर्ष के लिए कालेज छोड़ना पड़ा। दूसरे वर्ष वे जनरल असेम्बली इन्स्टिटच्यूशन मे भरती होकर एफ. ए. मे पढने लगे।

प्रखर व्यक्तित्वशाली नरेन्द्रनाथ ने बड़ी सरलता से सहपाठियों के बीच अपने को प्रतिष्ठित कर लिया था। अपनी शक्ति पर उनका गम्भीर विश्वास था और तज्जन्य श्रेष्ठत्व का अभिमान उनके चरित्र का एक उज्ज्वल वैशिष्टच बनकर सहपाठियों और अध्यापको की दृष्टि को समान रूप से आकर्षित करता था। कालेज में नरेन्द्रनाथ के कई मित्र और अनुरागी भक्त थे। उनके

सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे केवल नरेन्द्रनाथ की प्रतिभा और सूक्ष्म वुद्धि को देखकर ही उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। प्रतिभा, पाण्डित्य, तर्कशक्ति आदि मानसिक गुणों के अतिरिक्त नरेन्द्र के मधुर संगीत की सम्मोहिनी शक्ति तथा सुदृढ, सवल, ऊँचा पूरा सून्दर शरीर स्वाभाविक रूप से ही भावप्रवण वंगाली युवकों के हृदय को आकर्पित कर लेता था। हमने सुना है कि ऐसे छात्र कालेज में वहुत कम थे, जो उनके पौरुषदीप्त मुखमण्डल के स्निग्ध सौन्दर्य को तथा सवसे वढ़कर, उनके उज्ज्वल तीक्ष्ण-दृष्टिपूर्ण विशाल नेत्रद्वय को देखकर मुग्ध न हुए हों।

नरेन्द्र कभी भी शान्त स्वभाव के न थे। लौकिक व्यवहार में उस समय के प्रचलित ईसाई या ब्राह्म नीति-मार्ग के पथिक वे न थे। उनकी दृष्टि में जीवन एक स्वच्छंद अविराम प्रवाह था। तथाकथित नीतिशासन के विधिनिषेध के वन्धनों मे जकड़कर पंगु होकर केवल 'भला आदमी' सजने की इच्छा उनके जीवन की स्वाभाविक प्रवल गति में किसी प्रकार वाधा न डाल सकी। वे पर-चर्चा करते हिचकते न थे, परन्तु कभी किसी की अनुपस्थिति में उसके सम्वन्ध में कुछ न कहते। जिसे जो कुछ कहना आवश्यक होता, सीधा उसके मुँह पर ही कह देते थे। वालसुलभ सरलता के साथ वे जव किसी व्यक्ति के चरित्र की समालोचना करते हुए तीव्र तथा चुभनेवाली वातों से उसके हृदय को जर्जरित कर डालते, उस समय उपस्थित मित्रों के सामने लज्जित होकर यदि वह व्यक्ति स्वल्प काल के लिए उन पर असन्तुष्ट भी होता, तो दूसरे ही क्षण उसे भूल भी जाता था; क्योंकि उस प्रकार की समालोचना कठोर एवं निर्भीक होने पर भी, उसमें ईर्ष्या या अन्य किसी प्रकार की निम्न भावना नही रहती थी। युवकों

या बालकों का एक अपराध नरेन्द्र की दृष्टि में अक्षम्य था। किसी का आँखे तिरछी करके ताकना, मृदु हास्यपूर्वक नजाकत के साथ वार्तालाप करना, आँख के साथ आँख मिलते ही लज्जा से नतदृष्टि हो जाना, कोमल अंगभंगी और मन्थर गति से चलना तथा इसी प्रकार के अन्य स्त्री-सुलभ हाव-भावों का प्रयत्नपूर्वक आचरण करना वे फूटी आँख भी न देख सकते थे। इस पर यदि कोई छात्र अनावश्यक विलासिता की सामग्रियों का व्यवहार करता, तो उसे नरेन्द्र की कठोर समालोचना के तीव्र वाक्यों के सामने सिर नीचा करके अपनी गलती को स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई उपाय नही रहता।

व्यायाम, कुश्ती, क्रिकेट आदि मे नरेन्द्र की विशेष रुचि थी। शारीरिक शक्ति मे वे अपने समवयस्को मे किसी से कम न थे। शक्तिमान् और प्रतिभाशाली नरेन्द्रनाथ अध्ययन द्वारा थके हुए मस्तिष्क को विश्राम देने के लिए कभी कभी मित्रमण्डली के साथ हास परिहास मे सम्मिलित होते थे। उनके इन सब उच्छृंखल-जैसे आचरणो का कारण समझने मे असमर्थ होकर कई व्यक्ति तरह तरह की कल्पना कर लेते थे और कई लोग कड़ी आलोचना भी करते थे। तेजस्वी, स्वाधीनमना नरेन्द्र अपनी निन्दा सुनकर कभी विचलित नही होते थे, यहाँ तक कि लापरवाही के साथ हँसते हुए वे उस बात को उड़ा देने के अलावा और कभी क़िसी प्रकार का प्रतिवाद न करते थे। तीक्ष्णबुद्धि नरेन्द्रनाथ थोड़े ही समय मे अपना पाठ याद कर सकते थे और इसलिए सगीत, हँसी, खेल आदि के लिए उन्हें पर्याप्त समय मिल जाता था। बेचारे कम बुद्धिवाले अनेक बालक जब कभी उनकी नकल करने की चेष्टा करते, तो वे मानो अपना सर्वनाश

ही कर डालते थे। वाक्पटु और रसिक नरेन्द्रनाथ का केवल बाह्य आचरण देखकर जिन लोगों ने उनके सम्बन्ध मे किसी प्रकार की धारणा बना ली थी, कहना न होगा, वे चाहे उनके अत्यन्त निकट भले ही रहे हों, परन्तु फिर भी इस अद्भुत युवक का यथार्थ परिचय वे नही पा सके थे।

कवि की उद्दाम कल्पना और असाधारण प्रतिभा के साथ जिस समय नरेन्द्रनाथ एकाग्र चित्त से दर्शनशास्त्र या उच्च साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थादि के अध्ययन में संलग्न रहते, उस समय वे एक दूसरे ही व्यक्ति प्रतीत होते थे। एफ. ए. परीक्षा के पहले ही उन्होंने मिल आदि पाश्चात्य नैयायिकों के मतवाद का ज्ञान प्राप्त कर लिया था तथा ह्यूम एवं हर्बर्ट स्पेन्सर के दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था।

जनरल असेम्बली कालेज के अध्यक्ष विलियम हेस्टी साहब बड़े पण्डित, कवि और दार्शनिक थे। नरेन्द्र, ब्रजेन्द्रनाथ सील आदि कुछ प्रतिभाशाली छात्र उनके विशेष प्रिय थे। वे उनके पास नियमित रूप से दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते थे। हेस्टी साहब नरेन्द्र को इतना अधिक चाहते थे कि उन्होंने एक दिन कालेज की 'आलोचना सभा' मे नरेन्द्र के दार्शनिक मतविशेष के विश्लेषण से विशेष सन्तुष्ट होकर कहा था, "He is an excellent philosophical student. In all the German and English Universities there is not one student so brilliant as he." अर्थात्, ये (नरेन्द्रनाथ) दर्शनशास्त्र के अत्युत्तम छात्र हैं। जर्मनी और इँगलैण्ड के सारे विश्वविद्यालयों मे ऐसा एक भी छात्र नहीं है जो इनके समान मेधावी हो।

पाश्चात्य विज्ञान और दर्शनशास्त्रों की आलोचना ने नरेन्द्र के

हृदय मे एक विराट् द्वन्द्व पैदा कर दिया। उनका जन्मगत संस्कार और हृदय में गहरा भिदा हुआ विश्वास चारों ओर की स्थिति के संघर्ष में आकर डगमगाने लगा। अन्तर्निहित भावों के साथ इस प्रकार का प्रबल सघर्ष स्थूल विचारवाले विद्यार्थियों की धारणा से परे था। डा. व्रजेन्द्रनाथ सील आदि कुछ अन्तरग मित्र ही उसे विशेष रूप से जानते थे।

डेकार्ट का अहंवाद, ह्यूम और बेन की नास्तिकता, डार्विन का विकासवाद, और सबसे ऊपर स्पेन्सर का अज्ञेयवाद इत्यादि विभिन्न दार्शनिकों की विचारधारा मे इतस्तत. बहते हुए नरेन्द्र-नाथ सत्य की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठे। व्रजेन्द्रबाबू ने अपने प्रियतम मित्र की इस समय की मानसिक स्थिति का वर्णन किया है। १९०७ ई० की 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका मे उन्होंने जो निबन्ध लिखा था, उसे पढ़कर नरेन्द्रनाथ की मानसिक अशान्ति और विप्लव का एक युक्तिपूर्ण विवरण मिलता है। व्रजेन्द्रबाबू ने उन्हें शेली की कविताओ और हेगेल के दर्शन तथा फरासीसी विप्लव के इतिहास आदि का अध्ययन करने की सलाह दी। क्रमश. बढती हुई ज्ञानपिपासा लेकर नरेन्द्र जितना ही अग्रसर हुए, उतना ही वे समझने लगे कि परम सत्य को प्राप्त करना हो, तो केवल विचारबुद्धि की सहायता से दार्शनिक सूक्ष्म तत्त्वों की मीमासा मे लगे रहने से काम नही चलेगा। परन्तु उपाय क्या है?

इस पंचेन्द्रिय-ग्राह्य जड जगत् के पीछे ऐसा कोई शक्तिमान् पुरुष है या नही, जिसके इशारे से यह जड समष्टि परिचालित हो रही है? इस मानव जीवन का उद्देश्य क्या है? अतीन्द्रिय राज्य के इस प्रकार के रहस्यमय प्रश्नों ने धीरे धीरे उनके

मानसपटल पर उदित होकर उन्हें पागल सा वना डाला। वे समझ गये कि पाश्चात्य विज्ञान एवं दर्शनशास्त्रों ने युक्ति एवं विचार की सहायता से तत्त्व का निर्णय करने अथवा समस्या की मीमांसा करने में उसे केवल अधिकतर जटिल ही वना दिया है। अतः वे सत्य की खोज में संलग्न अपने मन को केवल दर्शन, साहित्य, विज्ञान एवं इतिहास की चर्चा में न लगाकर वहिर्जगत् में जीतेजागते आदर्श की खोज करने लगे। जव कभी कोई धर्म-प्रचारक धर्म या ईश्वर के सम्वन्ध मे भाषण देते, तो नरेन्द्रनाथ अपने अशान्त हृदय की व्याकुलता से उनसे प्रश्न कर वैठते, "महाशय, क्या आपने ईश्वर के दर्शन किये है ?" आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या करनेवाले प्रचारक महोदय इस विचित्र प्रश्न-कर्ता के उत्सुक मुखमण्डल की ओर देखते हुए 'हाँ' या 'ना' इन दोनों मे से किसी का भी उच्चारण तो नही कर सकते थे, परन्तु नाना प्रकार के उपदेशवाक्यों से उन्हें परितृप्त करने का प्रयत्न अवश्य करते थे। इस प्रकार वहुत प्रयत्न करने पर भी वे एक भी प्रत्यक्षवादी का पता न पा सके। उन्हें वस ऐसे ही व्यक्ति मिले, जो केवल पुस्तकी विद्या को दुहरानेवाले या दूसरे धर्मो के दोष को ढूँढनेवाले थे। धर्मप्रचारकों की सम्प्रदायगत रटी हुई वोलियाँ सुनसुनकर वे प्रवल सन्देहवादी हो गये; परन्तु धर्म-प्रचारकों का खोखलापन अथवा पाश्चात्य जड़विज्ञान एव दर्शन की प्रवल युक्तियाँ उनकी सत्य प्राप्ति की आकांक्षा को किसी भी प्रकार न मिटा सकीं। उन्होने हृदय के अन्तस्तल से जान लिया—

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

—'चारो ओर अविद्या से घिरे हुए, अपनी समझ में बड़े बुद्धिमान् बने हुए और स्वयं को पण्डित माननेवाले वे मूढ़, अन्धे के नेतृत्व मे चलनेवाले अन्धों के समान अनेक कुटिल रास्तों पर भटकते रहते है।' कठोपनिषद्—१।२।५

नरेन्द्रनाथ सत्य की उपलब्धि की प्रेरणा से ही ब्राह्म समाज मे गये थे। यह युक्तिवादी, सन्दिग्धचित्त परन्तु सत्यान्वेषी युवक आग्रह के साथ ब्राह्म आचार्यो का उपदेश ग्रहण करता था। अन्त मे कुछ मित्रों के साथ वे साधारण ब्राह्म समाज के सदस्य वने। परन्तु कुछ बँधे हुए मतवादों और नियमित उपासना आदि द्वारा उनकी अत्युत्कट आध्यात्मिक तृष्णा तृप्त न हुई।

ब्राह्म समाज मे सम्मिलित होने के पहले ही नरेन्द्रनाथ राजा राममोहन राय द्वारा लिखित पुस्तकों तथा लेखों से विशेष रूप से परिन्चित हो चुके थे। साधारण ब्राह्म-समाज के सदस्य होकर भी वे महर्पि देवेन्द्रनाथ तथा केशवबाबू के पास तत्त्व की आलोचना के लिए आया जाया करते थे। असाधारण वक्ता और शक्तिशाली पुरुष केशवचन्द्र के अनुरागी होते हुए भी वे नवस्थापित नवविधान समाज मे सम्मिलित न होकर साधारणसमाज मे ही क्यों सम्मिलित हुए, इसके हम चार प्रधान कारण पाते है:—

(१) बचपन से ही वे जातिभेदप्रथा से घृणा करते थे। साधारण ब्राह्म समाज के प्रचारकगण इस समय जातिभेदप्रथा को नष्ट करने के लिए प्राणपण से चेष्टा कर रहे थे। इससे उनकी पूर्ण सहमति थी।

(२) स्त्रियों को धर्मकार्य तथा सामाजिक जीवन में पुरुषों के समान अधिकार देकर सुशिक्षित बना लेने का संकल्प भी उनके मनोनुकूल था।

(३) नवविधान समाज के ब्राह्मों का भावावेश में रोना तथा भक्ति की अधिकता में केशव को 'प्रेरित' पुरुष आदि कहना उन्हें अच्छा न लगा।

(४) राजा राममोहन राय के आदर्श के साथ ब्राह्म समाज का थोड़ा बहुत सम्बन्ध रहते हुए भी वह राजा की इच्छा के अनुसार विकसित नहीं हुआ—इस बात को स्पष्ट समझते हुए उन्होंने किसी विशेष समाज का पूरा पूरा अनुसरण नहीं किया।

ब्राह्म समाज में सम्मिलित होकर भी उपासना के विषय में वे समाज के दूसरे सदस्यों से सहमत न हो सके। बुद्धिमान् तथा दृढ़चेता नरेन्द्रनाथ दूसरों के विचार को बिना स्वयं विचार किये मान लेनेवाले न थे; इसलिए जब कोई उनसे अपना मत मनवा लेने के लिए युक्तियाँ पेश करता, तो वे पाश्चात्य सन्देहवादी दार्शनिकों की युक्तियों को अपनी असाधारण प्रतिभा के बल से इस प्रकार व्यक्त करते कि प्रतिपक्षी को हार माननी ही पड़ती थी। उनके निर्भीक एवं कठोर समालोचक होने पर भी ब्राह्म समाज के कर्णधारगण उनसे विशेष प्रेम रखते थे। नरेन्द्रनाथ रविवार की उपासना के समय सुमधुर कण्ठ से ब्राह्म संगीत गाकर सदस्यों को प्रसन्न करते थे तथा उपासना में सम्मिलित होते थे। परन्तु उनका "स्वाभाविक वैराग्यशील मन, ब्राह्म समाज में त्याग और ज्वलन्त धार्मिक बुद्धि की कमी देखकर, उसकी प्रणालीबद्ध उपासना से तृप्त न होता था।"

बचपन से ही नरेन्द्रनाथ ध्यान में तन्मय हो जाया करते थे। मन:संयम करने के लिए उन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। एक दिन महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने नरेन्द्र को ध्यान करने का उपदेश दिया। कहा, "तुम्हारे अंगप्रत्यंगों में योगियों के चिह्न मौजूद हैं।

ध्यान करने से ही तुम्हें शान्ति और सत्य की प्राप्ति होगी।" पूतचरित्र महर्षि के प्रति नरेन्द्रनाथ की बड़ी श्रद्धाभक्ति थी। इसलिए उनकी बात से नरेन्द्र का ध्यानानुराग द्विगुणित हो गया। यही नहीं, उन्होंने निरामिष और परिमित भोजन, भूमि पर शयन, सफेद धोती और चद्दर की वेषभूषा आदि बाह्य शारीरिक कठोरता का भी अवलम्बन किया। नरेन्द्रनाथ अपने मकान के निकट मातामही के किराये के मकान के एक कमरे में रहते थे। यहाँ पर एकान्त में उनके साधनभजन मे सुविधा होती थी। घरवाले समझते थे, भीड़भाड़ में पढ़ाई की असुविधा होने के कारण नरेन्द्रनाथ घर पर रहना नहीं चाहते हैं। पुत्र की स्वाधीनता में हस्तक्षेप करने के अनिच्छुक विश्वनाथ बाबू ने भी इसके लिए कभी कुछ नहीं कहा। अतः नरेन्द्रनाथ एकान्त में अध्ययन, संगीत की चर्चा आदि करने के बाद शेष समय साधनभजन में व्यतीत करते थे।

इस प्रकार दिन पर दिन बीतते गये, पर सत्य को जानने की उनकी इच्छा तृप्त तो हुई नहीं, अपितु अधिकाधिक बढ़ने लगी। धीरे धीरे उन्होंने समझा कि अतीन्द्रिय सत्य को प्रत्यक्ष करने के लिए एक ऐसे व्यक्ति के चरणों के पास बैठकर शिक्षालाभ करना आवश्यक है, जिसने स्वयं उस सत्य का साक्षात्कार किया है। उन्होंने अपने मन-प्राण से यह भी निश्चय कर लिया कि इसी जीवन में सत्य को प्राप्त करना होगा, नही तो इसी प्रयत्न मे प्राण दे देने होंगे। अगर ऐसा न हुआ, तो इस अशान्तिपूर्ण जीवन को रखकर लाभ ही क्या ? अपने चारों ओर के वातावरण के बीच डूबे हुए, पाश्चात्य दार्शनिकों की विचारधाराओ से क्षुब्ध और आलोड़ित तथा युक्तिवादी ब्राह्म होते हुए भी वे सद्गुरु की प्राप्ति के

लिए व्याकुल हो गये। एक विराट् आध्यात्मिक क्षुधा के आवेश में आकर वे दिनरात सोचने लगे—उन्हें कौन बता देगा कि शान्ति कहाँ है? वे किससे पूछें—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति?'—'हे भगवन्, भला किसको जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है?' वे कहाँ इस प्रकार के तत्त्वदर्शी महापुरुष का दर्शन कर सकेंगे, जिन्होंने अपने जीवन और जगत् की समस्या को हल कर लिया है तथा जगत् के कारणरूपी उस भूमा को जान लिया है, जिनकी ज्ञान-पिपासा तृप्त हो गयी है और जो दूसरों को तृप्त करने में समर्थ है?

कलकत्ते के शिमला मुहल्ले में सुरेन्द्रनाथ मित्र एक दिन अपने घर पर श्रीरामकृष्णदेव को ले आये और उन्होने एक आनन्दोत्सव का आयोजन किया। कोई अच्छा गायक न मिलने के कारण उन्होने अपने पड़ोसी नरेन्द्रनाथ को वुला लिया। १८८१ ई० के नवम्बर मास मे भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के साथ नरेन्द्रनाथ का यही प्रथम परिचय है। उस दिन वे नरेन्द्रनाथ का गाना सुनकर विशेप सन्तुप्ट हुए और वड़े आग्रह के साथ प्रत्येक वात को पूछते हुए उन्होंने उनका परिचय प्राप्त किया। विदा होते समय वे नरेन्द्रनाथ से एक दिन दक्षिणेश्वर मे आने का अनुरोध भी कर गये।

इस बीच एफ० ए० परीक्षा के लिए व्यस्त रहने के कारण नरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर जाने की वात भूल सी गये। परीक्षा समाप्त होने पर उनके पिता उनसे विवाह के लिए आग्रह करने लगे, क्योंकि उनके भावी धनिक श्वसुर ने दहेज के रूप मे नगद दस हजार रुपये देने का वचन दिया था। पर नरेन्द्र तो जन्म से ही विवाह के घोर विरोधी थे। किसी की व्यक्तिगत स्वाधीनता में हस्तक्षेप करना विश्वनाथ वाबू की प्रकृति के विरुद्ध था। उन्होंने

स्वयं तो पुत्र से अनुरोध नही किया, परन्तु दूसरे स्वजनों के द्वारा नरेन्द्र की सम्मति लेने का प्रयत्न किया। श्रीरामकृष्णदेव के गृही भक्तो में अन्यतम, प्रसिद्ध डाक्टर रामचन्द्र दत्त विश्वनाथ बाबू के घर में ही लालित पालित हुए थे और दूर के नाते से उनके सम्बन्धी भी थे। एक दिन विवाह के प्रसंग की आलोचना में नरेन्द्र ने उनसे अपने हृदय की अशान्ति को प्रकट कर विवाह के विघ्नो को समझा दिया। उन्होंने नरेन्द्रनाथ की युक्तियों को सुनकर अन्त में कहा, "यदि वास्तव मे सत्य की प्राप्ति ही तुम्हारा उद्देश्य है, तो ब्राह्म समाज आदि स्थानों में न भटककर दक्षिणेश्वर मे श्रीरामकृष्णदेव के पास चले जाओ।" नरेन्द्रनाथ न जाने क्या सोचकर सहमत हुए और थोड़े ही दिनों बाद दो चार मित्रों के साथ दक्षिणेश्वर जा पहुँचे।

नरेन्द्रनाथ को देखते ही श्रीरामकृष्ण उनके साथ चिरपरिचित की तरह सरल भाव से वार्तालाप करने लगे। सगीत और वार्तालाप समाप्त होने पर एकाएक श्रीरामकृष्ण उन्हें बुलाकर एकान्त मे ले गये। भाव में विभोर हो उन्होंने नरेन्द्र का हाथ पकड़कर स्नेहपूर्ण गद्गद कण्ठ से कहा, "तू इतने दिन तक मुझे भूलकर कैसे रहा! कब से मै तेरे आने की बाट जोह रहा हूँ! विषयी लोगों के साथ बात करते करते मेरा मुँह जल गया है। अब आज से तेरे समान सच्चे त्यागी के साथ बात करके मुझे शान्ति मिलेगी।" और यह कहते कहते उनकी दोनों आँखों में आँसू उमड़ आये। विस्मयपूर्ण स्थिर दृष्टि से नरेन्द्रनाथ इस अद्भुत संन्यासी की ओर ताकते रहे—क्या कहें, कुछ सोच न सके।

देखते ही देखते श्रीरामकृष्णदेव हाथ जोड़कर सम्मान के साथ उन्हे सम्बोधित कर कहने लगे, "मै जानता हूँ, तुम सप्तर्षि-मण्डल

के ऋषि हो—नररूपी नारायण हो; जीवों के कल्याण की कामना से तुमने देह धारण की है।"—इत्यादि।

यह कैसा विचित्र पागलपन है। मैं कहाँ विश्वनाथ दत्त का पुत्र नरेन्द्र, और कहाँ इनकी ये सब बातें!

इसके बाद जब श्रीरामकृष्ण फिर से भक्तों के बीच लौटकर स्वाभाविक रूप से वार्तालाप करने लगे, तो नरेन्द्र ने उनकी विशेष रूप से परीक्षा करके देखा, उनके चालचलन में पागलपन का लवलेश तक नहीं है, उनकी बातों को असम्बद्ध प्रलाप कहकर उड़ा देना भी सहज नहीं है। तब फिर उसमें क्या गम्भीर रहस्य है, यही सोचते सोचते वे घर लौटे।

स्वामी सारदानन्दजी ने 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' नामक ग्रन्थ में नरेन्द्र के दक्षिणेश्वर आने से बहुत दिन पहले घटे श्रीरामकृष्ण के एक दिव्य दर्शन की बात लिखी है। श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था—

"एक दिन देखता हूँ, मन समाधि-पथ में ज्योतिर्मय मार्ग से ऊपर उठता जा रहा है। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्रादि से भरे हुए स्थूल जगत् को सरलता से लाँघकर वह पहलेपहल सूक्ष्म भाव-जगत् में प्रविष्ट हुआ। उस राज्य के उच्च से उच्चतर स्तरों पर वह जितना ही चढ़ने लगा, उतना ही विभिन्न देवी-देवताओं की भावघन विचित्र मूर्तियों को रास्ते के दोनों ओर देखने लगा। धीरे धीरे वह उस राज्य की चरम सीमा पर आ पहुँचा। वहाँ मैंने देखा, एक ज्योतिर्मय रेखा ने खण्ड और अखण्ड के राज्य को अलग अलग कर दिया है। उस रेखा को लाँघकर मन धीरे धीरे अखण्ड के राज्य में प्रविष्ट हुआ। मैंने देखा, वहाँ पर साकार कुछ भी नहीं है। दिव्य देहधारी देवीदेवतागण भी मानो

यहाँ प्रवेश करते भयभीत होकर बहुत दूर नीचे अपना अपना अधिकार चला रहे है ! परन्तु दूसरे ही क्षण देखा, दिव्य ज्योति-सम्पन्न सात श्रेष्ठ ऋषि वहाँ पर समाधिस्थ होकर बैठे हैं। मैं समझ गया कि ज्ञान और पुण्य में, त्याग और प्रेम मे इन्होंने, मानवों की कौन कहे, देवीदेवताओं को भी दूर छोड़ दिया है। मैं विस्मित होकर इन ऋषियों की महानता के बारे में सोच ही रहा था कि एकाएक दीख पड़ा, सम्मुखस्थ अखण्ड के घर के भेदरहित, समरस ज्योतिर्मण्डल का एक अंश घनीभूत होकर दिव्य शिशु के रूप मे परिणत हुआ। उस देवशिशु ने इनमे से एक के पास उतरकर अपनी अपूर्व सुललित बाहुओ से उनके गले को प्रेम के साथ लपेट लिया। इसके बाद वीणाध्वनि से भी सुमधुर अपनी अमृतमयी वाणी से प्रेम के साथ पुकारकर उन्हें समाधि से जगाने के लिए भरसक चेष्टा करने लगा। बालक के कोमल, प्रेमपूर्ण स्पर्श से ऋषि समाधि से जागे और अर्धनिमीलित निर्निमेष नेत्रों से उस अपूर्व बालक को देखने लगे। उनके मुख का प्रसन्नोज्ज्वल भाव देखकर ऐसा लगा, मानो वह बालक बहु काल से उनका परिचित और हृदयनिधि ही हो। वह अद्भुत देवशिशु उस समय असीम आनन्द के साथ उनसे कहने लगा, 'मैं जा रहा हूँ। तुम्हे आना होगा।' उसके इस अनुरोध पर ऋषि ने कहा तो कुछ नही, परन्तु उनके प्रेमपूर्ण नेत्रों ने उनके हृदय की सम्मति व्यक्त कर दी। बाद में उसी प्रकार सप्रेम दृष्टि से बालक को थोड़ी देर देखते देखते वे पुनः समाधिस्थ हो गये। उस समय मैंने विस्मय के साथ देखा, उन्ही के शरीरमन का एक अंश उज्ज्वल ज्योति के रूप मे परिणत होकर विलोम-मार्ग से धराधाम पर अवतरण कर रहा है। नरेन्द्र को देखते ही

मैंने समझ लिया था कि यही वह दैवी पुरुष हैं।"

नरेन्द्र की विचारकुशल सूक्ष्म बुद्धि इस अलौकिक देवमानव के चरित्र का विश्लेषण करने मे पराजित हुई। जिनके पूत संग से केशव बाबू, विजय गोस्वामी आदि शक्तिशाली आचार्यों के धर्मजीवन में अपूर्व परिवर्तन हो गया, उन्हें एक उन्मत्त मान लेना भी बुद्धिहीनता ही होगी। विषम समस्या में पड़कर नरेन्द्रनाथ एकाएक कोई भी स्थिर सिद्धान्त न कर सके और मन ही मन उन्होंने संकल्प किया, "इनकी अच्छी तरह से परीक्षा लिये बिना इन्हें कभी ईश्वरदर्शी महापुरुष न मानूंगा।" परन्तु इस घटना के बाद ही वे एक ऐसे प्रबल आकर्षण का अनुभव करने लगे कि बीच बीच में बाध्य होकर उन्हें दक्षिणेश्वर के उस 'पागल' पुजारी के चरणों में उपस्थित होना ही पड़ता था। श्रीरामकृष्ण का अपूर्व त्याग, शिशु की तरह अभिमानशून्य सरल व्यवहार, विनयनम्र मधुर वाक्य, और सब से बढ़कर उनके गम्भीर निष्काम प्रेम ने नरेन्द्रनाथ के हृदय पर थोड़े ही दिनों में काफी प्रभाव डाल दिया। नरेन्द्र ने देखा, इस देवमानव की कृपा से अनेक व्यक्तियों के जीवन कृतार्थ और धन्य हो गये हैं। परन्तु फिर भी वे इस 'पागल' को एकाएक अपने जीवन का आदर्श न मान सके; यहाँ तक कि लगातार तीन वर्ष तक तरह तरह से उनकी परीक्षा कर चुकने के बाद ही अन्त में उन्होंने उनके श्रीचरणों मे सम्पूर्ण आत्मसमर्पण किया था।

इसीलिए हम देखते है, श्रीरामकृष्ण के पास आते जाते हुए भी नरेन्द्रनाथ ब्राह्म समाज की नियमित उपासना आदि में सम्मिलित होते रहे। राखालचन्द्र घोष (बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द) नरेन्द्र के साथ ही ब्राह्म समाज के सदस्य हुए थे। इन्होंने

नरेन्द्रनाथ से कुछ दिन पहले ही दक्षिणेश्वर में आना जाना शुरू किया था। श्रीरामकृष्ण इनसे पुत्रवत् स्नेह करते और इन्हे सदा अपने पास रखते थे। एक दिन नरेन्द्र राखाल को श्रीरामकृष्ण के पीछे पीछे देवमन्दिर में जाकर प्रतिमा को प्रणाम करते देख बहुत ही क्रुद्ध हुए और श्रीरामकृष्ण के सामने ही उन्हें मिथ्याचारी आदि कहकर डाँटने लगे; क्योंकि राखाल ने भी समाज के "एकमात्र निराकार ब्रह्म की उपासना करूँगा"—इस प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किये थे। अप्रतिभ होकर राखाल को लज्जा से अधोमुख होते देख श्रीरामकृष्ण ने उनके पक्ष का समर्थन करते हुए कहा, "उसको यदि साकार मे भक्ति हो, तो वह क्या करेगा? तुम्हें अच्छा न लगे, तो तुम न करो। पर इस प्रकार दूसरों का भाव नष्ट करने का तुम्हे क्या अधिकार है?" नरेन्द्र चिन्तित होकर चुप रह गये। पर इस घटना से ज्ञात होता है कि उस समय भी नरेन्द्रनाथ के हृदय मे ब्राह्म समाज की उपासनाप्रणाली के प्रति गम्भीर श्रद्धा थी।

निराकार का ध्यान ही नरेन्द्र को अच्छा लगता था। श्रीरामकृष्ण उन्हे उसी भाव का उपदेश किया करते थे। कभी जबरदस्ती उन्हें साकार में विश्वास करने के लिए अनुरोध न करते थे; यहाँ तक कि उन्होंने कभी नरेन्द्रनाथ को ब्राह्म समाज में जाने से भी मना नहीं किया। उन्होंने कभी किसी के स्वाधीन धर्माचरण में हस्तक्षेप नही किया। अन्तर्दृष्टिसम्पन्न वे महापुरुष देखते ही यह समझ लेते थे कि किसके मन में क्या है और उसी के भाव के अनुसार साधना की विशेष विशेष प्रणाली का अवलम्बन करने का उपदेश देते थे। बलपूर्वक किसी का भाव नष्ट करने का अभिप्राय उनका कभी न था।

श्रीरामकृष्ण पहले से ही समझ गये थे कि इस युवक को समय पर जगत् के सैकड़ों हजारों धर्मपिपासु नरनारियों की आध्यात्मिक तृष्णा मिटानी होगी, पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण के गर्व से दिग्भ्रान्त स्वदेशवासियों को लुप्तप्राय सनातन धर्म के पथ पर लौट आने के लिए पुकारना होगा। और सब से बढ़कर, उन्होंने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी कि उनके जीवन में प्रकाशित 'जितने मत उतने ही पथ' रूपी सार्वभौमिक आदर्श के प्रचारकार्य मे नरेन्द्रनाथ ही सब से अधिक योग्य अधिकारी है। भविष्य को सोचकर श्रीरामकृष्ण उन्हें सर्व मतों के आधारस्वरूप वेदान्त में वर्णित साधनमार्ग में परिचालित करने के लिए प्रयत्नशील हुए। पर नरेन्द्रनाथ सगुण निराकार के ध्यान मे आस्था रखनेवाले थे। इसलिए उन्होंने अद्वैतवाद का ग्रहण काफी समय बाद किया। ब्राह्म समाज के धर्ममत के अनुसार श्रीरामकृष्ण की बात का प्रतिवाद करते हुए वे कह उठते, "'मैं ही ब्रह्म हूँ', यह बात कहने के सदृश और दूसरा पाप नही है।"

बार बार सुनकर भी नरेन्द्रनाथ स्वयं इस बात पर विश्वास नही करते थे कि वे अधिकारी पुरुष है और जगदम्बा की विशेष कार्य-सिद्धि के उद्देश्य से अवतीर्ण हुए हैं। एक दिन दक्षिणेश्वर मे केशव, विजय आदि ब्राह्म-नेतागण बैठे थे। नरेन्द्र भी वहाँ उपस्थित थे। श्रीरामकृष्ण भावस्थ होकर उन सब को देखने लगे। अन्त मे जब केशव और विजय विदा हो गये, तो भक्तों को सम्बोधित कर वे बोले, "भाव मे मैंने देखा, केशव ने जिस शक्ति के बल से प्रतिष्ठा प्राप्त की है, नरेन्द्र मे उस प्रकार की अठारह शक्तियाँ है! केशव और विजय के मन मे ज्ञानदीप जल रहा है, नरेन्द्र में ज्ञानसूर्य विद्यमान है।"

इस प्रकार की अयाचित प्रशंसा से साधारण व्यक्ति घमण्ड से छाती फुला लेता, इसमें सन्देह नहीं; पर नरेन्द्रनाथ ने उसी समय उसका प्रतिवाद करके कहा, "क्या कहते हैं आप ? कहाँ विश्वविख्यात केशव सेन और कहाँ एक नगण्य, स्कूल का लड़का नरेन्द्र ! लोग सुनेंगे तो आपको पागल कहेंगे।" श्रीरामकृष्ण ने ईषत् हास्य कर सरल भाव से उत्तर दिया, "मैं क्या करूँ भला ? माँ ने दिखा दिया, इसीलिए कहता हूँ।"

जगन्माता की दुहाई देकर भी श्रीरामकृष्ण नरेन्द्रनाथ की समालोचना से छुटकारा न पा सके, क्योंकि नरेन्द्रनाथ तब भी श्रीरामकृष्ण के उन सब अपूर्व दर्शन आदि के प्रति विशेष श्रद्धावान् न हो सके थे। उन्होंने सन्दिग्ध होकर कहा, "माँ ने दिखा दिया या आपके मस्तिष्क का ख्याल है, कैसे समझूँ ? मुझे तो, महाराज, यदि ऐसा होता, तो यही विश्वास कर लेता कि यह मेरे मस्तिष्क का ही ख्याल है।"

पाश्चात्य दार्शनिकों के स्वाधीन विचार के पोषक मतवादों के साथ भलीभाँति परिचय रहने के कारण जब नरेन्द्र पहलेपहल श्रीरामकृष्णदेव के जगन्माता के साथ वार्तालाप, ईश्वरीय रूप के दर्शन आदि को मस्तिष्क का भ्रम कहा करते थे, तो अन्य भक्तगण उनके साथ तर्क करने लग जाते थे। इस प्रकार के तर्क में कई तो उनकी तीक्ष्ण युक्तियों के सामने निरुत्तर होकर खिन्न हो जाते थे।

भारतवर्षीय ब्राह्म समाज के केशव, प्रताप बाबू, चिरंजीव बाबू आदि नेताओं का श्रीरामकृष्ण के सत्संग में आकर जो भावान्तर हुआ था, उसका उल्लेख हमने पहले ही किया है। ब्राह्म समाज के दूसरे भक्तगण भी श्रीरामकृष्ण के पास धर्मतत्त्व

सुनने की इच्छा से आयाजाया करते थे परन्तु जब विजय गोस्वामी ने अपने धर्ममत के परिवर्तन के कारण साधारणसमाज के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर दिया, उस समय शिवनाथ आदि कुछ ब्राह्म नेताओं ने श्रीरामकृष्ण के पास आनाजाना छोड़ दिया। उनको भय हुआ कि कहीं वे भी श्रीरामकृष्ण के प्रभाव में आकर धर्ममत का परिवर्तन न कर लें। शिवनाथ ब्राह्मों को श्रीरामकृष्ण के पास जाने का निषेध करने लगे। नरेन्द्रनाथ का श्रीरामकृष्ण के पास आना जाना भी शिवनाथ बाबू से छिपा न था। उन्होंने नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर मे जाने की मनाई कर दी और कहा, "वह सब समाधि, भाव जो कुछ देखते हो, स्नायु की दुर्बलता के ही चिह्न है। अत्यधिक शारीरिक कठोरता का अभ्यास करने के कारण परमहंस का मस्तिष्क बिगड़ गया है।"

नरेन्द्र ने कुछ उत्तर न देते हुए शिवनाथ बाबू का उपदेश सुन लिया। उनके मन में उस समय एक आँधी सी बह रही थी। क्या वे त्यागीकुलशिरोमणि, सरल, उदार, प्रेमिक पुरुष विकृतमस्तिष्क है? वे क्या है? कौन है वे? क्यों वे मुझ जैसे क्षुद्र व्यक्ति के लिए सदा चिन्तित रहते है? श्रीरामकृष्ण के अपूर्व, निष्काम प्रेम का कारण खोजते हुए उन्हे कोई युक्ति न मिली। यह कैसी रहस्यपूर्ण समस्या है। नरेन्द्र सन्देहपूर्ण चित्त से गम्भीर चिन्तन मे निमग्न हो गये।

वे ब्राह्म समाज के अधिकांश नेताओं से परिचित थे और उनके चरित्र की दृढता, पाण्डित्य आदि देखते हुए उनके प्रति निष्कपट श्रद्धा भी रखते थे। परन्तु वे इस बात पर व्यग्र थे कि इतने दिन ब्राह्म समाज में उपासना प्रार्थना आदि करके भी उनका हृदय शान्त क्यों न हुआ!

एक दिन ईश्वरप्राप्ति के लिए तीव्र व्याकुलता लेकर नरेन्द्र घर से निकल पड़े। महर्षि देवेन्द्रनाथ उस समय गगाजी पर एक नौका में रहा करते थे। नरेन्द्र गंगा किनारे पहुँचकर जल्दी से नौका पर चढ़ आये। उनके जोर से धक्का देने पर दरवाजा खुल गया। महर्षि उस समय ध्यानमग्न थे, एकाएक शब्द सुनकर चौक उठे। देखा, सामने उन्मत्त की तरह तीक्ष्ण दृष्टि से ताकते हुए नरेन्द्रनाथ खड़े है। महर्षि को थोड़ी देर के लिए भी सोच-विचार या प्रश्न करने का अवसर न दे वे आवेगरुद्ध कण्ठ से बोल उठे, "महाशय, क्या आपने ईश्वर के दर्शन किये है?" विस्मयचकित महर्षि ने न जाने क्या उत्तर देने के लिए दो बार चेष्टा की, परन्तु शब्द मुख में ही रह गये। अन्त में बोले, "नरेन्द्र, तुम्हारी आँखे देखकर समझ रहा हूँ कि तुम योगी हो।" उन्होंने नरेन्द्र को कई तरह का आश्वासन देकर कहा कि वे यदि नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास करे, तो ब्रह्मज्ञान के अधिकारी बन सकेंगे, इत्यादि। नरेन्द्र प्रश्न का कोई ठीक उत्तर न पाकर निराश हृदय से घर लौट आये। सोचने लगे यदि महर्षि की तरह भक्तिमान्, ईश्वरप्रेमिक भी आज तक ईश्वर के दर्शन नही कर सके, तो अब वे किसके पास जायँ? तो क्या यह सब झूठ है—धर्म, ईश्वर आदि बाते मानव की कल्पना से उत्पन्न आकाश-कुसुम की तरह मिथ्या है?

घर लौटकर नरेन्द्रनाथ ने दर्शन शास्त्र और धर्म सम्बन्धी पुस्तकों को दूर फेंक दिया। यदि वे उन्हे ईश्वर प्राप्ति मे सहायता न दे सकी, तो व्यर्थ में उनके पाठ से क्या लाभ? रातभर जागकर नरेन्द्रनाथ कितनी ही बातें सोचने लगे। एकाएक दक्षिणेश्वर के उस अद्भुत प्रेमिक की बात उन्हें स्मरण हो

आयी। सारी रात असहनीय उत्कण्ठा में विताकर नरेन्द्र भोर होते ही दक्षिणेश्वर की ओर दौड़ पड़े। गुरुदेव के श्रीचरण-कमलों के पास पहुँचकर उन्होंने देखा, सदानन्दमय महापुरुष भक्तों से घिरे हुए अमृतमधुर उपदेश प्रदान कर रहे हैं।

नरेन्द्र के हृदय में मानो समुद्रमन्थन आरम्भ हुआ। यदि वे भी 'नहीं' कह दें, तो फिर क्या होगा? वे फिर किसके पास जायेंगे? अन्तःप्रकृति के साथ बहुत देर तक संग्राम करने के बाद अन्त में जिस प्रश्न को वे अनेक धर्माचार्यों से पूछ चुके थे, पर आज तक कोई भी जिस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देने में समर्थ न हुआ था, उसी प्रश्न को दुहराकर उन्होंने कहा, "महा-राज, क्या आपने ईश्वर के दर्शन किये हैं?"

मृदु हास्य से महापुरुष का प्रशान्त मुखमण्डल अपूर्व शान्ति और पुण्य की आभा से उद्भासित हो उठा। उन्होंने तनिक भी सोचविचार न करते हुए उत्तर दिया, "बेटा, मैंने ईश्वर के दर्शन किये हैं। तुम्हें जिस प्रकार प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, इससे भी कहीं अधिक स्पष्ट रूप से उन्हें देखा है।" नरेन्द्र का विस्मय सौगुना बढ़ाते हुए उन्होंने फिर से कहा, "क्या तुम भी देखना चाहते हो? यदि तुम मेरे कहे अनुसार काम करो, तो तुम्हें भी दिखा सकता हूँ।"

श्रीरामकृष्ण की अपूर्व वाणी सुनकर उनका उछलता हुआ आनन्द मुहूर्त मात्र में ही सन्देह के अन्धकार में विलुप्त हो गया। श्रीरामकृष्ण की वाणी से उन्हें जिस पथ का संकेत मिला, वह फूलों से बिछा हुआ न था। इसके लिए तो उन्हें इस अर्धोन्माद व्यक्ति के चरणों में पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर तीव्र, कठोर साधना में अग्रसर होना होगा। ब्राह्म समाज के आदर्श से

अनुप्राणित नरेन्द्रनाथ एकाएक श्रीरामकृष्ण को गुरु न बना सके। परन्तु थोड़े दिन बाद एक विशेष घटना से वे ब्राह्म समाज से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करने के लिए बाध्य हुए।

इसके बाद बहुत दिनों तक नरेन्द्र दक्षिणेश्वर नहीं गये। श्रीरामकृष्ण उन्हें देखने के लिए बहुत व्याकुल हो उठे। उस दिन रविवार था। अतः ब्राह्म समाज में जाने पर वे अवश्य ही नरेन्द्र को देख सकेंगे, इस आशा से वे सायंकाल 'साधारण समाज' की उपासना में उपस्थित हुए। आचार्य उस समय वेदी से व्याख्यान दे रहे थे। ईश्वर की कथा सुनकर भाव में उन्मत्त श्रीरामकृष्ण अनजान में ही वेदी के पास पहुँच गये। नरेन्द्र ने उनके आने का कारण अनुमान से समझ लिया और उनके पास आकर उनकी गिरती हुई भावमय देह को पकड़ लिया। परन्तु यह देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये कि श्रीरामकृष्णदेव को सामने देखकर वेदी पर बैठे हुए आचार्य का उठ खड़ा होना तो दूर रहा, उन्होंने तथा दूसरे ब्राह्मों ने उनसे सम्भाषण तक न किया और न साधारण भद्रतासूचक शिष्टाचार का ही प्रदर्शन किया। कई लोगों के मुँह पर अवज्ञामिश्रित विरक्ति के चिह्न भी स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगे। इसी बीच मे श्रीरामकृष्ण समाधिमग्न हो गये। उन्हें देखने के लिए अनेक लोग आग्रह प्रकट करने लगे, इससे उपासनागृह में गड़बड़ी और कोलाहल होते देख संचालकों ने गैस की बत्तियाँ बुझा दी। नरेन्द्र बहुत कष्ट के साथ मन्दिर के पिछले दरवाजे से श्रीरामकृष्ण को बाहर निकाल लाये और उन्हें दक्षिणेश्वर भेज दिया। श्रीरामकृष्ण के प्रति ब्राह्मों के इस प्रकार के आचरण से नरेन्द्र के हृदय में गहरी चोट पहुँची और यह देखकर कि उन्हीं के लिए श्रीरामकृष्ण को इस प्रकार

अपमानित होना पड़ा, क्षुब्ध और व्यथित हो नरेन्द्र फिर कभी ब्राह्म समाज में नही गये।

सूक्ष्म योगदृष्टि की शक्ति से नरेन्द्र के महिमान्वित और उज्ज्वल भविष्य को देखकर ही श्रीरामकृष्णदेव उनके प्रति आकर्षित हुए थे। नरेन्द्र ने भी उनकी असीम निष्ठा, जगज्जननी पर पूर्ण निर्भरता, त्यागमय पवित्र जीवन आदि देखकर एक प्रकार से अपने अनजान मे ही उनके श्रीचरणो मे आत्मसमर्पण कर दिया था। पर श्रीरामकृष्ण के अन्यान्य भक्तगण पहलेपहल नरेन्द्र को उतनी श्रद्धा की दृष्टि से नही देख सके। नरेन्द्र के लिए श्रीरामकृष्ण की तीव्र व्याकुलता कई लोगों की दृष्टि में रहस्यमय प्रतीत होती थी। प्रबल आत्मविश्वास से उत्पन्न नरेन्द्रनाथ के निष्कपट निर्भीक आचरण साधारण मनुष्य की स्थूल दृष्टि मे दम्भ और औद्धत्य से जान पड़ते थे। विशेषतः, भक्तों का भावावेश मे रोना, बात बात मे दयामय भगवान् की कृपा के लिए प्रार्थना करना, अपने को कीटानुकीट के समान हेय मानकर आत्मनिन्दा करना आदि बातो की नरेन्द्र कठोर आलोचना करते थे। वे तो यही उचित समझते थे कि पुरुष, पुरुष की ही तरह मस्तक ऊँचा करके दृढ उद्यम और अटूट सकल्प के साथ भगवान् की आराधना करे। इसीलिए कई भक्त नरेन्द्र की कठोर समालोचना से निरुत्तर होकर दुःखी हो जाते थे। सभी बातों में निःसंकोच स्वाधीन व्यवहार, स्पष्टवादिता आदि के लिए वे कई लोगों के अप्रिय भी थे, परन्तु फिर भी उनकी उदासीन प्रकृति पर लोगो की निन्दाप्रशसा का कोई प्रभाव न पड़ता था। साधारण मनुष्य उन्हें कुछ भी क्यों न समझे, श्रीरामकृष्ण जानते थे कि नरेन्द्र निर्भीक और सत्यवादी है, उनकी वाणी और कार्य

में कहीं पर जरा भी कपट नहीं है।

बचपन से ही नरेन्द्रनाथ के हृदय में जब कोई सन्देह उत्पन्न होता था, तो उसकी मीमांसा कर लिये बिना उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त होती थी। रातदिन सोचकर भी वे श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का स्थिर निश्चय करने में असमर्थ हो अस्थिर हो उठे और इस अस्थिरता के कारण ही वे दृढ़ता और सतर्कता के साथ श्रीरामकृष्ण के पास आना-जाना करने लगे; यहाँ तक कि उनकी परीक्षा करने के लिए दक्षिणेश्वर मे रात्रिवास भी करने लगे।

श्रीरामकृष्ण की परीक्षा लेना, उनकी बात को हँसकर उड़ा देना इत्यादि बाह्य आचरण के माध्यम से नरेन्द्र का जो अ-नमनीय व्यक्तिस्वातन्त्र्य प्रकट होता था, उसे दम्भ मानकर श्रीरामकृष्ण के अनेक भक्त विरक्त हो जाते थे। पर जो लोग घनिष्ठ परिचय के फलस्वरूप नरेन्द्र के गम्भीर अन्तस्तल से परिचित थे, वे ही जानते थे कि श्रीरामकृष्ण के प्रति उनकी श्रद्धाभक्ति कितनी असीम थी। जिन श्रीरामकृष्ण की कृपा का कणमात्र प्राप्त कर कई भक्त आनन्द मे आपे से बाहर हो जाते थे, करुणा की उसी मन्दाकिनीधारा को नरेन्द्रनाथ ने धीर स्थिर भाव से खड़े होकर सिर पर लिया था। वास्तव मे स्वार्थ के लवलेश से शून्य इस अपूर्व आध्यात्मिक प्रेमसम्बन्ध का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। एक दिन बात बात मे श्रीरामकृष्ण एकाएक बोल उठे, "तू यदि मेरी बात नही सुनता, तो फिर यहाँ क्यो आता है?" नरेन्द्र ने उसी समय उत्तर दिया, "आपको चाहता हूँ, इसीलिए देखने को आता हूँ, बात सुनने के लिए नही!" नरेन्द्र का यह उत्तर सुनकर श्रीरामकृष्ण भावानन्द

से गद्‌गद हो उठे। मन की गुप्त बात प्रकट हो जाने से नरेन्द्र विशेष रूप से लज्जित हुए।

श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र के प्रति जिस प्रकार स्नेह का प्रदर्शन करते थे, उसे देखकर उन्होंने एक दिन मजाक में कहा था, "पुराण में लिखा है, भरत राजा हरिण के बारे में सोचते सोचते मृत्यु के बाद हरिण हुए थे। आप मेरे लिए जैसा करते हैं, उससे आपकी भी दशा वैसी ही होगी।" यह बात सुनकर बालक की तरह सरल श्रीरामकृष्ण ने चिन्तित होकर कहा, "सच तो है रे, तो फिर क्या होगा भला? मैं तो तुझे देखे बिना नहीं रह सकता।" सन्देह का उदय होते ही श्रीरामकृष्ण कालीमन्दिर में माँ के पास दौड़ गये। थोड़ी देर के बाद हँसते हुए लौटकर उन्होंने कहा, "जा मूर्ख, मै तेरी बात नहीं सुनूँगा। माँ ने कहा, तू उसे (नरेन्द्र को) साक्षात् नारायण मानता है, इसीलिए उससे प्रेम करता है। जिस दिन उसके भीतर नारायण को न देख सकेगा, उस दिन उसका मुँह भी न देखेगा।"

श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को देखते ही यह समझ लिया था कि वे एक उच्च अधिकारी पुरुष है और दैवी शक्तिसम्पन्न विशुद्धचित्त साधक हैं। इसीलिए उन्होंने नरेन्द्र पर अपने अहेतुक प्रेम की अजस्र वर्षा कर उन्हें उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति के पथ में परिचालित किया था।

एक दिन नरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण के सामने भक्तों के बीच में बैठे थे। श्रीरामकृष्ण ने प्रसंगक्रम से कहा, "इसके (उनके अपने शरीर के) भीतर जो है, वह शक्ति है। उसके (नरेन्द्र के) भीतर जो है, वह पुरुष है, वह मेरी ससुराल है।" इन बातों को सुनकर नरेन्द्र धीरे से हँस पड़े। मन ही मन सोचा, फिर

पागलपन शुरू हुआ !

भक्तगण ईश्वरविषयक संगीत तथा पारमार्थिक चर्चा कर रहे थे। धीरे धीरे दिन समाप्त होते देख वे सभी चुप हो गये। सामने सुविशाल गंगा वक्ष में लहरों की चोटियों पर नाचती हुई दिगन्त की पीताभ किरणें धीरे धीरे अदृश्य हो गयीं। सन्ध्या की धूसर छाया दूसरी ओर के सौधशिखरों और वृक्षशीर्षों को अस्पष्ट करने लगी। अभी तक मन्दिर में सन्ध्या आरती की घण्टाध्वनि प्रारम्भ नहीं हुई थी। श्रीरामकृष्ण एकदृष्टि से नरेन्द्रनाथ की ओर देख रहे थे; एकाएक आसन से उठकर उन्होंने अपना दाहिना चरण उनके स्कन्ध पर रखा। उसी समय नरेन्द्र का अभूतपूर्व भावान्तर हुआ। उन्होंने अनुभव किया, मानो उनके आसपास की दृश्यमान सभी वस्तुएँ एक अनन्त सत्ता में विलीन हो गयीं; केवल वे अकेले रह गये, अन्त में उनका 'मैपन' भी विलीन होने लगा। वे भय और विस्मय से चीत्कार कर उठे, "अजी, तुमने मेरा यह क्या किया ? मेरे माँबाप जो हैं !"

श्रीरामकृष्ण के उनकी छाती पर हाथ रखते ही वे फिर से स्वाभाविक स्थिति में आ गये और देखा, अद्‌भुत देवमानव उनके सामने खड़े होकर हँस रहे है। चिरकाल से नरेन्द्रनाथ को अपनी दृढ़हृदयता पर जो गर्व था, आज वह जडमूल से चूर चूर हो गया ! वे मातापिता की ममता से अन्ध होकर, नामरूप की सीमा को तोडकर योगियों के ईप्सित चिदानन्द-समुद्र में न कूद सके।

जो महापुरुष केवल अपने स्पर्श से एक साधारण व्यक्ति को अनेक जन्मों की साधना की फलरूपी सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक सम्पद्---समाधि-धन---का अधिकारी बना सकते है, वे भी पागल नहीं है। उन्होंने फिर सोचा, यह सम्मोहन विद्या

(Hypnotism) तो नही है ? अतः नरेन्द्रनाथ इस विषय में सतर्क हो गये कि श्रीरामकृष्ण भविष्य मे उन पर अपना प्रभाव विस्तारित कर उनका इस प्रकार से पुनः भावान्तर न कर सकें।

इधर वी० ए० की पढ़ाई के साथ ही साथ नरेन्द्र अपने पिता के आदेशानुसार सुप्रसिद्ध अटर्नी निमाईचरण वसु के पास अटर्नी का काम सीखने लगे। पुत्र को गृहस्थ वनाने के लिए विश्वनाथ वावू उनके विवाह की तैयारी करने लगे। नरेन्द्र दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पास आया जाया करते हैं यह वात उन्हें ज्ञात थी, परन्तु इसकी वे विशेष चिन्ता नहीं करते थे। वी० ए० में पढ़ते समय नरेन्द्र ने रामतनु वसु लेन के अपनी मातामही के मकान में अपना पढ़ने का कमरा स्थिर कर लिया था। आत्मीय स्वजन तथा अन्य लोगों के आने जाने से पिता का घर सदा कलरव से मुखरित रहता था। इससे उनकी पढ़ाई में विशेष विघ्न होता था। नरेन्द्रनाथ धनी की सन्तान थे, तो भी इस कमरे मे उनके साधारण विस्तर पर कुछ पाठ्य पुस्तके, एक तानपूरा तथा कुछ अन्य सामग्री को छोड़कर और कोई सामान न था। निर्जन वास, ध्यान, शारीरिक कठोरता और संयम के अभ्यास आदि के साथ वे एक सच्चे ब्रह्मचारी की तरह अपना जीवन व्यतीत करने लगे। कभी कभी दक्षिणेश्वर से श्रीरामकृष्ण वहाँ पर आकर उन्हें साधनभजन के सम्वन्ध में नाना प्रकार के उपदेश दे जाते थे। नरेन्द्रनाथ के साथ श्रीरामकृष्ण की इतनी घनिष्ठता उनके घरवालो के लिए उतनी प्रीतिकर न थी। पर कोई भी उनके कार्य का प्रतिवाद करने का साहस न करता था। सभी जानते थे, स्वाधीनचेता नरेन्द्र को निषेध करके नियन्त्रित करना सम्भव नही। पर विवाहित जीवन के प्रति उनके प्रवल

वैराग्य और संसार के प्रति अनासक्त भाव आदि को देखकर घरवाले तथा मित्रगण कुछ भयभीत से हुए।

बी० ए० परीक्षा के लिए अधिक दिन बाकी न थे। एक दिन शाम हो जाने के पश्चात् नरेन्द्र पाठ्य पुस्तक में मन लगाने का प्रयत्न कर रहे थे कि इसी समय उनके एक सहपाठी मित्र वहाँ आये और गम्भीर भाव से नरेन्द्र को नाना प्रकार के उपदेश देने लगे। उनका कहना था कि दर्शनशास्त्रों की चर्चा, साधुसंग, धर्मालोचना आदि पागलपन छोड़ जिससे सासारिक 'सुख-सुविधा' हो, उसी के लिए प्रयत्न करना कर्तव्य है। कुछ दिनों से तथा-कथित सासारिक अनुभवी व्यक्तियों से नरेन्द्र इसी प्रकार का उपदेश पाते आ रहे थे। अब प्रिय मित्र के मुँह से भी उसी प्रकार का उपदेश सुनकर उन्होंने व्यथित हृदय से अपनी मानसिक अशान्ति का वर्णन करके कहा, "मै समझता हूँ कि संन्यास ही मानवजीवन का सर्वोच्च आदर्श होना चाहिए। नित्यपरिवर्तनशील अनित्य संसार के पीछे सुख की कामना से इधर उधर दौडने की अपेक्षा उस अपरिवर्तनीय 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' को पाने के लिए प्राणपण से कोशिश करना सौगुना श्रेष्ठ है।"

वैराग्य के प्रेमी नरेन्द्रनाथ जब उत्साह के साथ त्याग की महिमा का वर्णन करने लगे, तो उनके मित्र से उनका तर्क आरम्भ हो गया। थोड़ी देर मे उत्तेजित होकर उनके मित्र ने कहा, "देखो नरेन, तुम्हारी जिस प्रकार बुद्धि और प्रतिभा थी; उससे तुम जीवन मे काफी उन्नति कर सकते थे, परन्तु दक्षिणेश्वर के श्रीरामकृष्णदेव ने तुम्हारी बुद्धि विगाड़ दी है। यदि कुशल चाहते हो, तो उस पागल का संग छोड़ दो, नही तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा।"

नरेन्द्रनाथ चुप रहे। ये मित्र श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में नाना प्रकार के प्रश्न करने लगे। अन्त में नरेन्द्र उठकर कमरे के अन्दर टहलने लगे। उनका व्यथित मुखमण्डल गम्भीर हो उठा। बहुत देर बाद मौन भंग करके उन्होंने कहा, "भाई, तुम श्रीराम-कृष्णदेव को नहीं समझ रहे हो। अधिक क्या कहूँ, मैं स्वयं भी उन्हें पूरी तरह से नहीं समझ सका हूँ। फिर भी मैं उस सरल, सौम्य महापुरुष को क्यों चाहता हूँ, यह कह नहीं सकता।"

मित्र दुःखी हो, यह सोचकर वहाँ से चले गये कि श्रीराम-कृष्ण के 'संग-दोष' से नरेन्द्र की बुद्धि बिगड़ गयी है।

नरेन्द्रनाथ नाना प्रकार की विरुद्ध समालोचनाओं की परवाह न करते हुए अपने निर्दिष्ट पथ पर ही चलने लगे। बी० ए० की परीक्षा समाप्त हुई। इस परीक्षा की तैयारी के लिए उन्हें कठोर मानसिक परिश्रम करना पड़ा था। थकावट को दूर करने के लिए वे बीच बीच में सहपाठी मित्रों के साथ संगीत, हँसी आदि आमोद-प्रमोद में सम्मिलित हो जाते थे। नरेन्द्र को बाध्य होकर ही मित्रों के आनन्दोत्सव में सम्मिलित होना पड़ता था, क्योंकि वे लोग एक तरह से जबरदस्ती ही उन्हें ले जाते थे।

एक दिन निमन्त्रित होकर नरेन्द्र वराहनगर के किसी मित्र के यहाँ गये थे। रात में मित्रों के साथ वे संगीत, हास-परिहास आदि में संलग्न थे कि इसी समय उस कमरे में आकर एक व्यक्ति ने समाचार दिया कि नरेन्द्रनाथ के पिता एकाएक हृदयरोग से परलोक सिधार गये है। उज्ज्वल आलोकपूर्ण उस कमरे में नरेन्द्रनाथ ने अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार देखा। जल्दी जल्दी उन्मत्त की तरह घर आकर देखा—उनके गौरव और गर्व के हिमालय सदृश पितृदेव की मृत देह को घेरकर

माता और भाईबहिन सभी रो रहे हैं। नरेन्द्र का दृढ़ हृदय विचलित हो उठा, पितृशोक से अधीर होकर वे आँसू बहाने लगे।

नामी वकील विश्वनाथ दत्त धन तो यथेष्ट कमाते थे, पर उदार और मुक्तहस्त होने के कारण भविष्य के लिए कुछ भी संचय न कर सके थे। जिस परिवार का मासिक व्यय एक हजार रुपयों से अधिक रहा है, वह अब कैसे चलेगा; विधवा माता अपने बच्चों और परिवारवालों को लेकर अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार देखने लगी। सांसारिक विषयों में उदासीन नरेन्द्रनाथ एकाएक धनाभाव के कठोर आघात से चौक पड़े। हमेशा से लाड़प्यार में, प्रचुरता के बीच में पले हुए भाई-बहिनों को दाने दाने के लिए तरसते देख उनका हृदय टूट गया। सुखसम्पत्ति के समय जो लोग परम मित्र थे, संसार के चिरकाल के नियमानुसार दुःखविपत्ति के समय वे किनारा काट गये। तीक्ष्णवुद्धि नरेन्द्रनाथ सब कुछ समझ गये, पर उन्होंने सुधबुध न खोयी। धैर्य के साथ वे निर्धनता की पीड़ा सहन करने लगे। मित्रों को पारिवारिक दुःखद स्थिति की बात उन्होंने जानने न दी। एक ओर वे कानून की परीक्षा की तैयारी करने लगे और उधर काम-धन्धे की खोज भी करने लगे। तीन चार महीने बीत गये, परन्तु फिर भी किसी प्रकार का सुभीता न हो सका। अन्न के अभाव से किसी किसी दिन घरवालों को आहार भी प्राप्त नहीं होता था। घर में खाद्य द्रव्य की कमी को गुप्त रूप से जानकर नरेन्द्रनाथ माता से यह कहकर कि मेरा बाहर निमन्त्रण है, घर में भोजन न करते थे। वे एक प्रकार से उपवास करके अथवा बहुत थोड़ा ही खाकर दिन बिताने लगे। लगातार उपवास से उनका शरीर कृश और दुर्बल हो गया। यहाँ तक कि

किसी किसी दिन प्रबल क्षुधा की ज्वाला से वे मूर्च्छित की तरह पडे रहते थे। कुछ सहृदय मित्र अवश्य ही इस विपत्ति में उनकी आर्थिक सहायता करने को उद्यत हुए थे, पर जन्म से आत्म-निर्भरशील नरेन्द्रनाथ ने विनीत भाव से उन सहायताओं को ग्रहण करने से इनकार कर दिया। पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए वे भिक्षा स्वीकार कर लेगे, यह सोचना तक उनके लिए असह्य था। ये मित्रगण नरेन्द्रनाथ के गम्भीर आत्मसम्मान को जानते थे। इसलिए प्रत्यक्ष रूप से सहायता करने मे असमर्थ होकर वे बीच बीच मं भोजन के लिए उन्हे निमन्त्रण देते रहते थं। वे किसी किसी दिन विशेप कार्य का वहाना कर निमन्त्रण स्वीकार करने मे अपनी असमर्थता प्रकट करते थे और किसी किसी दिन दिखावटी प्रफुल्लता और आनन्द के साथ आमोद-प्रमोद मे सम्मिलित होते थे। परन्तु उनसे भोजन के लिए अनुरोध करते ही उनका प्रफुल्ल मुखमण्डल गम्भीर हो उठता था, उनके दु.खी मन मे परिवार के कष्ट एक एक करके आने लगते थे--मन में आता था, प्राणों से प्यारे भूखे भाईबहिनों के मलिन मुखण्डल की उपेक्षा कर वे स्वयं कैसे स्वादिष्ट भोज्य वस्तुओं का ग्रहण कर सकेगे ?

भाग्यचक्र के सहसा घूम जाने से जिन्हें कैशोर और यौवन के सन्धिकाल मे पितृहीन होकर, खाली हाथ, परिवारवालों के भरणपोषण का भार अपने कन्धे पर लेकर जीवनसंग्राम में अग्रसर होना पडा है, वे ही नरेन्द्रनाथ की वर्तमान स्थिति का अनुमान कर सकते है। भाग्य के प्रतिकूल होते ही अपने पिता के मित्रों को सम्वन्ध विच्छेद करते देख नरेन्द्र वडे विस्मित हुए। संसार की शोचनीय कृतघ्नता का बीभत्स रूप देखकर

उनका चित्त विद्रोही हो उठा। आहत आत्माभिमान को निश्चल धीरता के साथ सयत रखते हुए युवक नरेन्द्र नंगे पैर, नगे सिर दोपहर की धूप मे इधर उधर नौकरी की खोज में कलकत्ते के राजपथों पर घूमते रहते और सन्ध्या को दिनभर के निष्फल प्रयत्न की थकावट से चूर चूर हो घर लौट आते। इसी तरह उनके दिन बीतने लगे। इसी बीच उनके दुःख को भरपूर कर डालने के लिए एक और नवीन विपत्ति सिर पर आ पड़ी। उन्ही के खानदान के एक व्यक्ति ने उन्हे उनके घर से निकाल देने के लिए एक मुकदमा खड़ा कर दिया!

एक दिन प्रातःकाल नरेन्द्रनाथ भगवान् के नाम का उच्चारण करते हुए बिस्तर से उठ रहे थे कि उन्होंने अपनी माता को कहते हुए सुना, "चुप रह छोकरे, बचपन से ही केवल भगवान्-भगवान्! भगवान् ने ही तो यह सब किया!"

ये शब्द उन्हे लग गये और इससे उनका अभिमान प्रचण्ड रूप से जाग उठा। तो क्या सचमुच मे भगवान् निर्धन का कातर क्रन्दन नही सुनते, या सुनना नही चाहते? क्या वे निश्चल निर्विकार होकर, हाथ समेटकर इस निष्ठुर सृष्टि की दानवी लीला देख रहे है? जो भगवान् इस लोक में क्षुधार्तों को एक टुकड़ा रोटी देकर जीवित नही रख सकते, वे ही अन्त मे अक्षय स्वर्ग में अनन्त सुख का अधिकारी बनायेगे, यह कैसे सम्भव है? तो क्या ईश्वर नाम का कुछ भी नही है? हाँ, है। पर वह मंगलमय या दयामय नही है—वह निर्विकार है। दुःखी के क्रन्दन से उसका हृदय नही पिघलता—वह हृदयहीन है!

अपने मित्रों के पास नरेन्द्र कभी कभी अपनी ईश्वरसम्बन्धी इस नवीन धारणा की बात प्रकट कर देते थे। किस मर्मभेदी

दुःख के साथ वे ईश्वर की चिरप्रतिष्ठित प्रभुता को दुःसह अभिमान से अस्वीकार करते थे, यह साधारण मनुष्य कैसे समझेगा ? इससे कई लोगों की यह धारणा हो गयी कि नरेन्द्रनाथ नास्तिक हो गये। पुरुषकार की सहायता से ईश्वर के विरुद्ध खड़े होने के पीछे जिस गर्वदृप्त आत्मशक्ति की प्रेरणा है, जिस महिमान्वित त्याग का विकास है, दृढविश्वासी भक्त का जो असीम अनुराग है, वह साधारण मनुष्य की दृष्टि में नही आ सकता।

इसे समझा था एकमात्र भगवान् श्रीरामकृष्णदेव ने। कभी कभी घरगृहस्थी के कामों में फँस जाने के कारण नरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर नहीं जा सकते थे। तब श्रीरामकृष्ण उन्हें देखने के लिए व्याकुल होकर दूसरे भक्तों से नरेन्द्रनाथ को दक्षिणेश्वर ले आने का अनुरोध करते थे। कलकत्ते के कुछ भक्तों के कान मे यह बात पड़ी कि कुसंगति में पड़कर नरेन्द्र की चालचलन बिगड़ गयी है, अब पहले जैसा धर्मभाव उनमें नहीं है! यह सब झूठी निन्दा सुनकर सन्देहवश कुछ भक्त नरेन्द्र की परीक्षा लेने गये। उनके वार्तालाप में सन्देह का आभास पाकर नरेन्द्र का रुद्ध अभिमान जागृत हो उठा। उन्होंने सोचा, कैसा आश्चर्य है! बाहर के लोग जो कुछ कहते हैं, उसमें ये लोग भी विश्वास कर लेते हैं! सम्भव है, श्रीरामकृष्ण ने भी उस झूठी बदनामी पर विश्वास करके ही इन लोगों को परीक्षा लेने के लिए भेजा हो। मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न होते ही नरेन्द्र के हृदय में तीव्र अभिमान जाग उठा। उनके कटु उत्तरों को सुनकर उन भक्तों ने श्रीरामकृष्ण के पास जाकर कहा, "नरेन्द्र का अधःपतन हो गया है इसमें सन्देह नहीं।"

श्रीरामकृष्ण अपने प्राण से भी प्यारे नरेन्द्र की सांसारिक विपत्ति आदि की बात इससे पहले ही जानकर मन में तीव्र वेदना का अनुभव कर रहे थे; अब नरेन्द्र के स्वभाव-पवित्र चरित्र पर इस प्रकार कलंक का आरोप सुनकर उन्होंने भक्तों से कहा, "चुप रहो, मूर्खो ! माँ ने बताया है, वह कभी ऐसा नही हो सकता। फिर कभी ऐसी वात कहोगे, तो मैं तुम लोगों का मुँह तक न देखूंगा !"

नरेन्द्र पर श्रीरामकृष्ण का कितना दृढ़ विश्वास था, यह समझ सकना कठिन है। एक दिन प्रसिद्ध डाक्टर बाबू महेन्द्रलाल सरकार ने नरेन्द्र की प्रशंसा करते हुए श्रीरामकृष्ण से कहा था, "ऐसा बुद्धिमान् लड़का मैंने बहुत कम देखा है। इस उम्र में इतना पाण्डित्य और साथ ही इतनी नम्रता ! ये सब लडके यदि धर्म के लिए अग्रसर हों, तो देश का बड़ा कल्याण होगा।" नरेन्द्रनाथ की प्रशंसा सुनकर श्रीरामकृष्ण ने विह्वल हृदय से एकाएक कह दिया, "ऐसा भला क्यों न हो ? अबकी तो इसी के लिए यहाँ का (अपने शरीर की ओर दिखाकर) आना हुआ !"

दुर्दम्य अभिमान के कारण यद्यपि नरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर नहीं गये, फिर भी चिरकाल से उन्हें अपने दृढ़हृदय होने का जो अहंकार था, वह चूर चूर हो गया। घोर प्रयत्न करते हुए भी वे अपने हृदय से श्रीरामकृष्ण की स्मृति को न मिटा सके। उन महापुरुष की कृपा से उन्होंने जिन अद्भूत आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्राप्त किया था, उन्हीं अनुभूतियों ने उनके मानस-पटल पर बार-बार उदित होकर उनकी कल्पित नास्तिकता को हटा दिया। वे विस्मित होकर सोचने लगे—यह मैं क्या कर रहा हूँ ? केवल धनोपार्जन और परिवार का पालन करते हुए,

जैसे तैसे लकीर पीटते हुए जीवन व्यतीत कर देने के लिए मेरा जन्म तो नही हुआ है। मेरे जीवन का उद्देश्य महान् है, मेरा लक्ष्य तो अखण्ड सच्चिदानन्द की प्राप्ति है। निदान, दिन स्थिर करके नरेन्द्रनाथ ससार छोड़ने के लिए गुप्त रूप से तैयारी करने लगे।

उसी दिन श्रीरामकृष्ण ने कलकत्ते के किसी भक्त के घर शुभागमन किया। नरेन्द्रनाथ यह समाचार पाकर वहाँ आ पहुँचे। इच्छा थी, गृह-त्याग करने के पहले श्रीगुरुदेव के चरणों की वन्दना करके ससार से सदा के लिए विदा ग्रहण कर लूँ। परन्तु ऐसा न हुआ। श्रीरामकृष्ण के व्याकुल अनुरोध को टालने में असमर्थ हो उन्हे दक्षिणेश्वर जाना पड़ा।

श्रीरामकृष्ण भावाविष्ट होकर पलकहीन नेत्रों से नरेन्द्र की ओर ताक रहे थे, विशाल नेत्रों से अविरल अश्रुधारा वह रही थी। विह्वल नरेन्द्रनाथ के हृदय की सचित व्यथा विगलित होकर नेत्रों के रास्ते से निकल पड़ी। उनके विद्रोही मन पर यह कैसी रहस्यमय, प्राणमय प्रेरणा थी! दोनों ही निर्वाक् थे। अन्य उपस्थित भक्तगण विस्मय से स्तम्भित हो गये। वहुत देर वाद श्रीरामकृष्ण उठ खड़े हुए और सकरुण नेत्रों से नरेन्द्र की ओर देखते हुए स्नेहस्निग्ध स्वर में वोले, "वेटा, कामिनी और कांचन का त्याग हुए बिना कुछ न होगा।" श्रीरामकृष्ण को डर था कि कही नरेन्द्रनाथ ससार मे लिपट न जायँ। दोनों चुपचाप थे, परन्तु दोनों के नेत्र डवडवाये हुए थे। इस अद्भुत व्यापार का रहस्य जानने के लिए एक भक्त ने जव कौतूहलवश प्रश्न किया, तो श्रीरामकृष्ण ने मृदु हास्य के साथ उत्तर दिया, "हमें आपस में कुछ हो गया!" रात्रि में नरेन्द्र को एकान्त में ले जाकर

श्रीरामकृष्ण ने उन्हें तरहतरह से सान्त्वना और उपदेश देते हुए कहा कि जितने दिन उनका शरीर है, उतने दिन संसार में रहना होगा; और यह भी वार बार कहने लगे कि उन्होंने किसी विशेष कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही जन्म ग्रहण किया है। दूसरें दिन प्रातःकाल जिस समय नरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर से घर लौटे, तो एक अभूतपूर्व आनन्द और आशा के सन्देश ने मानो उनके हृदय के पहाड़ जैसे भार को हटा दिया। अब श्रीरामकृष्ण उनकी दृष्टि मे रहस्यमय उन्मत्त न रह गये, अव वे उनके जीवन के चरम आदर्श, गुरु, पिता—सर्वस्व बन गये।

देखा गया है कि हमारे देश में बहुधा नाबालिग और विधवा की सम्पत्ति को हड़पने के प्रयत्न होते रहते है। खानदानवालो के षड़यन्त्रपूर्ण मुकदमे के लिए नरेन्द्रनाथ तैयार होने लगे। दावेदारों ने मकान का बँटवारा कर लेने के लिए अदालत से सहायता माँगी। उनका उद्देश्य था—मकान के अच्छे हिस्से पर अधिकार प्राप्त करना। माता भुवनेश्वरी निरुपाय हो गयी। विपत्ति पर विपत्ति के आघात से मर्माहत सिह की तरह नरेन्द्रनाथ अन्तिम शक्ति के साथ विपक्ष पर आक्रमण करने के लिए तैयार हो गये। उनका प्रण था, अन्याय के सामने, असत्य के सामने कभी सिर न झुकायेगे। अदालत मे मुकादमा चलने लगा। नरेन्द्र के स्वर्गीय पिताजी के मित्र प्रसिद्ध बैरिस्टर उमेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय (W. C. Banerjee) ने स्वयं प्रवृत्त होकर मुकदमा चलाने का भार ले लिया। इस मुकदमे से सम्बन्धित कुछ घटनाओं मे नरेन्द्र की तीक्ष्ण बुद्धि, चरित्र की दृढ़ता आदि का परिचय मिला था। जव विपक्ष के वकील नरेन्द्रनाथ से जिरह कर रहे थे, उस समय नरेन्द्रनाथ के निर्भीक, स्पष्ट, धीर और गम्भीर उत्तर सुनकर

तथा यह जानकर कि वे कानून पढ़ रहे हैं, जज साहब हर्ष से बोल उठे, "युवक, समय आने पर तुम एक अच्छे वकील बनोगे।" जज साहब ने सारी स्थिति समझकर नरेन्द्र के पक्ष में राय दे दी। मुकदमे में जीत का समाचार पाते ही नरेन्द्रनाथ आनन्द के साथ अदालत से माँ के पास दौड़े जा रहे थे कि विपक्ष के अटर्नी ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें रोका और आनन्द के साथ कहा, "जज साहब से मै भी सहमत हूँ। कानून ही आपका योग्य क्षेत्र है। मैं आपका उज्ज्वल भविष्य चाहता हूँ।"

नरेन्द्र ने साँस रोककर दौड़ते हुए घर आकर माँ से कहा, "माँ, मकान रह गया!" भुवनेश्वरी ने आनन्द में अपने को भूलकर विजयी पुत्र को छाती से लगा लिया। दुःख के बीच भी भगवान् इसी तरह से कभी कभी आनन्द का दृश्य ला देते है— यही संसार है!

दिन के बाद दिन बीतने लगे, पर नरेन्द्र की सांसारिक परिस्थिति में कुछ विशेष सुधार नही हुआ। एक दिन उन्होंने सोचा, सम्भव है श्रीरामकृष्ण की कृपा से कुछ सुधार हो भी सकता है। मन में यह बात उठते ही वे दक्षिणेश्वर चले आये। अपने प्रिय नरेन्द्र को पा श्रीरामकृष्ण आनन्द से विभोर हो गये, परन्तु नरेन्द्र की प्रार्थना सुनकर उनका मुखमण्डल गम्भीर हो उठा। असीम विश्वास के साथ नरेन्द्र ने उनसे कहा, "महाराज, मेरी माँ और भाईबहनों को दो दाना अन्न खाने को मिल सके, इसके लिए आप अपनी माँ (कालीमाता) से कुछ अनुरोध कर दीजिये।" श्रीरामकृष्ण ने कहा, "अरे, मै कभी माँ से कुछ नहीं माँगता। फिर भी, तुम लोगों का भला हो, इसके लिए एक बार अनुरोध किया था। पर तू तो माँ को मानता ही नहीं, इसीलिए माँ तेरी

बात पर कुछ ध्यान नहीं देती।"

घोर निराकारवादी नरेन्द्र की साकार में जरा भी निष्ठा न थी। मूर्तिपूजाविरोधी नरेन्द्रनाथ इस परिस्थिति में क्या करेंगे?—अविश्वास? अब तो अविश्वास के दिन चले गये थे। तो फिर क्या विश्वास?—पर, क्या बिना प्रमाण के ही साकार में विश्वास करेंगे? यह कैसे सम्भव है? नरेन्द्रनाथ सिर झुकाकर रह गये।

पर श्रीरामकृष्ण उनके लिए क्या नहीं कर सकते थे? उन्होंने जिसके दुःख को जानकर स्वयं भिक्षा के लिए निकल पड़ने का संकल्प किया था, क्या वे उसी नरेन्द्र के अनुरोध की उपेक्षा कर सकते थे? परन्तु लीलामय श्रीरामकृष्ण भी छोड़नेवाले न थे। वे शिष्य की परीक्षा लेने के लिए बार बार कहने लगे, "माँ की कृपा के बिना कुछ न होगा।" नरेन्द्र को निरुत्तर देख उन्होंने कहा, "अच्छा आज मंगलवार है, मैं कहता हूँ आज रात को कालीमन्दिर में जाकर माँ को प्रणाम करके तू जो कुछ माँगेगा, माँ तुझे वही देगी।"

विश्वास रहे या न रहे, श्रीरामकृष्णदेव की प्रस्तरमयी जगन्माता क्या चीज है, इसकी परीक्षा करके देखना होगा—नरेन्द्र ने यही सोचा।

अस्ताचलगामी भुवन भास्कर की आरक्त रश्मिमाला इधर उधर बिखरे हुए छोटे छोटे मेघखण्डों पर सुनहली रेखाएँ अंकित करती हुई धीरे धीरे विलीन हो गयी। देवालयों में सन्ध्या का आरती वाद्य मृदु गम्भीर स्वर में उठकर कर्मश्रान्त चित्त पर एक अपूर्व प्रशान्ति की वर्षा करने लगा। श्रीरामकृष्ण उठकर बरामदे में टहलते हुए मधुर कण्ठ से भगवान् के नाम का कीर्तन

करने लगे। दीर्घ उन्नत देह, आजानुलम्बित वाहुद्वय, प्रशस्त ललाट पर महिमा की बिखरी हुई द्युति, नेत्रों में शान्तोज्ज्वल करुणा—इस सब ने नरेन्द्रनाथ की दृष्टि को मोहित कर स्थिर बना दिया। क्या वे सोच रहे थे कि ईश्वर की चिर-जागृत महिमा के घनीभूत मूर्तिस्वरूप ये अद्‌भुत देव-मानव उनकी दुर्बल कल्पना से परे—बहुत परे है, जहां उनकी विचारवुद्धि पहुँच ही नही सकती ?

रात एक प्रहर वीत गयी। नरेन्द्रनाथ सन्दिग्ध चित्त से कालीमन्दिर की ओर चले। आज श्रीरामकृष्ण की कृपा से मेरे परिवार के दुःखकष्टों का अन्त होगा, यह सोचकर उत्कण्ठित आनन्द से उनका चित्त नाच उठा।

उन्होंने देखा—जगदम्वा के भुवनमोहन रूप से श्रीमन्दिर आलोकित है। सामने पत्थर की मूर्ति नही, वरन् 'मृणमय आधार मे चिन्मयी प्रतिमा' वराभय हस्त फैलाकर असीम दया के साथ स्नेहपूर्ण स्मित कर रही है। उसके बाद उन्होंने क्या देखा, क्या समझा, यह वे ही जाने और जाने उनके अद्‌भुत गुरु श्रीरामकृष्ण-देव। सारांश यह कि नरेन्द्र सव कुछ भूल गये। भक्तिविह्वल चित्त से प्रार्थना कर वैठे, "माँ! विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो, भक्ति दो! माता तुम्हारी कृपा से सदा ही तुम्हें देख सकूँ!"

नरेन्द्र लौट आये। श्रीरामकृष्ण ने पूछा, "क्या माँगा ?" तब कही उन्हें अपने पूर्व सकल्प की याद आयी। अरे, उन्होंने यह क्या किया! श्रीरामकृष्ण के आदेश पर वे पुनः मन्दिर मे गये। दूसरी, और तीसरी वार भी, वे मुँह खोलकर माँ के चरणों में सासारिक सुख के लिए प्रार्थना न कर सके। जन्म से ही वैराग्य की ओर झुका हुआ उनका मन, वीच वीच में सांसारिक

दुःखकष्टों से विचलित होने पर भी, पार्थिव भोगसुख की कामना से क्षुब्ध नही हुआ था। वे कैसे अन्नवस्त्र के लिए प्रार्थना करते? ऐसा कौन मूर्ख है, जो कल्पवृक्ष के नीचे जाकर अमृतफल को छोड़ कुम्हड़े के लिए प्रार्थना करेगा?

अन्त में श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ के आग्रह पर उन्हें आश्वासन देते हुए कहा, "तू जब माँग न सका, तो तेरे भाग्य में सांसारिक सुख ही नही है। फिर भी तुम लोगों को सूखी रोटी और मोटे वस्त्र की कमी न होगी।" नरेन्द्र को आश्वासन मिला। उन्हें अपने स्वयं के लिए तो 'सांसारिक सुख' की आवश्यकता थी ही नहीं।

उसी दिन से नरेन्द्र के जीवन के एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ हुआ। यह अध्याय बड़ा ही रहस्यपूर्ण है, वह साधारण मानवबुद्धि के परे है। अदृश्य रूप से किसी कुशलता के साथ श्रीरामकृष्ण 'स्वामी विवेकानन्द' को तैयार कर रहे थे, यह वर्णन कर सकना लेखक की शक्ति से बाहर है। आश्चर्यमय थे ये त्यागी-कुलशिरोमणि साधक, और उनसे भी अधिक आश्चर्यमय थे उनके गुरुदेव!

श्रीसद्गुरु की कृपा से नरेन्द्रनाथ के परिवार का अभाव अनेकांश में दूर हुआ। नरेन्द्र अटर्नी आफिस में काम करके तथा कुछ पुस्तकों का अनुवाद करके जीविका चलाने लगे। अन्त में स्थायी रूप से विद्यासागर महाशय के स्कूल में उन्होंने अध्यापन-कार्य स्वीकार कर लिया।

१८८३ ई० से १८८४ ई० तक श्रीरामकृष्ण को कलकत्ते के लोगों ने अच्छी तरह से जान लिया। नरनारियों के दल के दल उनके दर्शन के लिए, उनके श्रीमुख की, बच्चों के भी समझने

योग्य, सरल मधुर उपदेशवाणी सुनने के लिए दक्षिणेश्वर में आने जाने लगे। विश्वविद्यालय के कुछ श्रेष्ठतम अर्धमुकुलित फूलों को चुनकर श्रीरामकृष्ण आकाश जैसे उदार एक आदर्श धर्मसंघ की गठन में तत्पर हुए। बारह वर्षों की कैसी गम्भीर और दुस्तर तपस्या तथा साधना के द्वारा जगदम्बा ने इस अभिनव आदर्श पुरुष का निर्माण किया—इसका अनुमान स्वल्पबुद्धि मानव भला कैसे करेगा! जिनकी इच्छामात्र से नरपशु पलभर मे देवत्व प्राप्त कर लेता था, जिनके स्पर्शमात्र से एक साधना-रहित व्यक्ति भी अनायास समाधि की प्राप्ति कर सच्चिदानन्द की उपलब्धि करता था, जिनके कृपाकटाक्ष से एक मुहूर्त में इष्टदर्शन होता था, फिर भी जो अपूर्व विनय और सहजसरल भाव से अपने को दीनातिदीन बताते थे, जो पाँच वर्ष के बालक की तरह माता पर सम्पूर्ण निर्भर रहते हुए प्रत्येक वाक्य और कार्य में जगदम्बा के मुख की ओर ताकते थे, जो अखिल आध्यात्मिक अनुभूतियों के समष्टि-स्वरूप थे और सभी धर्मों के, सभी मतमतान्तरों के धर्मपिपासुओ के चित्त को शान्ति प्रदान करते थे—उनकी धारणा स्वल्पबुद्धि मानव भला कैसे कर सकता है!

इस बीसवी शताब्दी की सभ्यता का गर्व करनेवाले, सन्दिग्ध-चित्त, धर्मभ्रष्ट, भोगलोलुप, मोह से अन्ध लोगों के परित्राण के लिए एक महान् आदर्श की आवश्यकता हुई थी, और उसी के परिपूर्ण प्रकाशस्वरूप भगवान् श्रीरामकृष्ण इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे। तभी तो विवेकानन्द ने एक दिन गेरुआ रंग के साफे से सुशोभित सिर को ऊँचा उठाकर समग्र राष्ट्र को अपनी मेघ-गम्भीर वाणी से सुनाया था, "यदि तुम्हारी आँखें हों, तभी तुम उसे देख सकोगे; यदि तुम्हारे हृदय का द्वार खुला

हो, तभी तुम उसका पता पा सकोगे। वह अन्धा है—एकदम अन्धा है, जो समय का संकेत नहीं देख सकता, नही समझ सकता। क्या देखते नहीं, सुदूर गॉव में निर्धन ब्राह्मण माँ-बाप से पैदा हुआ यह बालक आज उन सब देशों में प्रत्यक्ष पूजित हो रहा है, जो अनेक सदियों से मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठाते आ रहे है ?"

१८८५ ई० के मध्य भाग में श्रीरामकृष्ण के गले के रोग को धीरे-धीरे बढ़ते देख भक्तगण चिन्तित हुए। अन्त में चिकित्सा के लिए वे कलकत्ता लाये गये। शहर में रहने की बड़ी असुविधा थी। अतएव भक्तों ने कलकत्ते के उत्तर भाग में स्थित काशीपुर मे एक बगीचेवाला मकान किराये पर ले लिया और श्रीरामकृष्ण को वहाँ ले गये। राखाल, बाबूराम, शरद, शशी, काली, तारक, लाटू आदि बालक-भक्तगण सेवाकार्य मे नियुक्त हुए और बलराम, रामचन्द्र, गिरीश, ईशान आदि गृहस्थ भक्तगण ऊपरी देखभाल करने लगे। श्रीरामकृष्ण की हमेशा सुधि लेने तथा उनकी सेवादि की व्यवस्था करने के लिए नरेन्द्रनाथ ने अगस्त महीने मे ही अध्यापन का कार्य छोड़ दिया। श्रीरामकृष्ण के काशीपुर मे रहते समय वे भी घर छोड़कर वहीं पर आ गये।

श्रीरामकृष्ण के बालक भक्तगण धीरे धीरे प्रयोजन की गुरुता को समझते हुए एक एक करके काशीपुर के बगीचे मे आकर गुरुसेवा मे नियुक्त हो गये। धीरे धीरे उन्होंने कालेज छोड़ा। यहाँ तक कि घर पर जो दो बार भोजन करने के लिए जाते थे, उसे भी छोड़ दिया। इससे कई बालकों के अभिभावक आशंकित हो गये और बीच बीच मे अपने लड़कों को घर लौटा लाने के लिए वहाँ आने लगे। बालकों को अभय देते हुए नरेन्द्रनाथ ने

उन्हें रोकने का भार अपने ऊपर लिया। नरेन्द्र के सामने कोई ठहर न सकता था, फलतः अभिभावकों की चेष्टा सफल न हो सकी।

दवा, चिकित्सा, सेवाटहल में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई, परन्तु रोग धीरे धीरे प्रबल रूप धारण करता गया। कई लोग यह समझ गये कि श्रीरामकृष्ण अपनी शक्ति को शिष्यों में संचारित कर लीला समाप्त करने की तैयारी कर रहे है। फिर भी आशाभरे हृदय से अमंगल की सारी चिन्ताओं को हटाकर भक्तगण प्राणपण से श्रीरामकृष्ण की सेवा करने लगे।

गुरु और शिष्य का आपस में क्या अपूर्व सम्बन्ध था, यह तो श्रीरामकृष्ण ही जानें। वे नरेन्द्र से किसी प्रकार की सेवा नहीं लेते थे—नहीं ले सकते थे। प्रत्यक्ष रूप से गुरुसेवा के अधिकार से वंचित नरेन्द्र को लाचार होकर केवल देखरेख के काम से ही सन्तुष्ट रहना पड़ा।

काशीपुर का उद्यान-भवन केवल रोगीनिवास और शुश्रूषागार ही नहीं रहा—वह एक ही साथ मठ और विश्वविद्यालय भी बन गया। कभी भक्तगण साधनभजन करते, तो कभी तरह तरह से शास्त्रपाठ, इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि की चर्चा चलती। श्रीरामकृष्ण के प्रेम की सुधा पीकर मस्त बने हुए इन प्रेमी पुरुषों के जीवन के सर्वश्रेष्ठ आनन्दमय दिन इस पवित्र तीर्थ मे ही बीते थे।

नरेन्द्रनाथ अनन्यचित्त होकर श्रीगुरुदेव द्वारा प्रदर्शित उपाय से साधनापथ में द्रुत उन्नति करने लगे। वह प्रबल उत्साह, कठोर इन्द्रियनिग्रह, भरपूर विश्वास के साथ सत्य को प्राप्त करने के लिए प्राणपण से किया गया प्रयत्न वर्णनातीत है। किसी किसी

दिन वे रात को दक्षिणेश्वर चले जाते और पंचवटी के नीचे ध्यान करने लगते। नरेन्द्रनाथ का तीव्र अनुराग देख श्रीरामकृष्ण बड़े आनन्दित हुए। एक दिन नरेन्द्र को बुलाकर वे बोले, "देख, साधना करते समय मुझे अष्टसिद्धियाँ मिली थीं। उनका किसी दिन कोई उपयोग नहीं हुआ। तू ले ले, भविष्य में तेरे बहुत काम आयेंगी।"

नरेन्द्र ने पूछा, "महाराज, क्या उनसे भगवत्प्राप्ति में कोई सहायता मिलेगी?"

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "नहीं, सो तो नहीं होगा, पर इहलोक की कोई भी इच्छा अपूर्ण न रहेगी।"

तनिक भी सोचविचार न करते हुए त्यागीश्रेष्ठ नरेन्द्र ने उत्तर दिया, "तब तो महाराज, वे मुझे नहीं चाहिए।"

वास्तव में इस समय नरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण की पवित्र संगति में मानो एक दूसरे ही मनुष्य बन गये थे। वे दिनरात केवल भगवच्चिन्तन में डूबे रहते थे। सत्य को प्राप्त करने के लिए उनमें तीव्र व्याकुलता की अग्नि प्रज्वलित हो गयी थी। उन्हें देखते ही ऐसा लगता था, मानो पिंजरे में आबद्ध सिंह कारागार को तोड़कर बाहर निकलने के लिए असीम आग्रह के साथ छटपटा रहा हो।

त्याग से पवित्र, चरित्र से उन्नत, संकल्प से अटल ये तरुण युवकगण श्रीरामकृष्ण को आदर्श बनाकर काशीपुर के उद्यान भवन में दुश्चर तपस्या में व्रती हुए। श्रीरामकृष्ण की सेवा को लक्ष्य बनाकर घर द्वार तथा स्वजनों को छोड़नेवाले युवकगण एक साथ रहने के फलस्वरूप एक अपूर्व आध्यात्मिक प्रेमसम्बन्ध मे एक दूसरे के साथ आबद्ध हो गये। यहीं पर भावी रामकृष्ण

संघ की नींव पड़ी। इस समय एक दिन श्रीरामकृष्ण ने अपने तरुण शिष्यों को संन्यास देने का संकल्प किया। शुभ दिन में शिष्यों के हाथों में गेरुआ वस्त्र देकर उन्होंने उनके नेता नरेन्द्रनाथ को बुलाकर कहा, "क्या तुम लोग सम्पूर्ण निरभिमानी बनकर भिक्षा की झोली कन्धे पर लिये राजपथों पर भिक्षा माँग सकोगे?" वे श्रीगुरुदेव के आदेश से उसी समय भिक्षा माँगने निकल पड़े और जो कुछ अन्न उन्हें मिला, उसे पकाकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण के सामने रखकर बाद में प्रसाद ग्रहण किया। उस दिन श्रीरामकृष्ण का कैसा आनन्द था! उच्च शिक्षा और उच्च वंश की गौरवबुद्धि से रहित युवक संन्यासियों का तीव्र वैराग्य देखकर श्रीरामकृष्ण आनन्द से विभोर हो गये।

संन्यासग्रहण के पश्चात्, अतीत युग के युगप्रवर्तक संन्यासियों की जीवनी और उपदेशों की चर्चा ही नरेन्द्र का लक्ष्य बन गया। ध्यानाभ्यास के फल से एकाग्रचित्त नरेन्द्र जब जिस विषय को आरम्भ करते थे, तब उसी में मस्त हो जाते थे। भगवान् बुद्धदेव का अपूर्व त्याग, उनकी अलौकिक साधना और असीम करुणा नरेन्द्र की रातदिन की चर्चा का विषय बन गयी। जन्म, जरा, दुःख, व्याधि की निर्मम पीड़ा से प्रवृत्ति की चपेटों में फँसे हुए जीवों का कातर हाहाकार देखकर करुणाविगलित राजपुत्र के विशाल हृदय में जो अपूर्व वेदना हुई थी, उसका वर्णन करते समय नरेन्द्र की आँखें डबडबा उठती थी। बुद्धदेव के ध्यान में विभोर नरेन्द्रनाथ, गुप्त रूप से दो गुरुभाइयों को साथ लेकर बुद्धगया जाने की तैयारी करने लगे। रात में बिस्तर से उठकर चुपचाप नरेन्द्र, तारक (स्वामी शिवानन्द) और काली (स्वामी अभेदानन्द) गंगा पार होकर बाली स्टेशन पर रेल में सवार हो

गये। १८८६ ई० का अप्रैल का महीना था। तरुण संन्यासियों ने पवित्र फल्गु नदी में स्नान कर वहाँ से आठ मील दूर बोधि-सत्त्व के मन्दिर की ओर भक्तिपूर्ण हृदय से यात्रा की। इधर प्रातःकाल नरेन्द्रनाथ को न देखकर भक्तगण चिन्तित हुए। चारों ओर खोज की गयी, पर नरेन्द्र का पता न मिला। श्रीरामकृष्ण को जब भक्तों ने यह बात सुनायी, तो मृदु हास्य के साथ उन्होंने कहा, "तुम लोग चिन्ता न करो, वह लौट आयेगा। वह क्या इस जगह को छोड़कर अन्य कहीं रह सकता है?"

बुद्धगया में जाकर नरेन्द्र ने बोधिसत्त्व के मन्दिर के दर्शन किये। यह वही स्थान है, जहाँ भगवान् बुद्ध ने जन्म-जरा-व्याधि-मृत्यु से सताये हुए जीवों के दुःख का निवारण करने के लिए समाधिमग्न होकर निर्वाण प्राप्त किया था। बोधिवृक्ष के नीचे पवित्र प्रस्तरासन पर नरेन्द्रनाथ ध्यानस्थ हुए। उनके गुरु-भाइयों ने ध्यान टूटने पर निहारकर देखा—नरेन्द्र पत्थर की तरह निश्चल है, उनका शरीर स्पन्दनहीन है। बहुत देर बाद तनिक अर्ध-बाह्यज्ञान प्राप्त होने पर वे क्रन्दन कर उठे। दूसरे ही क्षण वे फिर से ध्यानस्थ हो गये। उनके ध्यानस्तिमित नेत्रों से सत्य की विमल ज्योति निकल पड़ी। उन्होंने क्या देखा तथा क्या समझा, यह अपने गुरुभाइयों से प्रकट न किया। लगातार तीन दिन कठोर तपस्या में बिताकर वे बुद्धगया से काशीपुर के बगीचेवाले मकान में लौट आये। भक्तगण अपने प्राणप्रिय नरेन्द्रनाथ को पाकर आनन्दसागर में निमग्न हो गये।

बुद्धगया से लौटकर नरेन्द्रनाथ मानो यह समझ सके कि जिस अतृप्त पिपासा से कातर होकर वे इधर उधर दौड़धूप कर रहे है, वह एकमात्र श्रीरामकृष्ण की कृपा के बिना और किसी तरह

तृप्त नहीं हो सकती। नरेन्द्र ने संकल्प स्थिर कर लिया, पर दूसरे भक्तों की तरह वे विश्वास के साथ श्रीगुरु के चरणों में आत्मसमर्पण न कर सके। वे चाहते थे सत्य की उपलब्धि। नरेन्द्र कठोर तपस्या में डूब गये। उनका वह प्रबल उत्साह, वह कठोर इन्द्रिय-निग्रह, शारीरिक भोगविलास को त्यागकर आत्मदर्शन के लिए एकाग्र चित्त से उनकी वह प्राणपण चेष्टा वर्णनातीत है।

पूर्वगामी महापुरुषों के चरित्र की चर्चा करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने देश, काल और पात्र का विचार करके मुक्ति के लिए नये नये उपायों का आविष्कार किया था तथा कामिनी-कांचन के प्रबल आकर्षण से अविचलित रहकर अपना कार्य चलाया था। उनका जपतप, साधनभजन सभी कुछ परहित के लिए था, स्वयं की मुक्ति अथवा अन्य किसी कामना की पूर्ति के लिए नहीं। इसीलिए श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को विभिन्न प्रकार की साधनाओं तथा आध्यात्मिक अवस्थाओं में से धर्मजीवन के परम आदर्श की ओर अग्रसर कराने लगे। श्रीरामकृष्ण के अपने जीवन में अनुभूत आध्यात्मिक सत्यों के साथ प्रत्यक्ष रूप से परिचित होने से पहले तक नरेन्द्र किसी भी तरह उन सब के प्रति आस्थावान् न बन सके।

एक दिन काशीपुर के उद्यान भवन में प्रज्वलित अग्निकुण्ड के सम्मुख नरेन्द्रनाथ ध्यानमग्न बैठे थे। उसी समय उन्होंने अनुभव किया कि स्पर्श मात्र से ही दूसरे के मनोराज्य में समूल परिवर्तन लाकर विशेष धर्मभाव संचारित करने की शक्ति उनमें जागृत हो गयी है। श्रीरामकृष्ण को स्पर्श के द्वारा ऐसा करते उन्होंने कई बार देखा था। तो क्या यह वही शक्ति है? बालसुलभ

चपलतावश आगेपीछे न सोचते हुए पास ही ध्यानमग्न एक गुरुभाई पर उसकी परीक्षा करने जाकर, उन्होंने उनके धर्मजीवन में समूल परिवर्तन कर दिया। द्वैतवादी, सगुण, साकार ईश्वर में विश्वासी भक्त पल भर में ही अद्वैतवादी और ज्ञानयोगी बन गये। श्रीरामकृष्ण ने इस बात को जानकर नरेन्द्र को बुलाकर डाँटते हुए कहा, "संचय से पहले ही खर्च! तूने आज उसका कैसा अनिष्ट कर दिया, बोल तो ?" फिर बाद मे उस शक्ति का प्रयोग कैसे करना होता है, यह भलीभाँति समझा दिया।

वे दिन अब नही रहे है। कल के वे दार्शनिक, तार्किक और उद्धत नरेन्द्रनाथ आज के गुरुभक्त साधक है। पाश्चात्य दर्शन की ऊपर ऊपर मनोरम दिखनेवाली तर्क-युक्तियों के जाल ने तथा ब्राह्म समाज के प्रभाव ने उनके चित्त पर जो आवरण डाल दिया था, वह आज दूर हो गया है। श्रीरामकृष्ण के निर्देश से अब उनका पाठ्य ग्रन्थ केवल पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान नहीं—वे तो अब गम्भीर श्रद्धा के साथ उपनिषद्, अष्टावक्रसंहिता, पंचदशी, विवेकचूड़ामणि आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे है। अपनी सारी विद्या के अभिमान को हेय समझते हुए वे पूरी निष्ठा के साथ श्रीरामकृष्ण के अपूर्व उपदेशों में से नवीन और श्रेष्ठतर शिक्षा प्राप्त कर रहे है। नरेन्द्रनाथ आहारनिद्रा आदि अति आवश्यक जीवधर्मो को भी छोड़ते हुए कठोर तपस्या में लग गये। उनका यह तीव्र तप अन्य बालक भक्तों के लिए आदर्श बन गया। जिन्हें देखने के लिए श्रीरामकृष्ण पागल जैसे हो उठते है, जिनके कण्ठ का सुमधुर संगीत कान मे पहुँचते ही वे निर्विकल्प समाधि में आत्मविस्मृत हो जाते है, जिनकी प्रशंसा मे वे भाषा खोजे न पाकर कहते है, "वह साक्षात् नारायण है—जीव के

उद्धार के लिए उसने देह धारण की है," उन्हें—स्वयं उन नरेन्द्रनाथ को भी यदि इतनी कठोर तपस्या करनी पड़े, तो दूसरों की फिर बात ही क्या ! साधनापथ में काफी दूर अग्रसर होने के बाद नरेन्द्रनाथ अन्त में समझे कि निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति के बिना उनकी यह हृदय को सोख लेनेवाली आध्यात्मिक पिपासा शान्त नहीं होने की। दिन पर दिन बीतते गये, पर पूर्ण उद्यम के साथ प्रयत्न करने पर भी उनकी इच्छा पूरी न हुई।

गम्भीर रात्रि है, सर्वत्र निस्तब्धता छायी हुई है। काशीपुर के उद्यान भवन के मंजले पर कमरे में श्रीरामकृष्ण रोगशय्या पर लेटे हुए हैं। नरेन्द्रनाथ पास ही खड़े हैं। कमरे में और कोई नही है। आज नरेन्द्रनाथ संकल्प करके आये हैं कि जिस उपाय से हो वे निर्विकल्प समाधि लेकर ही रहेंगे। चिरकाल पुरुषकार के उपासक आज दया की भिक्षा माँगने आये हैं, पर भय से, विस्मय से, सम्भ्रम से उनकी वाणी न निकली। अन्तर्यामी पुरुष शिष्य की मनोकामना समझ गये। जिस नरेन्द्रनाथ ने कुछ वर्ष पूर्व वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करने में इनकार करते हुए कहा था, "जिस ग्रन्थ में मनुष्य को भगवान् कहने की शिक्षा दी गयी है, उसे पढ़ने की कोई आवश्यकता नही। अपने को भगवान् (सोऽहं) कहने से बढ़कर और कोई पाप नहीं है"— आज वही नरेन्द्रनाथ वेदान्तोक्त सर्वोच्च अनुभूति की प्राप्ति के लिए लालायित है ! सुदीर्घ छः वर्षों तक उन्होंने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के साथ तथा अपनी अन्तःप्रकृति के साथ कैसा अविराम संग्राम किया !

श्रीरामकृष्ण सस्नेह दृष्टि से उनकी ओर ताकते हुए बोले, "नरेन्द्र, तू क्या चाहता है?" उपयुक्त अवसर समझकर नरेन्द्र-

नाथ ने उत्तर दिया, "शुकदेव की तरह निर्विकल्प समाधि के द्वारा सदैव सच्चिदानन्द-सागर मे डूबे रहना चाहता हूँ।"

श्रीरामकृष्ण के नेत्रो मे किंचित् अधीरता प्रकट हुई। उन्होंने कहा, "बार बार यही बात कहते तुझे लज्जा नही आती? समय आने पर कहाँ तू वटवृक्ष की तरह बढ़कर सैकड़ों लोगों को शान्ति की छाया देगा, और कहाँ आज अपनी ही मुक्ति के लिए व्यस्त हो उठा! इतना क्षुद्र आदर्श तेरा?"

नरेन्द्र की विशाल आँखों मे आँसू आ गये। वे अभिमान के साथ कहने लगे, "निर्विकल्प समाधि न होते तक मेरा मन किसी भी तरह शान्त नहीं होने का। और यदि वह न हुआ, तो मैं वह सब कुछ भी न कर सकूँगा।"

"तू क्या अपनी इच्छा से करेगा? जगदम्बा तेरी गर्दन पकड़कर करा लेंगी। तू न करे—तेरी हड्डियाँ करेंगी।"

नरेन्द्र की कातर प्रार्थना की उपेक्षा करने में असमर्थ होकर श्रीरामकृष्ण ने अन्त में कहा, "अच्छा जा, निर्विकल्प समाधि होगी।"

एक दिन सायंकाल ध्यान करते-करते नरेन्द्रनाथ अप्रत्याशित रूप से निर्विकल्प समाधि मे डूब गये। इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वैतप्रपंच मानो महाशून्य में लीन हो गया। देश-काल-निमित्त से परे अवस्थित निज-बोध-स्वरूप आत्मा अपनी महिमा मे स्थित हुई। वह कैसी अवस्था है यह मानवी भाषा में प्रकट नही हुई है—हो ही नही सकती।

काफी देर बाद उनकी समाधि भंग हुई। उन्होंने अनुभव किया कि उनका मन उस स्थिति में सम्पूर्ण रूप से कामनाशून्य होने पर भी, एक अलौकिक शक्ति उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध,

जबरदस्ती पंचेन्द्रियग्राह्य वाह्य जगत् में उतारकर ला रही है। अनुभव किया—"बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय कर्म करूँगा, अपरोक्षानुभूति द्वारा उपलब्ध सत्य का प्रचार करूँगा" इस महती कामना का सूत्र पकड़कर उनका मन निर्विकल्प स्थिति से लौट आया। अनुभव किया कि जगत् के दुःख और दैन्य से पीड़ित मोहभ्रान्त जीवों को, स्वयं ज्ञानामृत से परितृप्त होकर उस अमृत का पान कराने के लिए भारत के अतीत युग के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की तरह उन्हे भी मेघ-गम्भीर स्वर से पुकारना होगा—

"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

*   *

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥"

—'हे विश्ववासी अमृतपुरुषों के पुत्रगण, हे दिव्यधामनिवासी देवतागण, सुनो—मैंने आदित्य के समान दैदीप्यमान उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो समस्त अज्ञान-अन्धकार के परे है। केवल उसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है, इसके अतिरिक्त मृत्युंजय होने का अन्य कोई मार्ग नहीं।' श्वेताश्वतर उपनिषद्—२।५,३।८

आज नरेन्द्र के हृदय की सारी अशान्ति और आकांक्षाओं का अन्त हो गया। उनका मुखमण्डल ब्रह्मविद् की तरह दिव्य ज्योति से उद्भासित हो उठा। ब्रह्मानन्द से पुलकित ये आप्तकाम

संन्यासी आकर श्रीगुरु के चरणों मे प्रणत हुए। श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा, "तो फिर अभी के लिए ताला बन्द रहा, कुंजी मेरे हाथ में है। काम समाप्त होने पर फिर खोल दिया जायगा।"

नरेन्द्र को अपने प्राणों के समान प्रेम करनेवाले बालकभक्तों के आनन्द का उस दिन ठिकाना नही था। दिनरात गान-भजन चलते रहे। नरेन्द्र भावोन्मत्त होकर राधाकृष्ण, सीताराम और चैतन्यदेव के लीलासम्बन्धी गीत गाकर भक्तों के हृदय में आनन्दमय उद्दीपन करने लगे। इधर श्रीरामकृष्ण जगज्जननी के पास कातर होकर प्रार्थना करने लगे, "माँ, उसकी (नरेन्द्र की) अद्वैत की अनुभति को तू अपनी माया-शक्ति के द्वारा ढक रख। माँ! मुझे तो अभी उससे अनेक काम कराने है।"

जितने भी ईश्वरीय शक्तिसम्पन्न महापुरुष मानव-जाति के कल्याण की कामना से निःस्वार्थ भाव से आत्मोत्सर्ग करके विश्ववन्द्य बने हैं, उनमें से प्रत्येक मे कुछ-न-कुछ 'मै'-पन का अहंकार अवश्य था। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "सोने में मिलावट के बिना उससे गहना नही बनता।" अवश्य यह 'मै'-पन 'कच्चा मैं' नहीं है, यह 'पक्का मैं'--अर्थात् मै प्रभु का दास हूँ, उनकी लीला का सहायक हूँ--इस प्रकार का 'मै'-पन।

नरेन्द्रनाथ के सम्बन्ध मे श्रीरामकृष्ण ने जो रहस्यपूर्ण भविष्य-वाणियाँ की थी, उनका उल्लेख हम स्थान स्थान पर करते आये है। एक दिन नरेन्द्र को दिखाकर उपस्थित व्यक्तियों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा था, "यह जो लड़का देख रहे हो, जन्म से ही ब्रह्मज्ञानी है। इसके जैसे लड़के नित्यसिद्ध की श्रेणी के हैं, ये कभी कामिनीकांचन की माया में नही बँधते।" श्रीरामकृष्ण उन्हें कभी 'शुकदेव', कभी 'शंकर', तो कभी 'नारायण ऋषि'

आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित करते थे। श्रीरामकृष्ण की यह सब ऊपर मे विरुद्ध प्रतीत होनेवाली उक्तियाँ क्या सामयिक स्नेह का उच्छ्वास थीं? स्थूल दृष्टि से देखने पर अवश्य ऐसा ही प्रतीत होता है और साधारण मनुष्य के लिए उनकी सत्यता के सम्बन्ध मे सन्देह करना भी असम्भव नहीं। आजन्म सत्यवादी श्रीरामकृष्ण ने, जिन्होंने मजाक में भी कोई झूठ-बात नही कही, जो जगन्माता के चरणकमलों मे सर्वस्व उत्सर्ग करते हुए, 'यह ले, माँ, तेरी मिथ्या' तक कहकर ही रह गये, 'यह ले, माँ, तेरा सत्य' न कह सके—उन्होंने क्या साधारण व्यक्तियों की तरह स्नेह से मुग्ध होकर प्रियतम शिष्य को लोगों के सामने बड़ा बनाने के लिए इस प्रकार की बातें कही है? यह भला कैसे सम्भव है? "अभिमानं सुरापानम्, गौरवं घोररौरवम्, प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा"—यही तो उनका मूलमन्त्र था। इस विषय में पूजनीय श्रीमत् स्वामी योगानन्दजी ने एक दिन कहा था, "स्वामीजी में ऋषि की समाधि-तृष्णा, शुकदेव की माया-शून्यता, शंकराचार्य का ज्ञान और नारद की भक्ति सब एकत्र सम्मिलित हुए थे। इसीलिए श्रीरामकृष्ण उनके विभिन्न भावों को देखते हुए उन्हें अलग अलग समय अलग अलग नाम से पुकारा करते थे।" यही मीमासा हमे सब से अधिक युक्तिपूर्ण एव उचित जँचती है।

१८८६ ई० की जुलाई मास का अन्तिम भाग आ गया। श्रीरामकृष्ण के गले के रोग ने धीरे धीरे भयंकर रूप धारण कर लिया। बड़े धीमे स्वर में किसी तरह वे दो चार बातें कह सकते थे। आहार था—जल मे पकायी हुई बारली, पर उसे भी वे निगल न सकते थे। फिर भी उन महापुरुष की कृपा की सीमा न थी। सदा बालक भक्तों को उपदेश देते रहते और

कभी नरेन्द्र को बुलाकर कहते, "नरेन, मेरे ये सब लड़के रहे, तू सब से बुद्धिमान् और शक्तिमान् है, उनकी रक्षा करना और उन्हें सत्पथ पर चलाना। मै शीघ्र ही देहत्याग करूँगा।"

एक दिन रात को नरेन्द्र की ओर अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखते हुए उन्होने कहा, "बेटा, आज तुझे सर्वस्व देकर मै फकीर बन गया।" नरेन्द्र ने समझा, श्रीरामकृष्ण की लीला समाप्त होने का समय आने ही वाला है। वे बालक की तरह रोने लगे--उनके विरह मे वे कैसे अपना जीवन रख सकेगे, यही सोचकर आकुल हुए। भाव के आवेग को रोकने में असमर्थ होकर नरेन्द्र-नाथ कमरे से बाहर निकल आये।

श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि के दो दिन पूर्व की घटना है। नरेन्द्र सोच रहे थे--'रामचन्द्र दत्त, गिरीश आदि भक्तगण श्रीरामकृष्ण को जो स्वय भगवान् मानते है, यह क्या सत्य है ? इस एक समस्या की मीमांसा तो अभी तक नही हो पायी। अब यदि श्रीरामकृष्ण स्वयं इस समस्या का निपटारा कर दे, तभी विश्वास करूँगा, अन्यथा नही। जो शक्ति युग युग मे धर्मसस्था-पन के लिए दयावश अवतीर्ण होती है, क्या श्रीरामकृष्ण उसी के समष्टिरूप है ? क्या सचमुच ही श्रीरामकृष्ण युगधर्मप्रवर्तक अवतारपुरुष है ?' तब, उस समय--अन्तर्यामी भगवान् ने आँखें खोलकर पूर्ण दृष्टि से नरेन्द्र की ओर ताकते हुए कहा, "क्या नरेन, अभी तक तुझे विश्वास नही हुआ ? अरे ! जो राम, जो कृष्ण, वही अबकी बार एक ही आधार मे रामकृष्ण; तेरे वेदान्त की दृष्टि से नही--साक्षात् !"

एकाएक यदि कमरे मे वज्रपात हुआ होता, तो भी शायद नरेन्द्र इस तरह न चौकते !

अन्त में सचमुच वह भीषण दिन आ पहुँचा। आज रविवार है—१८८६ ई० का १५ अगस्त। महापुरुष की शय्या को घेर-कर भक्त शिष्यगण शोक से आकुल हो स्तब्ध हृदय से महा-समाधि की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनके व्यथित हृदयों में किस भाव का प्रवाह वह रहा है, यह तो वे ही जानें।

धीरे धीरे रात्रि अधिकाधिक गम्भीर होने लगी। सिरहाने के सहारे श्रीरामकृष्ण का कृश शरीर धीरे धीरे काँप रहा है, जीर्ण हड्डियों के पिंजरे को छोड़ महान् आत्मा महाकाश में विलीन होने के लिए मानो पंख फैला रही है। नासिका के अग्र-भाग में दृष्टि स्थिर है, मुखमण्डल हास्य से अनुरंजित है। इसी समय तीन बार कालीनाम का उच्चारण करते हुए श्रीरामकृष्ण ने महासमाधि द्वारा नश्वर देह का त्याग कर दिया।

उनकी वह अन्तिम वाणी नरेन्द्र के हृदय में दृढ़ रूप से अंकित हो गयी। तभी तो हमने इस अद्वैतवादी संन्यासी को भी मेघगम्भीर शब्दों में कहते सुना है—

"प्राप्तं यद्वै त्वनादिनिधनं वेदोदधिं मथित्वा
दत्तं यस्य प्रकरणे हरिहरब्रह्मादिदेवैर्बलम्।
पूर्णं यत्तु प्राणसारैर्भौमनारायणानाम्
श्रीरामकृष्णस्तनुं धत्ते तत्पूर्णपात्रमिदं भोः।"

—"वेदरूपी अनादि-अनन्त सागर के मन्थन से जिस अमृत की प्राप्ति हुई है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि देवताओं ने अपना-अपना ओज ढाला है और जो लीला-मानव अवतारों के जीवन-रसायन के मिश्रण से और भी अधिक सारवान् हो गया है, उसी अमृत के पूर्णकुम्भस्वरूप भगवान् श्रीरामकृष्ण जीवों के उद्धार के लिए लीला द्वारा धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं।"

चतुर्थ अध्याय

परिव्राजक विवेकानन्द

(१८८६–१८९२)

क्वचिन्मूढो विद्वान् क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः।
क्वचित् पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदितः
चरंत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ।। *

——विवेकचूडामणि

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के लीलावसान के थोड़े ही दिन बाद काशीपुर का उद्यान-भवन छोड़ना पड़ा। अब नरेन्द्र ने सोचा कि युवक संन्यासीगण यदि चारों ओर विच्छिन्न होकर चले जायँगे, तो इस महापुरुष के आदर्श के प्रचार में विघ्न उपस्थित होगा। श्रीगुरुदेव के सहवास में उनमें से प्रत्येक ने अलग अलग रूप से जो साधना और आदर्श प्राप्त किया है, उसे केन्द्रीभूत

---

* जिसे उस सच्चिदानन्दकन्द की प्राप्ति हो चुकी है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता महापुरुष कभी मूर्ख के समान तो कभी बड़े विद्वान् के समान, कभी गरीब की झोपड़ी में अत्यन्त हीन अवस्था में तो कभी राजे-रजवाड़ो के महल में राजशाही ठाट-बाट के साथ, कभी हरदम भटकता हुआ तो कभी अजगरवृत्ति का अवलम्बन कर ही स्थान में पड़ा हुआ, कभी सौम्य तो कभी उग्र, कभी सम्मानित तो कभी अवमानित, कभी विख्यात तो कभी अख्यात —इस प्रकार के बाहरी नाना भावो में विचरण करता हुआ दीख तो पड़ता है, पर उसके अन्तर में आनन्द का झरना निरन्तर झरता रहता है, उसकी उस गम्भीर आनन्द-अनुभूति में कहीं खण्ड नहीं पड़ता।

करना होगा। कुछ गृही भक्तों ने नरेन्द्र के इस मत का समर्थन किया। ये सव वैराग्यशील तरुण संन्यासी आश्रयविहीन होकर भटकते रहेंगे, यह वात उन्हें पसन्द न आयी। गुरुपरायण उदार-हृदय सुरेन्द्रनाथ मित्र ने वराहनगर में एक मकान किराये पर दिला दिया। श्रीरामकृष्ण के देह त्याग के थोड़े ही दिन वाद, उनके देहावशिष्ट भस्म और अस्थि से पूर्ण ताँवे की कलसी को सिर पर उठावर तरुण संत्यासियों ने शोक के आँसू पोंछते हुए, पवित्र लीला की अनेक पुण्य स्मृतियों से भरे हुए काशीपुर के उद्यान-भवन को छोड़ दिया।

श्रीरामकृष्ण की सेवा करने के लिए दीर्घकाल तक एक साथ रहने तथा साधनभजन आदि के द्वारा वे आपस में प्रीति के जिस बन्धन में आवद्ध हो चुके थे, वह छिन्न नहीं हो सकता था। विशेष रूप से श्रीगुरुदेव के आदर्श की रक्षा करने के लिए नरेन्द्र संघवद्ध होने की आवश्यकता समझकर वालकों को सदा उत्साह देने लगे। कोई कोई गृही भक्त उन लोगों को फिर से संसार में लौटे जाने के लिए परामर्श देने लगे। कुछ वालक परीक्षा आदि के कारण अभिभावकों के अनुरोध से फिर से घर लौटने के लिए वाध्य हुए। नरेन्द्रनाथ उस समय तक भी सांसारिक विषयों की भलीभाँति व्यवस्था न कर सके थे, इसलिए उन्हे हर समय मठ में रहने का अवसर नही मिलता था। उनके मकान के वारे में जो मुकदमा शुरू हुआ था, वह अभी समाप्त नही हुआ था। अतः नरेन्द्र को वाध्य होकर ही घर में रहना पड़ता था। नरेन्द्र की अनुपस्थिति में अभिभावकगण उनका उदाहरण देकर संसार में लौटने के लिए वालकों से आग्रह करने लगे। नरेन्द्र स्वयं अपने परिवार की देखभाल करते थे, इसलिए उतने जोर के साथ

वे प्रतिवाद न कर सके।

इसी बीच एक नयी विपत्ति आ खड़ी हुई। महात्मा रामचन्द्र दत्त आदि कुछ भक्तों ने प्रस्ताव किया, "तुम लोग साधुसंन्यासी हो, कब कहाँ रहोगे, निश्चित नहीं है। श्रीगुरुदेव का देहावशेष हमें दे दो। हम उसे उचित स्थान पर स्थापित करके उस पर मन्दिर निर्माण करेंगे।" रामबाबू ने काँकुड़गाछी के अपने बगीचेवाले मकान को श्रीगुरुदेव के चरणों में उत्सर्ग करने का निश्चय किया; पर बालक-भक्तों ने किसी भी तरह श्रीगुरुदेव के देहावशेष को गृही भक्तों को देना स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप एक बड़ा झगड़ा उठ खड़ा हुआ। शशी और निरंजन उस ताम्रपात्र के रक्षक थे, वे किसी भी तरह उसे किसी दूसरे को देने को राजी न हुए। रामबाबू भी उसे पाने के लिए दलबल के साथ प्राणपण से चेष्टा करने लगे। भ्रातृ-विच्छेद की सम्भावना को निकट देख बुद्धिमान् नरेन्द्र ने अपने गुरुभाइयों को बुलाकर कहा, "महापुरुषों के देहावशेष के बारे में शिष्यों के विवाद धर्म-जगत् में कई बार हुए हैं इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इसीलिए उसी पथ का अनुसरण करना हमारा कर्तव्य नहीं है। हम संन्यासी हैं—श्रीरामकृष्ण के पवित्र जीवन से हमें जो महान् आदर्श मिला है, उसी आदर्श को सामने रखते हुए जीवन को गढना ही इस समय हमारा प्रधान कर्तव्य है और यही हमारी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। इस प्रकार की एक लज्जाजनक घटना की स्मृति कि श्रीरामकृष्ण के शिष्यों ने देहावशेष पर कलह किया था, भविष्य की सन्तानों के लिए छोड़ जाना बहुत ही अनुचित है; अतः उन्हीं लोगों की इच्छा के अनुसार काम होने दो। यदि हम श्रीरामकृष्ण का आदर्श कार्यरूप में परिणत कर सके, तो

देखोगे समग्र जगत् हमारे पैरों पर लोटेगा।"

शशी महाराज ने नरेन्द्र की इस बात का प्रतिवाद नहीं किया। देहावशिष्ट भस्म और अस्थि का कुछ भाग रखकर बाकी को ताँबे के पात्र के साथ लौटाने के लिए वे सहमत हुए। अन्त में शुभ दिन देखकर श्रीरामकृष्ण के गृही एवं संन्यासी भक्तों ने एकत्र सम्मिलित हो काँकुड़गाछी के 'योगोद्यान' में पवित्र ताम्रपात्र को स्थापित कर दिया। इस तरह गुरुभाइयों में मनोमालिन्य का जो सूत्रपात हुआ था, उसे प्रशंसनीय उदारता के द्वारा नरेन्द्रनाथ ने अंकुरावस्था में ही विनष्ट कर दिया।

इस प्रकार एक प्रबल विरोध को दूरकर नरेन्द्रनाथ कुछ निश्चिन्त हुए। नरेन्द्रनाथ सांसारिक अभाव आदि के कारण बाध्य होकर घर में रहते तो जरूर थे, पर रात्रि, और दिन का अधिकांश समय भी, बराहनगर के मठ में बिताया करते थे। कलकत्ते में भी नरेन्द्रनाथ केवल घर के ही काम में लिप्त न रहते थे। जो सब संन्यासी-युवक अभिभावकों के शासन से घर लौटकर परिवारवालों के साथ रहते थे तथा परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे थे, अवसर पाते ही नरेन्द्र उनसे भी मिलते थे और संसार के साथ सभी प्रकार का सम्बन्ध छिन्न करने के लिए उन्हें प्रेरित करते रहते थे। नरेन्द्र के उपद्रव से अभिभावकगण चिन्तित और अधीर हो उठे। भय तथा धमकी आदि से वे नरेन्द्रनाथ को रोक न सके। नरेन्द्र के उत्साह और आदर्श से प्रेरित हो युवक-गण फिर से एक एक करके मठ में लौट आये। नरेन्द्रनाथ भी जहाँ तक सम्भव था, तत्परता के साथ परिवार की व्यवस्था करने लगे। मकान के अधिकार को लेकर उनके सम्बन्धियों ने जो मुकदमा चलाया था, उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके

हैं। खैर, उक्त मुकदमे की अपील में भी नरेन्द्रनाथ ही विजयी हुए। इसके बाद दिसम्बर मास के शुरू में संसार के साथ सभी सम्बन्धों को छिन्न कर वे स्थायी रूप से मठ में आकर रहने लगे। बाबू वलराम बसु, नाट्यसम्राट् गिरीशचन्द्र घोष, 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के मूल लेखक महेन्द्रनाथ गुप्त, और सब से बढ़कर सुरेन्द्रनाथ मित्र प्राणपण से नवीन संन्यासियों को सहायता और उत्साह प्रदान करने लगे।

बिना भोजन, बिना शयन—सभी प्रकार से शारीरिक सुख की उपेक्षा करते हुए दिव्य भाव में विभोर कुमार-संन्यासीगण श्रीगुरुदेव के पवित्र चरित्र एवं उपदेशों की चर्चा, दर्शनशास्त्र, वेदान्त, पुराण, भागवत आदि का पाठ तथा जप, ध्यान, कठोर तपस्या आदि में रत हो गये। श्रीगुरुदेव के लीलासंवरण से व्यथित भक्तों के लिए अब नरेन्द्रनाथ ही एकमात्र सहारा, आशा और भरोसा के केन्द्र थे।

धन्य है गुरुभक्ति के जीतेजागते आदर्श श्रीमत् स्वामी रामकृष्णानन्द (शशी महाराज)!—जिन्होंने सभी कार्यो को छोड़कर केवल श्रीरामकृष्ण की पूजा, आरती तथा गुरुभाइयों की सेवा में ही अपने जीवन को समर्पित कर दिया। शशी महाराज एक ही आधार में नव प्रतिष्ठित मठ के माता, पिता, रक्षक, भृत्य, पालक सभी कुछ थे। कभी धर्मचर्चा में लगे हुए भाइयों को डरा धमकाकर भोजन करने के लिए बाध्य कर रहे हैं, कभी किसी को जबरदस्ती स्नान करा रहे हैं, तो कभी लगातार रातभर से जागते हुए किसी ध्यानमग्न संन्यासी को बलपूर्वक पकड़कर बिस्तर पर लाकर सुला दे रहे हैं। यदि वे इस प्रकार से प्रत्येक का ख्याल न रखते, तो जिन सब महापुरुषों के निष्काम

कर्म, अक्लान्त लोकहितैपणा और अपूर्व त्यागशक्ति से आज संसार श्रीरामकृष्ण की महिमा की उपलब्धि करने में समर्थ हुआ है, उनमें से कई कठोर तपस्या के कारण शरीर छोड़कर चले गये होते।

उन्मत्त सिंह की तरह अशान्त नरेन्द्रनाथ को तनिक भी अवकाश न था। वे ब्राह्म मुहूर्त में शय्या त्याग करके गुरु-गम्भीर ध्वनि से गुरुभाइयों को पुकारकर कहते, "हे अमृत के पुत्रगण, अमृत का पान करने के लिए जागो, जागो।" फिर जप, ध्यान आदि समाप्त करके वे सब एक कमरे में सम्मिलित हो जाते। नरेन्द्रनाथ किसी दिन गीता का, तो किसी दिन टामस-ए-केम्पिस लिखित 'ईसानुसरण' (Imitation of Christ) का पाठ करते। जिस समय नरेन्द्र भावोन्मत्त होकर गर्जना कर कहने लगते—

"क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥"

—उस समय तरुण संन्यासियों के तपोमार्जित चित्त-दर्पण में सुदूर अतीत का एक महिमामय दृश्य उद्भासित हो उठता था; —मानो वे अपने मानसनेत्रों से देखते थे कि साक्षात् गीतामूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण शान्तोज्ज्वल नेत्रों से, प्रशान्त दृढ़ता के साथ मेघ-गम्भीर स्वर में कर्तव्यभ्रष्ट, मोहभ्रान्त अर्जुन को अपने कर्तव्य का पथ चुन लेने के लिए मृदु भर्त्सना कर रहे है। उस समय उनका मुग्ध मन वहिर्जगत् का अस्तित्व भूल जाता और केवल एक अगाध विश्वास, मधुर भक्ति का कोमल स्पर्श उनके उन्मुख तथा आग्रहपूर्ण हृदयों को स्तम्भित किये रखता।

कभी नरेन्द्रनाथ 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेपु कदाचन' मन्त्र से गुरुभाइयों को अनुप्राणित करते हुए आदर्श कर्मयोगी की

तरह विश्वमानव के कल्याण-यज्ञ में आत्माहुति देने को तैयार होने के लिए प्रोत्साहित करते थे।

या फिर कभी वे गीता बन्द करके कह उठते "क्या होगा और गीतापाठ करके? श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, गीता शब्द दस बार कहने से जो होता है वही! गीता, गीता, गीता—त्यागी, त्यागी, त्यागी। चाहिए त्याग—कामिनी-कांचन का त्याग! त्याग ही गीता का आदर्श है।"

पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र के ज्ञाता, सन्देहवादी नरेन्द्रनाथ ने लगातार छः वर्षों तक श्रीगुरुदेव के साथ तर्क किया है, पर आज उनमे यह कैसा अद्भुत परिवर्तन है! आज वे संन्यासी है! रामकृष्ण संघ के नेता है!! गुरुदेव के पवित्र जीवन के उज्ज्वल प्रकाश में आज सनातन धर्म उनकी दृष्टि में महिमामय है, उदार है, सार्वभौमिक है! आज उनके लिए वेद अपौरुषेय हैं, आप्त वाक्य हैं, नित्यवर्तमान सत्य है! उपनिषद् के कल्याणप्रद सत्यों का गूढ़ अर्थ आज श्रीरामकृष्ण के जीवन के आलोक में उनके लिए सहज बोधगम्य है। उपनिषद् या वेदान्त को समझने के लिए उन्होंने किसी विशेष भाष्यकार का अनुसरण नही किया—करने की आवश्यकता भी नही हुई। वे स्वाधीन भाव से शास्त्र-चर्चा में प्रवृत्त हुए थे। उन्होंने बाद में कहा था, "विधाता की इच्छा से मुझे एक ऐसे व्यक्ति के सहवास का अवसर प्राप्त हुआ था, जो एक ओर जैसे घोर द्वैतवादी थे, दूसरी ओर ठीक वैसे ही घोर अद्वैतवादी थे; जो एक ओर जैसे परम भक्त थे, दूसरी ओर ठीक वैसे ही परम ज्ञानी थे। उनकी शिक्षा के फल से ही मैंने उपनिषद् तथा अन्यान्य शास्त्रों को केवल आँखें बन्द करके भाष्यकारों का अनुसरण करते हुए नही, वरन् स्वाधीन

भाव से उत्कृष्टतर रूप से समझना सीखा है।"

एक दिन वेलुड़ मठ में प्रसंगक्रम से इस समय की बात कहते हुए पूजनीय स्वामी प्रेमानन्दजी ने हमसे कहा था, "आज यह जो इतना बड़ा मठ देख रहे हो, जानते हो इसका प्रारम्भ कहाँ है ? श्रीरामकृष्ण ने जब देह-त्याग किया, उस समय ऐसा कोई स्थान नहीं था, जहाँ लाटू तथा अन्य भक्त बालकगण रह सकते। अन्त में सुरेश मित्र* ने वराहनगर में एक मकान ठीक कर दिया। नीचे का मंजला तो व्यवहार के लिए बिलकुल अनुपयुक्त था। ऊपर के मंजले में तीन कमरे थे। श्रीरामकृष्ण को किसी दिन बस दो दाने नैवेद्य का भोग दे दिया जाता था। भला और प्रबन्ध ही क्या था ? एक समय का अन्न किसी दिन मिल जाता था, किसी दिन नहीं। थाली, बर्तन आदि कुछ भी न थे। मकान के साथवाले बगीचे में कुम्हड़े की बेलें, केले के पेड़ आदि थे तो अनेक, पर कुम्हड़े या केले के एक-दो पत्ते लेने से ही उड़िया बागवान बुरी तरह गाली देने लगता था। अन्त में धोपे (घुइयाँ) के बड़े बड़े पत्तों पर भात रखकर वही खाना पड़ता था। और भोजन भी क्या था—केवल उबाले हुए कुँदरू के पत्ते और भात, और वह भी घुइयाँ के पत्तों पर रखकर ! थोड़ा खाते ही गला खुजलाने लगता था। इतना कष्ट, फिर भी कोई चिन्ता न थी! भक्तों की संख्या एक एक दो दो करके बढ़ती रही। कैसा उत्साह था ! पूजा, जप, ध्यान सदा चलता रहता था। कभी कीर्तन ही शुरू हो जाता। कमरे का दरवाजा बन्द कर लिया और अन्दर आनन्द से कीर्तन हो रहा है। फिर तो ऐसा रंग

* बाबू सुरेन्द्रनाथ मित्र को श्रीरामकृष्ण 'सुरेश' कहकर पुकारते थे। इसलिए वे रामकृष्ण-भक्तसंघ में इसी नाम से परिचित हैं।

जमता कि बाहर आदमियों की भीड़ लग जाती। कीर्तन बन्द होने पर भी बाहर लोग खड़े रहते और चिल्लाते, 'बन्द न कीजिये, बन्द न कीजिये, बड़ा आनन्द आ रहा है' !"

गुरुभाइयों को उपदेश देना, उनकी देखरेख करना आदि सभी बातों का भार श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को ही सौप गये थे। वे भी अथक उद्यमपूर्वक, आलस्य छोड़कर तरह तरह से बालकों को उत्साहित करने लगे। "जय रामकृष्ण ! मनुष्य गढ़ना ही हमारे जीवन का उद्देश्य हो। स्मरण रखना, यही हमारी एकमात्र साधना है। वृथा विद्या का गर्व छोड़ दो। भले ही कोई मतवाद उत्कृष्टतम हो, अथवा कोई तर्क बड़ी सूक्ष्म युक्ति-वाला हो पर उसकी क्या आवश्यकता ? ईश्वर की अनुभूति ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। श्रीरामकृष्ण अपने जीवन में इसी आदर्श को दर्शा गये है। हम उनके आदर्श जीवन का ही अनुकरण करेंगे। एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हमारा चरम लक्ष्य है।" नरेन्द्र को अपने प्राणसदृश माननेवाले संन्यासीगण भी उनके प्रत्येक वाक्य का, श्रीगुरुदेव की आदेशवाणी की ही तरह, श्रद्धा के साथ पालन करने लगे।

हम पहले कह चुके है कि सुरेन्द्रनाथ मित्र ने संन्यासियों के दैहिक अभावों की पूर्ति का भार अपने ऊपर ले लिया था। पर सांसारिक कार्यों में लगे रहने के कारण वे स्वयं जाकर मठ में अभाव आदि की पूछताछ न कर पाते थे। बालक-संन्यासीगण अन्न के अभाव में भूखे रहकर भी सुरेश बाबू को सूचित नही करते थे। भगवान् की इच्छा से जिस दिन जो कुछ बिना माँगे आ जाता, उसे ही सन्तोष के साथ श्रीरामकृष्ण को निवेदित कर उनका प्रसाद ग्रहण कर लेते थे। कुछ दिनों बाद जब सुरेश

बाबू को इस बात का पता लगा, तो वे विशेष चिन्तित हुए। अन्त में गोपाल नामक श्रीरामकृष्ण के एक भक्त की माता और छोटे भाइयों के प्रतिपालन का भार स्वयं ग्रहण कर सुरेश बाबू ने गोपाल को मठ में भेज दिया। उनके आदेशानुसार, मठ में किसी चीज की आवश्यकता होते ही गोपाल उन्हें समाचार दे दिया करते थे। सुरेश सदैव कहा करते, "इन लोगों के सब प्रकार के अभावों को दूर करना मेरा अनिवार्य कर्तव्य है, क्योंकि ये लोग श्रीरामकृष्ण की सन्तान है और मेरे भाई है।" गुरुभाइयों के प्रति प्रेम का यह कैसा उज्ज्वल उदाहरण है !

समय समय पर गृहस्थ भक्तगण भी मठ मे उपस्थित होकर श्रीरामकृष्ण के जीवन के बारे मे तथा धर्मसम्बन्धी चर्चा किया करते थे। अनेक अपरिचित व्यक्ति भी कौतूहलवश, कोई तर्क करने अथवा कोई परीक्षा लेने, वराहनगर के मठ मे आया करते थे। नरेन्द्र के युक्तिपूर्ण उत्तर के सामने बहुधा वे ठहर नहीं सकते थे। साधारण व्यक्तियों की अशिष्ट समालोचना से भी बिना किसी प्रकार उत्तेजित हुए नरेन्द्रनाथ हँसकर गुरुभाइयों से कहते, "अरे, श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, 'लोग तो मानो कीड़े है।' इसका मतलब जानते हो न? कामिनी कांचन के क्रीतदास लोग क्या कहते है और क्या नही, उस पर ध्यान न देना। संन्यासियों को उससे विचलित होना उचित नही!"

इन सब बाल संन्यासियों के अभिभावकगण उन्हें घर लौटा ले जाने के लिए प्रायः मठ मे आते रहते थे। उन्हें रोकने के लिए नरेन्द्रनाथ को ही सामने आना पड़ता था। कोई कोई लोग गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए तरह तरह के तर्क उपस्थित करते थे। नरेन्द्र दृप्तसिंह की भाँति गर्दन उठाकर

उत्तर देते, "क्या ? यदि हम ईश्वर को प्राप्त न कर सकें, तो क्या इन्द्रियों के दास होकर जीवन बितायेंगे ? क्या हम संन्यास के महिमामय आदर्श से भ्रष्ट हो जायेंगे ? भाग्य मे कुछ भी क्यों न हो, त्याग के महान् आदर्श पर हम प्राणपण से अड़े रहेंगे। शरीर नष्ट हो जाय, सर्वस्व चला जाय, हम उद्देश्य को नहीं छोड़ेगे। क्या हम श्रीरामकृष्ण की सन्तान नही है ?"

१८८६ ई० का दिसम्बर मास उपस्थित हुआ। श्रीरामकृष्ण के अन्यतम बाल-संन्यासी शिष्य स्वामी प्रेमानन्द (बाबूराम घोष) की माता के निमन्त्रण पर एक दिन संन्यासीगण उनके गाँव आँटपुर मे एकत्र हुए। रात में मकान के बाहरवाले प्रांगण में विराट धूनी रमाकर नरेन्द्र गुरुभाइयो के साथ ध्यान में बैठे है। गॉव नि:स्तब्ध है—ऊपर निर्मल आकाश मे ग्रहनक्षत्र झलमला रहे है। चारों ओर के गाढ़े अन्धकार में धूनी की अग्निशिखा से केवल संन्यासियों की तपोनिर्मल ऋजु देह, प्रशान्त वदन, निर्मल ललाट उद्भासित हो रहे है। ऐसे समय में नरेन्द्र ने आँखें खोली और ईसामसीह के जीवन की चर्चा करने लगे। जन्म से लेकर मृत्यु तक का, उस अपूर्व आत्मदान एवं पुनरुत्थान की कहानी का जीतीजागती भाषा मे वर्णन करते करते श्रीरामकृष्ण का प्रसंग आया। ईसा और श्रीरामकृष्ण ! ईसा के देहत्याग के बाद उनके शिष्य साधु पॉल ने किस दृढ विश्वास के साथ नवधर्म का प्रचार किया था। उत्साह और आवेग से अधीर नरेन्द्रनाथ को मानो उन लोगों के जीवन का पथ उसी आलोक मे दीख पड़ा। उन्होंने तथा उनकी वाणी से अनुप्राणित उनके गुरुभाइयों ने मानो फिर एक बार अनुभव किया कि जब भारतवासी आदर्श को विभक्त, खण्डित और आंशिक रूप में देखते हुए एक दूसरे

के साथ विवाद में रत थे, जब विषमता और भेद के बीच हम कोई एक सामंजस्य ढूंढ निकालने का प्रयत्न तक नही कर रहे थे, जिस समय सारे उच्च आदर्श नष्टबुद्धि से विकृत और भ्रष्ट-चरित्र के द्वारा कलंकित होकर कर्महीन तामसिक जड़ता के बीच व्यर्थ और निष्फल हो रहे थे, उस समय—उन संकट के दिनों में श्रीरामकृष्ण ने सभी समस्याओं की मीमांसा करते हुए, सभी विभिन्न और विशिष्ट साधनाओं को एक समन्वय के बीच में यथायोग्य स्थान देकर आदर्श के परिपूर्ण रूप को अपने जीवन में प्रकटित किया। यह प्राचीन पृथ्वी धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर, देशप्रेम के नाम पर, नररक्त से नहानहाकर जिसके लिए प्रतीक्षा कर रही है, उस बहुप्रार्थिक, बहुईप्सित महासमन्वय के सन्देश का प्रचार हम करेंगे—हम, जो कि श्रीरामकृष्ण की ध्वजा वहन करनेवाले सर्वत्यागी शिष्य है! मानवकल्याण के व्रत में अपने को सम्पूर्ण रूप से उत्सर्ग कर देने का पवित्र संकल्प लेकर उन्होंने अपने आपको कृतार्थ माना। जब नरेन्द्र आदि भक्तगण उस रात्रि में पहले ईसामसीह की जीवनी तथा ईसाई धर्म के प्रथम प्रचारकों के गम्भीर आत्मविश्वास की चर्चा कर रहे थे, उस दिन उन्हें यह ज्ञात न था कि वह ईसामसीह की जन्मरात्रि थी। बाद में इस संयोग की बात को जानकर वे बड़े विस्मित हुए थे। आँटपुर से संन्यासीगण तारकेश्वर जाकर शिवजी की आराधना के बाद वराहनगर लौट आये।

वराहनगर मठ में कुछ दिन बिताने के बाद संन्यासियों के हृदय में तीर्थभ्रमण की आकांक्षा प्रबल हो उठी। दो-एक संन्यासियों को यह आशंका हुई कि शायद बाहर जाने की आज्ञा ही न मिले, इसलिए नरेन्द्रनाथ को सूचित किये बिना ही वे मठ

छोड़ तीर्थ-भ्रमण को निकल पड़े। एक दिन नरेन्द्रनाथ को किसी विशेष कारण से कलकत्ता जाना पड़ा। वहाँ से लौटकर उन्होंने सुना कि संसार की अभिज्ञता से शून्य बालक सारदाप्रसन्न (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) गुप्त रूप से मठ छोड़कर चले गये हैं। उन्हें बड़ी चिन्ता हो गयी कि यह बालक न जाने किस विपत्ति में पड़ जाय। उन्होंने राखाल को बुलाकर कहा, "तुमने उसे क्यों जाने दिया? देखो राजा, मै कैसी विकट स्थिति में पड़ गया हूँ। एक संसार (घरद्वार) छोड़कर यहाँ आया और यहाँ एक नया माया का संसार जोड़ बैठा हूँ। इस लड़के के लिए प्राण बड़े व्याकुल हो उठे है।"

इसी समय एक व्यक्ति ने उनके हाथ में एक पत्र दिया। सारदाप्रसन्न जाते समय उसे लिखकर छोड़ गये थे। उसमें लिखा था, "मै पैदल श्रीवृन्दावन जा रहा हूँ। यहाँ पर रहना मेरे लिए असम्भव हो गया है। कौन जाने किस समय मन की गति बदल जाय। मै बीच बीच में मातापिता, घरस्वजन आदि के स्वप्न देखता हूँ। मै स्वप्न में मूर्तिमती माया द्वारा प्रलोभित हो रहा हूँ। मैने काफी सहन किया है; यहाँ तक कि प्रबल आकर्षण के कारण मुझे दो बार घर जाकर स्वजनों से मिलना पड़ा है। अतः अब यहाँ रहना किसी भी तरह उचित नही है; माया के पंजे से छुटकारा पाने के लिए दूर देश मे जाने के अलावा और कोई गति नहीं है।"

पत्र पढ़कर स्वामीजी का मुखमण्डल गम्भीर हो गया। राखाल ने कहा, "अब समझा, सारदा क्यों मठ छोड़कर चला गया है!" उन्होंने चिन्तित होकर उत्तर दिया, "हाँ मै भी वह अनुभव कर रहा हूँ।"

नरेन्द्रनाथ ने मन ही मन सोचा, "पर अब तो सभी तीर्थभ्रमण के लिए आग्रह कर रहे हैं। इससे तो मठ का नाश ही हो जायगा। ठीक है, होने दो! मैं कौन हूँ, जो मेरा आदेश मानकर ये सदैव चलें। नहीं, इस मधुर माया के बन्धन को भी मुझे तोड़ डालना होगा।" सारदाप्रसन्न के पत्र ने उन्हें बड़ा चिन्तित कर दिया। सोचने लगे कि सभी एक साथ रहकर धीरे धीरे माया के बन्धन में आबद्ध हुए जा रहे हैं। अतएव उन्होंने भी मठ छोड़कर दूर चले जाने का संकल्प कर लिया। अन्त में एक दिन गुरुभाइयों के सारे अनुरोधों की उपेक्षा करते हुए श्रीगुरु की महती इच्छा द्वारा प्रेरित हो नरेन्द्रनाथ परिव्राजक के वेश में मठ को छोड़कर निकल पड़े।

यहाँ पर हम कुछ बातों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। नरेन्द्र १८८८ ई० के प्रथम भाग में पहलेपहल तीर्थभ्रमण की इच्छा से वराहनगर मठ से बाहर निकले। इसके पहले दो साल में वे आँटपुर के अतिरिक्त वैद्यनाथ और शिमुलतला भी कई बार गये थे। उनके भारतभ्रमण सम्बन्धी कई बातें हमें ज्ञात नही है, क्योंकि उन्होंने कोई रोजाना डायरी नहीं लिखी थी। बाद में यत्रतत्र प्रसंगवश उनका कोई मन्तव्य सुनकर अथवा जिन व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई थी, उनसे कुछ घटनाएँ सुनकर जहाँ तक सम्भव हो सका है, उन्हें लिपिबद्ध किया गया है। फलतः कही कहीं भूल भ्रान्ति रहना अनिवार्य है। प्रत्येक परवर्ती संस्करण में मैंने इन भूलों के संशोधन के लिए यथासाध्य प्रयत्न किया है। एक बात और—अब से हम नरेन्द्रनाथ न कहकर आचार्यदेव का उल्लेख स्वामीजी अथवा विवेकानन्द नाम से करेंगे।

सूर्य उदित होने पर किसी से कहना नहीं पड़ता कि प्रभात हुआ है। उसकी रश्मियों का संचार होने के लिए किसी घोषणा की आवश्यकता नहीं होती। वैसे ही, स्वामीजी भी जहाँ कहीं जाते थे, उनका तप्तकांचन वर्ण, विशाल तपोज्ज्वल शरीर सभी की मुग्ध दृष्टि को आकर्षित कर लेता था। बिहार एवं उत्तर प्रदेश में यथेच्छ भ्रमण करते हुए अन्त में वे हिन्दुओं के परम पवित्र तीर्थस्थान काशीधाम पहुँचे।

श्रीकाशीधाम में वे द्वारकादास के आश्रम में रहते थे। भिक्षा से प्राप्त अन्न से उदरपूर्ति, देवस्थानों का दर्शन, शास्त्र की चर्चा, जप, ध्यान, साधुसंग आदि ही उनका नित्यकर्म था। शाम को जिस समय वे भागीरथी के तट पर पत्थर की सीढ़ियों पर बैठकर सायंकाल की उपासना के लिए तैयार होते थे, उस समय अगणित मन्दिरों से सन्ध्या-आरती का घंटा शंखनाद उन्हें भावविभोर कर देता था। वह भागीरथी का तट, वह दक्षिणेश्वर, वह अद्‌भुत प्रेमिक श्रीरामकृष्णदेव—एक एक करके सभी उनकी स्मृति में उठने लगते थे। आनन्द का वह बाजार अब उठ चुका है! आज वे श्रीरामकृष्ण के प्यारे शिशु नरेन्द्रनाथ नहीं है—आज तो वे श्रीरामकृष्ण सघ के नेता स्वामी विवेकानन्द है! भावी जगत् नवयुग के आदर्श की प्राप्ति की आशा में उनकी प्रतीक्षा कर रहा है—कितना भारी उत्तरदायित्व है उनके कन्धे पर! भावुक भक्तकवि विवेकानन्द के हृदयदुर्ग में अवरुद्ध भुवनपावन युगधर्म, शंकरजी के जटाजूट में स्थित भागीरथी की तरह निकलने का रास्ता न पाकर गम्भीर आवेग से उच्छ्वसित हो उठता था। विचलित हृदय से विवेकानन्द इस कर्मभार से मुक्ति पाने के लिए बारम्बार श्रीगुरु के चरणों मे प्रार्थना करते थे।

एक दिन किसी गुणमुग्ध सज्जन ने उनका परिचय बंगगौरव पण्डित भूदेव मुखोपाध्याय से करा दिया। अपूर्व धीशक्तिसम्पन्न तरुण संन्यासी के साथ धर्म, समाज, नीति तथा भारत की उन्नति सम्बन्धी चर्चा से भूदेव बाबू ऐसे मुग्ध हुए कि उन्होंने उन सज्जन से कहा, "मुझे आश्चर्य हो रहा है कि इस तरुण युवक ने इतनी अल्प अवस्था में इतनी गम्भीर अन्तर्दृष्टि और विपुल अभिज्ञता किस प्रकार प्राप्त कर ली है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में वे एक महान् व्यक्ति बनेंगे।"

वाराणसी के विख्यात साधु, श्रीविश्वेश्वरजी के द्वितीय विग्रहरूपी श्रीमत् त्रैलिंग स्वामीजी के दर्शन प्राप्त कर स्वामीजी कृतार्थ हुए। इनके त्याग और तपस्या के बारे में स्वामीजी ने कई बार श्रीरामकृष्णदेव से सुना था। अब उनके दर्शन से, भक्ति और विनम्र चित्त के साथ उनके चरणों की धूलि लेकर वे कृतकृत्य हो गये।

श्रीमत् स्वामी भास्करानन्दजी के गुणों को सुनकर स्वामीजी एक दिन उनके आश्रम में भी गये। उस समय भास्करानन्दजी शिष्यों तथा भक्तों से घिरकर बैठे थे। स्वामीजी ने प्रणाम कर आसन ग्रहण किया। पहले ही विवेकानन्द की मनोहर शारीरिक कान्ति से उनकी दृष्टि आकर्षित हो गयी। फिर धीरे धीरे संन्यास-जीवन के आदर्श के सम्बन्ध मे स्वामीजी को उपदेश देते हुए भास्करानन्दजी बोल उठे, "सम्पूर्ण रूप से 'कामिनीकांचन' का त्याग कोई भी नहीं कर सकता।" स्वामीजी ने विनीत भाव से कहा, "क्या कहते है महाराज, ऐमे अनेक संन्यासी है, जो सम्पूर्ण रूप से कामिनीकांचन के बन्धनों से विमुक्त है, क्योंकि संन्यासजीवन की यही तो प्रथम साधना है; और मैंने तो कम

से कम ऐसे एक व्यक्ति को अवश्य देखा है, जो कामिनीकांचन की स्पृहा पर सम्पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करने मे समर्थ हुए थे।" उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव का उल्लेख किया। भास्करानन्दजी ने हँसकर कहा, "तुम अभी बच्चे हो। इस उम्र में यह बात नहीं समझ सकोगे।" धीरे-धीरे बातों में अपने गुरुदेव के पवित्रतम चरित्र की समालोचना होते देख स्वामीजी निर्भीक दृढ़ता के साथ प्रतिवाद करने को उद्यत हो गये। स्वामीजी के तेजयुक्त तथा युक्तिपूर्ण वचनों को सुनकर उपस्थित मण्डली तथा स्वयं भास्करानन्दजी बड़े विस्मित हुए। जिनके चरणों में राजा, महाराजा, धनी, पण्डित, ज्ञानी आदि सभी मस्तक झुकाकर कृतार्थ होते थे, जिनका अलौकिक पाण्डित्य अप्रतिहत गौरव के साथ ज्ञानालोक विकीर्ण करता था, उन्ही भास्करानन्दजी का प्रतिपक्षी बनकर तर्क में अग्रसर होना कम साहस की बात नहीं थी ! भास्करानन्दजी उदार-हृदय संन्यासी थे—वे स्वामीजी की बातों से विशेष सन्तुष्ट हुए और उनके सामने ही अपनी शिष्य-मण्डली तथा उपस्थित व्यक्तियों से कहा, "इसके कण्ठ में सरस्वती विराजमान हैं, इसके हृदय में ज्ञानालोक प्रदीप्त हुआ है।" गुरुदेव के सम्बन्ध में अनादरसूचक शब्द सुनकर व्यथित हृदय के साथ विवेकानन्द तुरन्त उस स्थान से उठ खड़े हुए।

कुछ दिन काशीधाम मे रहकर स्वामीजी वराहनगर मठ लौट आये। वाराणसीधाम हिन्दू-भारत का हृदयकेन्द्र है। यहाँ मद्रासी, पंजाबी, बगाली, गुजराती, महाराष्ट्रीय, उत्तरप्रदेशीय व्यक्तिगण आचारव्यवहार तथा भाषा की भिन्नता के बावजूद एक ही भाव के भावुक बनकर भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर में सम्मिलित होते है। काशीधाम में स्वामीजी ने पारमार्थिकता से भ्रष्ट,

विचारविहीन एवं वाह्य-आचारपरायण इन नर-नारियों के बीच भी सनातन धर्म की युगयुगान्तर से संचित महिमा की उपलब्धि की। इसीलिए हम देखते है, वराहनगर मठ में लौटकर वे गुरु-भाइयों को प्रचारकार्य के लिए प्रोत्साहित करने लगे। भारतवर्ष को देखना होगा, समझना होगा, इन लाखों करोड़ों नरनारियों की जीवनयात्रा के कितने भिन्न भिन्न स्तरों में कौनसी वेदना, कौनसा अभाव दिन रात एक अपूर्ण लालसा की ज्वाला भड़काकर उन्हे दग्ध कर रहा है, वह समझना होगा। इस कल्याणव्रत की साधना के लिए केवल स्वार्थत्याग ही नही वल्कि सर्वस्वत्याग करना होगा, यहाँ तक कि उन्हें अपनी मुक्ति की कामना तक को भूल जाना होगा। तेजस्वी विवेकानन्द के विशाल हृदय की सुदृढ़ इच्छाशक्ति ने फिर से उन्हे काशीधाम की ओर आकर्षित किया। वे मठ छोड़ फिर काशीधाम आ गये। काशीधाम में अखण्डा-नन्दजी * ने स्वामीजी का परिचय प्रमदादास मित्र से करा दिया। ये सज्जन सस्कृत भाषा, साहित्य और वेदान्तदर्शन के धुरन्धर पण्डित थे। प्रथम परिचय मे ही स्वामीजी को प्रमदादास के प्रति श्रद्धा हो गयी। वाद मे शास्त्रार्थ की मीमासा में यदि स्वामीजी को किसी प्रकार का सन्देह उपस्थित होता था, तो पत्र द्वारा वे उनसे उपदेश की प्रार्थना करते थे। उनकी तीर्थयात्रा का प्रारम्भ काशी से ही हुआ। १८८८ ई० के अगस्त मे हाथ में दण्डकमण्डलु लिये ये संन्यासीप्रवर उत्तर भारत के कई स्थानों से होकर सरयू नदी के तट पर स्थित अयोध्या पहुँचे।

अयोध्या के प्रत्येक रजकण के साथ सूर्यवंशी पराक्रमशील नृपतियों की गौरव-स्मृति जड़ित है। कविश्रेष्ठ वाल्मीकि के

* भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के एक अन्तरग शिष्य।

कल्पनानन्दनवन का पारिजात पुष्प श्रीरामचन्द्र, आदर्श राजा, आदर्श पुत्र, आदर्श पति और आदर्श भ्राता के रूप में इसी पुण्यभूमि में पूर्ण महिमा के साथ प्रस्फुटित हुआ था। तेजस्वी ब्राह्मण वसिष्ठ का पौरोहित्य, तपस्वी विश्वामित्र, ब्रह्मज्ञानी मिथिलाधिपति जनक—सुदूर अतीत की ऐसी सहस्रों उज्ज्वल कथाएँ स्वामीजी को स्मरण हो आयी। सीताराम की पुण्य लीलाभूमि में पदार्पण करते ही उन्हे अपने बचपन की भी बहुतसी बातें याद आ गयीं। उनका वह रामायण के प्रति प्रेम, सीताराम की मूर्ति के सम्मुख तन्मय चित्त से ध्यान, वीरभक्त हनुमान के प्रति गम्भीर श्रद्धा—ये सब स्मृतियाँ एक एक करके उनके मानसपटल पर उदित होकर उन्हें भावानन्द में विभोर करने लगी। अयोध्या में कुछ दिन रामायत संन्यासियों के साथ श्रीरामनामकीर्तन में बिताकर स्वामीजी लखनऊ और आगरा होते हुए पैदल ही श्रीवृन्दावन-धाम की ओर अग्रसर हुए।

आगरे मे शिल्पसौन्दर्य की साकार मूर्ति ताजमहल तथा विशाल मुगल इमारतों को देखकर स्वामीजी ने वहाँ से तीस मील दूर वृन्दावन की ओर यात्रा की। स्वामीजी जब वृन्दावन के निकट पहुँच रहे थे, तो उन्होंने देखा कि रास्ते के किनारे एक व्यक्ति निश्चिन्त होकर तम्बाकू पी रहा है। पथश्रम से क्लान्त स्वामीजी ने उस आदमी से हाथ बढ़ाकर चिलम माँगी। वह व्यक्ति भयभीत होकर संकोच के साथ बोला, "महाराज, मैं भंगी हूँ।" मेहतर!—आजन्म के सस्कारों के वशीभूत होकर स्वामीजी का हाथ अनजान में ही एकदम पीछे हट गया और उन्होंने फिर अपना रास्ता पकड़ लिया। कुछ दूर जाने पर उन्हें होश आया। हाय रे! मैंने तो जाति, कुल, मान, सभी को

त्यागकर संन्यास ले लिया है न, फिर मेहतर जानकर मेरा सोता हुआ जाति-अभिमान क्यों जाग उठा, मेहतर की छुई हुई चिलम में क्यों नहीं ले सका ? अभ्यासजनित संस्कार का यह कैसा अद्‌भुत प्रभाव है ! स्वामीजी लौट पड़े और जल्दी ही उसके निकट फिर आ पहुँचे। फिर बड़े प्रेम से उससे चिलम भरवाकर उन्होंने आनन्द के साथ धूम्रपान किया। इस घटना को वे जीवन में कभी न भूल पाये। बाद में कभी कभी अपने शिष्यों को यह समझाने के लिए कि आत्माभिमानशून्य होकर समस्त मानव में समबुद्धि की रक्षा करने के कठिन आदर्श का पालन कितनी सतर्कता के साथ करना पड़ता है, वे इस घटना का उल्लेख किया करते थे।

वृन्दावन में आकर वे काला बाबू के कुंज में अतिथि हुए। पर वृन्दावन में उनका मन अधिक दिन न लगा। १२ अगस्त के एक पत्र में वे लिखते हैं, "शहर में मन नहीं लग रहा है, सुना है राधाकुण्ड आदि स्थान मनोरम हैं।" वास्तव में, श्रीवृन्दावन से नन्दीग्राम, वर्षणा, गोकुल, राधाकुण्ड आदि स्थान मनोरम हैं। गाँव के निवासी सरल एवं उदार है, गाँव का सौन्दर्य भी आकर्षक है। हरेभरे मैदानों में मोटीताजी, साफसुथरी गायों का निर्भय विचरण देखकर श्रीकृष्णलीला की बात याद आ जाती है। राधाकुण्ड में आकर स्वामीजी को एक अपूर्व अनुभव हुआ।

एक दिन स्वामीजी ने अपने शरीर के एकमात्र वस्त्र कौपीन को धोकर किनारे पर सूखने को डाल दिया और स्वयं स्नान करने के लिए श्रीराधाकुण्ड के पवित्र जल में उतर पड़े। स्नान कर चुकने के बाद स्वामीजी ने जो देखा, तो कौपीन गायब ! बड़े विस्मय के साथ उन्होंने देखा, एक बन्दर कौपीन उठा ले

गया है और वह वही किनारे पर एक वृक्ष की डाल पर बैठा है। जल में खड़े खड़े उन्होंने उस बन्दर से काफी अनुनयविनय की, पर बन्दर ने केवल मुँह बना बनाकर उन्हें व्यंगपूर्ण उत्तर ही दिया, कौपीन न लौटाया! तब तो यह सोचकर कि सम्पूर्ण नग्नावस्था में अब कैसे भ्रमण करेंगे, वे बालक की तरह व्याकुल हो उठे। सोचने लगे, क्या यही श्रीराधारानी की इच्छा है? तुरन्त उनके व्यथित हृदय में अभिमान जाग उठा। जल में से निकलकर स्वामीजी घने जंगल में घुस गये। उन्होंने मन-ही-मन संकल्प कर लिया कि जब तक पहनने का वस्त्र न मिलेगा, तब तक इस अरण्य में ही अनशन करते रहेंगे। इतने में ही उन्होंने सुना कि पीछे कोई दूर से उन्हें बुला रहा है। घूमकर देखा, एक व्यक्ति बड़ी तेजी से उनकी ओर चला आ रहा है। पर स्वामीजी ने उसकी परवाह न की। वे अपनी धुन में ही आगे बढ़ते गये। थोड़ी देर में वह व्यक्ति दौड़ता हुआ आया और आकर स्वामीजी के सामने खड़ा हो गया। स्वामीजी ने बड़े आश्चर्य से देखा कि उस व्यक्ति के हाथ में कुछ खाद्यपदार्थ है तथा एक नया गेरुआ वस्त्र भी। उस व्यक्ति के अनुरोध से मन्त्र-मुग्ध जैसे स्वामीजी ने उसके उपहारों को जैसे ही ग्रहण किया कि वह व्यक्ति उस घने जंगल में अदृश्य हो गया। सम्भव है, वह व्यक्ति स्वामीजी की दुर्दशा दूर से ही देख रहा हो। खैर, वस्त्र पहनकर स्वामीजी फिर राधाकुण्ड लौट आये। आकर उन्होंने देखा कि उनका वह पहले का कौपीन, जहाँ पर उन्होंने उसे सुखाया था वहीं पर सुरक्षित रखा हुआ है! अब तो वे बड़े विस्मित हुए। इस घटना से सारी युक्ति और विचारों की सीमा को पार करके उनका हृदय एक स्वर्गीय प्रेमानन्द से भर गया;

वे आनन्दविभोर हो गये और तन्मय चित्त से श्रीराधाकुण्ड के तट पर कृष्ण-गुणगान करने लगे।

अभी प्रभात नहीं हुआ था। आकाश में उषा की लालिमा थोड़ी थोड़ी विकसित हो रही थी। लम्बे रास्ते के भ्रमण से थककर, भूख और प्यास से व्याकुल हो स्वामीजी रास्ते के किनारे एक वृक्ष के नीचे बैठे। हाथरस रेलवे-स्टेशन के स्टेशन-मास्टर शरच्चन्द्र गुप्त अपना कार्य समाप्त करके घर लौट रहे थे। वे स्वामीजी के थके हुए किन्तु प्रात:कालीन सूर्य के समान दिव्य कान्तियुक्त चेहरे को देखकर मुग्ध हो गये। धीरे धीरे आगे बढ़कर स्वामीजी की चरणरज लेने के बाद शरद बाबू ने विनम्र भाव से पूछा, "महाराज, आप भूखे और थकेमांदे दीख रहे हैं। दया करके मेरे घर चलिये, वहीं पर विश्राम क़ीजियेगा।" मृदु हास्य और दयाभरी दृष्टि से स्वामीजी वहाँ से उठकर धीरे धीरे शरद बाबू के साथ चल पड़े।

शास्त्रों तथा महापुरुषों का वचन है कि भाग्यवान् साधकों की दीक्षा का समय आ जाने से फिर उन्हें गुरु की खोज में भटकना नही पड़ता, गुरु स्वयं ही शिष्य को कृतार्थ करने के लिए उनके पास आ जाते हैं! आध्यात्मिक राज्य में इस प्रकार के दृष्टान्तों की कमी नही है। स्वामीजी के सर्वप्रथम शिष्य पुण्य-चरित्र श्रीमत् स्वामी सदानन्द के जीवन में भी इसी प्रकार की घटना घटी थी।

प्रथम दर्शन में ही शरद बाबू ने स्वामीजी के श्रीचरणकमलों में अपने मन-प्राण अर्पित कर दिये। भोजन और विश्राम के उपरान्त जब स्वामीजी बैठे, तो शरद बाबू ने कहा, "महाराज, बहुत दिनों से आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई है,

परन्तु आज तक कोई योग्य गुरु नहीं मिला। अब दया करके जब आज आपने स्वयं ही दर्शन दिया है, तो कृपा करके मुझे कृतकृत्य कीजिये, मुझे आत्मज्ञान दीजिये।"

स्वामीजी प्रत्यक्ष रूप से उन्हें कोई उत्तर न देकर अपने आप एक गाना गाने लगे, जिसका भावार्थ यह था—"यदि तुम मेरा प्रेम प्राप्त करना चाहते हो, तो अपने सुन्दर मुख पर राख मलकर आ जाओ; कहो ऐसा कर सकोगे?"

शरच्चन्द्र ने उसी समय उत्तर दिया, "स्वामीजी, मैं आपका आज्ञाकारी भृत्य हूँ; जो कुछ आप आदेश देंगे, बिना सोच-विचार किये मै उसका पालन करूँगा।" स्वामीजी विस्मयविमुग्ध नेत्रों से मुमुक्षु युवक के वैराग्य से उद्दीप्त मुखमण्डल की ओर देखने लगे। क्या कहा जाय, वे सोच न सके।

एक दिन स्वामीजी को एकान्त में गम्भीर चिन्ता में मग्न देखकर शरद बाबू ने पूछा, "स्वामीजी, आज आप विषण्ण क्यों दीख रहे है?" ठण्डी साँस भरकर स्वामीजी ने उत्तर दिया, "बेटा, एक महान् कार्य को सम्पन्न करने का भार मेरे कन्धे पर दिया गया है, परन्तु मेरी शक्ति क्षुद्र है, मेरे द्वारा उसका होना सम्भव नहीं प्रतीत होता, इसी से मैं हताश होता जा रहा हूँ। जितने ही दिन बीतते जाते हैं, उतना ही मानो अधिक स्पष्ट रूप से समझ रहा हूँ कि सनातन धर्म के लुप्त गौरव का फिर से उद्धार करना ही उनका (श्रीरामकृष्ण का) अभिप्रेत कार्य है। हाय! धर्म का कैसा शोचनीय अधःपतन हुआ है! और साथ ही, भूख से पीड़ित भारतवासियों की भी कैसी विकट दशा हुई है। भारत को फिर से धर्म की वैद्युतिक शक्ति द्वारा संजीवित करना है, इसकी आध्यात्मिकता के द्वारा समस्त जगत् को जीतना है, परन्तु

उपाय क्या है, उपाय क्या है ?" यह कहते कहते उनके दोनों तेजयुक्त विशाल नेत्र व्यथित करुणा से अधिक तेजस्वी हो उठे। शरद बाबू ने गम्भीर श्रद्धा के साथ अस्फुट स्वर में कहा, "महाराज, क्या मैं आपके किसी काम में नहीं आ सकता ?"

स्वामीजी गम्भीर भाव से बोले, "इस महान् कार्य में आत्मोत्सर्ग करने के लिए क्या तुम भिक्षापात्र और कमण्डलु के सहारे रास्ते पर खड़े होने को तैयार हो ? क्या तुम वास्तव में त्यागी के जीवन की दु:सह कठोरता सह सकोगे ?"

दृढ़ता के साथ शरद बाबू ने उसी समय उत्तर दिया, "अवश्य, आपकी कृपा होगी, तो मैं अवश्य ही सहन कर सकूँगा।"

इस प्रकार कुछ दिन इस गुप्त-परिवार में रहने के बाद स्वामीजी ने हाथरस छोड़ने का निश्चय किया। निदान एक दिन शरद बाबू को बुलाकर उन्होंने कहा, "बेटा, संन्यासी के लिए एक स्थान में अधिक दिन रहना अनुचित है—और विशेषत: तुम लोगों के प्रति मैं एक आकर्षण का अनुभव कर रहा हूँ, अत: मेरे लिए शीघ्र ही इस स्थान को छोड़कर चला जाना श्रेयस्कर है।"

स्वामीजी के पवित्र सत्संग के आनन्द से वंचित हो जाने की आशंका से शरच्चन्द्र ने शोकातुर होकर कहा, "महाराज, मुझे आप अपना शिष्य बनाकर साथ लेते चलिये।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "क्या तुम सोचते हो कि मेरा शिष्य होने से ही तुम्हारी आध्यात्मिक पिपासा तृप्त होगी ? किसी व्यक्ति के गुरु होने की योग्यता मुझमें है या नहीं, इसमें सन्देह है। भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर कर्म किये जाओ, वे ही सब प्रकार से कल्याण करेंगे। मैंने अभी श्रीबद्रीनाथ के दर्शन के लिए यात्रा करने का

संकल्प किया है, तुम दुःखी न हो, प्रसन्न मन से मुझे बिदा दो, मैं फिर से हाथरस लौटने का प्रयत्न करूँगा।"

शरच्चन्द्र इस प्रकार की सान्त्वना से सन्तुष्ट होनेवाले न थे। उन्होंने उत्तर दिया, "आप कुछ भी क्यों न कहें, आप जहाँ जायेंगे, मैं भी आपके पीछे पीछे चलूँगा। आपको मुझे दीक्षा देनी ही होगी।"

स्वामीजी थोड़ी देर सोचकर बोले, "क्या सचमुच तुम मेरे साथ चलने के लिए तैयार हो गये हो?" शरच्चन्द्र ने 'हाँ' कहते हुए अपना सिर हिलाया। स्वामीजी उठकर बोले, "बहुत अच्छा! यह लो मेरी भिक्षा की झोली, और जाओ अपने ही स्टेशन के कुलियों से भीख माँगकर ले आओ।"

शरच्चन्द्र उसी समय बिना किसी दुविधा या संकोच के, कन्धे पर झोली रखकर भिक्षा के लिए निकल पड़े। भिक्षा लेकर शरच्चन्द्र को लौटते देख स्वामीजी ने आनन्दित हो उन्हें आशीर्वाद दिया। इसके बाद शरच्चन्द्र अपने मातापिता की सम्मति लेकर स्वामीजी के साथ हाथरस छोड़ हृषीकेश में आ पहुँचे।

नवदीक्षित शिष्य स्वामी सदानन्द गुरुदेव के बताये हुए पथ पर कठोर साधना में व्रती हो गये, पर शारीरिक परिश्रम में अभ्यस्त न होने के कारण ये नवीन संन्यासी कुछ ही दिनों के बाद अस्वस्थ हो गये। स्वामीजी बाध्य हो शिष्य के साथ फिर हाथरस लौट आये। पर यहाँ आकर स्वामीजी ने भी अस्वस्थ हो शय्या ग्रहण कर ली। यहाँ के कुछ उत्साही नवयुवकों तथा गुप्त-परिवार के यत्न एवं सेवाशुश्रूषा से थोड़े ही समय में फिर स्वस्थ होकर स्वामीजी वराहनगर मठ लौट आये। बाद में कुछ दिनों मे सदानन्दजी भी स्वस्थ होकर १८८८ ई० के नवम्बर

मास में मठ में आ गये गथा अन्य संन्यासियों द्वारा बड़े स्नेह के साथ रामकृष्ण संघ में सम्मिलित कर लिये गये।

श्रीरामकृष्ण के गृही तथा संन्यासी भक्तगण बहुत दिनों के बाद अपने प्रियतम 'नरेन्द्र' को पाकर आनन्दविभोर हो उठे। स्वामीजी फिर से प्रबल उत्साह के साथ संन्यासियों को शिक्षा देने लगे तथा निकट भविष्य के कर्म की तैयारी के लिए उन्हें प्रोत्साहित करने लगे। जिस अमानवी प्रतिभा, असीम अनुकम्पा और उदार हृदय ने आगे चलकर सारे जगत् को श्रद्धाविमुग्ध तथा आकर्षित कर लिया था, उसका अनुभव वराहनगर मठ के श्रीरामकृष्णभक्तों ने बहुत दिन पहले ही कर लिया था।

एक ओर है वेदान्तदर्शन, ध्यान-धारणा-योग-समाधि, इहलोक से मुंह मोड़नेवाला संन्यास का आदर्श, और दूसरी ओर है भारत के विशाल जनसमुदाय की दुर्गति दूर करने का सेवाव्रत—ऊपर से विपरीत प्रतीत होनेवाले इन दो भावों में यदि हम सामंजस्य स्थापित न कर सकें, तो श्रीरामकृष्ण के शिष्य रूप से अपना परिचय देने का हमारा क्या अधिकार है? साधन-भजन और शास्त्रपाठ के बीच स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के साथ इसी प्रश्न की आलोचना करते थे। अनेक प्रकार से विकृत और प्राणहीन अनुष्ठानों के बावजूद भी भारत मे धर्म जीवित है। सामाजिक और सांसारिक दुर्गति ही भारतवासियों की वर्तमान दुर्दशा का कारण है।

बिहार एवं उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में पैदल भ्रमण कर तथा तीर्थस्थानों में उन्हें विभिन्न प्रकार के आचारव्यवहारों और रीतिरिवाजों से प्रत्यक्ष रूप से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ था। उन्होंने देखा था, धर्म के प्रति अनुराग की कमी नहीं है; पर समाज-जीवन में स्वाभाविक गतिशीलता नहीं है। यह

समस्या केवल मुट्ठीभर शिक्षित व्यक्तियों की नहीं, वरन् भारत के विशाल जनसमुदाय की समस्या है। पूर्ववर्ती सुधारकों की तरह जातीय समस्या को कुछ इनेगिने तथाकथित शिक्षित व्यक्तियों की दृष्टि से देखने की संकीर्णता उनमें नहीं थी। श्रीरामकृष्ण के जीवन और उपदेशों का विश्लेषण कर वे अपने गुरुभाइयों से कहते, दोष धर्म का नहीं है, वरन् धर्म के नाम पर धर्म का व्यवसाय करनेवाले गुरु-पुरोहितों और पण्डों ने ही समाज पर आधिपत्य फैलाकर समाजजीवन को पंगु बनाये रखा है। शत शत वर्षों के विधिनिषेध के अन्धानुकरण ने समाज में एक ओर जैसे वंश और रक्त की श्रेष्ठता का मिथ्या अभिमान सृष्ट किया है, उसी प्रकार दूसरी ओर उसने हीनताबोध, विभिन्न सम्प्रदायों तथा अनेकानेक शाखाप्रशाखाओंवाले कृत्रिम जाति-विभाग को जन्म दिया है। यदि हम समग्र भारतवासियों को एक अखण्ड जाति में परिणत करना चाहते हैं, तो हमें इन सब गहरे भिदे हुए संस्कारों के विरुद्ध खड़े होकर यह प्रचार करना होगा कि धर्म की साधना में तथा सामाजिक सुखसुविधा की प्राप्ति में प्रत्येक मनुष्य का समान अधिकार है। यह ठीक है कि यह भावधारा लोगों को सहज ही ग्राह्य न होगी, काम उतना सरल नहीं है, पर श्रीरामकृष्ण तो हमें इसी कठिन व्रत में दीक्षित कर गये हैं।

इस समय लगभग एक वर्ष स्वामीजी ने वराहनगर मठ तथा बागबाजार, कलकत्ते में बलराम बसु के मकान में व्यतीत किया। अधिकांश समय वे शास्त्रों के अध्ययन में ही व्यतीत करते थे, अपने विद्वान् गुरुभाइयों के साथ वेदान्त और पाणिनि व्याकरण का अध्ययन करते थे। इसी समय काशी के प्रमदादास बाबू ने

इन निर्धन संन्यासियों को वेदान्त तथा अष्टाध्यायी के ग्रन्थ दान दिये थे। इस बात का उल्लेख स्वामीजी ने अपने एक पत्र में कृतज्ञता के साथ किया है। १८८९ ई० के फरवरी मास में स्वामीजी एक बार श्रीरामकृष्ण की जन्मभूमि कामारपुकुर तथा श्रीमाताजी की जन्मभूमि जयरामबाटी गये थे और उसके बाद कुछ दिन शिमुलतला में रहकर जुलाई मास में कलकत्ता लौट आये थे। इस समय हम देखते हैं, स्वामीजी बड़े उत्साह के साथ उपनिषद् और शांकरभाष्य का अध्ययन कर रहे हैं और प्रत्येक समस्या व सन्देह को मिटाने के लिए काशी के प्रमदादास बाबू के पास पत्र लिख रहे हैं। इसी समय चार जुलाई के एक पत्र में अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होंने प्रमदादास बाबू को लिखा, "यह बात ठीक है और कई बार मैंने अनुभव भी किया है कि नाना प्रकार के नये नये मतों को मस्तिष्क में धारण करने से समय समय पर कष्ट झेलना पड़ता है। परन्तु अब की बार तो मुझे एक दूसरे ही प्रकार का रोग हुआ है। ईश्वर के मंगलहस्त में मेरा विश्वास अभी मौजूद है, जो सदा अटल रहेगा—शास्त्र पर भी मेरा विश्वास है, परन्तु भगवान् की कुछ ऐसी इच्छा थी कि मेरे जीवन के गत पाँचसात वर्ष लगातार कई प्रकार की विघ्नबाधाओं के साथ झगड़ने में व्यतीत हों। मैंने आदर्श शास्त्र पाया, आदर्श पुरुष को आँखों देखा, परन्तु पूर्ण रूप से स्वयं अब तक कुछ भी नहीं कर सका हूँ, यही बड़ा कष्ट है।

"विशेष रूप से कलकत्ते के पास रहकर तो कुछ भी होने का उपाय नहीं दीखता। मेरी माँ और दो भाई कलकत्ते में रहते हैं। मैं सबसे बड़ा हूँ, मझला भाई कालेज में प्रथम वर्ष (आर्टस्) में पढ़ रहा है और तीसरा छोटा है। इनकी स्थिति पहले बहुत ही

अच्छी थी, परन्तु पिताजी की मृत्यु के बाद से बहुत ही शोचनीय हो गयी है, यहाँ तक कि कभी कभी उपवास करके ही दिन व्यतीत हो जाता है। इस पर भी सम्बन्धियों ने उन्हें कमजोर समझकर पैत्रिक घर से निकाल बाहर कर दिया था—अन्त में हाइकोर्ट से मकान का कुछ भाग मिला, पर हुआ यह कि उस मुकदमेबाजी में वे सब कुछ खो बैठे। और ऐसा तो प्रत्येक मुकदमे में होता ही है।

"कलकत्ते के पास रहने से उनकी दुःस्थिति देखने के कारण कभी कभी रजोगुण की प्रबलता से अहंकार के विकाररूप कार्य-कारी वासना का उदय हो जाता है। उस समय मन के भीतर बड़ा घोर संग्राम होने लगता है; इसीलिए तो मैंने लिखा था कि मानसिक स्थिति भयंकर है। अब मुकदमा भी समाप्त हो गया है। आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मैं कुछ दिन कलकत्ते में रहकर सब कुछ समाप्त कर इस देश से हमेशा के लिए बिदा ले सकूँ। आशीर्वाद दीजिये कि मेरा हृदय महान् ईश्वरी बल से बलवान हो और सभी प्रकार की माया मुझसे दूर हट जाय।"

परन्तु दिसम्बर मास के पहले स्वामीजी कलकत्ता छोड़ न सके। वे कलकत्ते से वैद्यनाथ गये। वहाँ कुछ दिन रहकर उनके हृदय मे काशीदर्शन के लिए व्याकुलता उत्पन्न हुई, परन्तु विधाता की इच्छा कुछ और ही थी। ३० दिसम्बर सन् १८८९ ई० को वे प्रयागधाम से प्रमदादास बाबू को लिखते है, "आपको एक पत्र मे लिखा था कि दो एक दिन मे काशी जा रहा हूँ, परन्तु विधि के विधान का खण्डन कौन कर सकता है ? मुझे इस बात की सूचना मिली कि योगानन्द नाम के मेरे एक गुरुभाई चित्रकूट, ओंकारनाथ आदि का दर्शन कर यहाँ आकर माता के रोग से

पीड़ित हो गये, अतएव उन्हीं की सेवा-टहल करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। अब मेरे गुरुभाई सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गये हैं। * * * परन्तु मेरा मन काशी जाने के लिए बड़ा व्याकुल हो रहा है।" यहाँ से काशी होकर स्वामीजी २२ जनवरी सन् १८९० को गाजीपुर पहुँचे। इच्छा है कि विख्यात साधु श्री पवहारी बाबा का दर्शन प्राप्त करें। २४ जनवरी को स्वामीजी लिखते हैं, "यहाँ मैं अपने बचपन के साथी श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय के मकान पर हूँ, स्थान सुन्दर है। * * * मेरी बड़ी इच्छा थी कि फिर काशी जाऊँ, परन्तु जिस लिए यहाँ आया हूँ, अर्थात् बाबाजी के दर्शन को, वह लाभ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ।" ४ फरवरी को स्वामीजी फिर लिखते हैं, "बड़े भाग्य से बाबाजी के दर्शन प्राप्त हुए। वे महापुरुष हैं—आज इस नास्तिकता के युग में वे भक्ति तथा योग की अत्यद्भुत क्षमता का उदाहरण हैं, यह बात साधारण नहीं है। मैं इनकी शरणागत हुआ हूँ, इन्होंने मुझे आश्वासन भी दिया है जो सभी के भाग्य में प्राप्त नहीं होता।"

पवहारी बाबा पहले से ही श्रीरामकृष्ण के बारे में जानते थे। स्वामीजी को उन्ही का शिष्य जानकर वे उनका सत्कार करने लगे। धीरे धीरे उनकी घनिष्ठता बढ़ने लगी और वे एक दूसरे के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हो गये। जिस समय वे धर्मराज्य की उच्चतर अनुभूति तथा कठिन दार्शनिक तत्त्वसम्बन्धी चर्चा करने लगते थे, उस समय उनका वार्तालाप ऐसी उच्च स्थिति पर पहुँच जाता था कि अन्य उपस्थित व्यक्तियों में से कोई भी उसका मर्म समझ नहीं पाता था।

स्वामीजी के गाजीपुर आने के बाद प्रति रविवार को राय-

बहादुर गगनचन्द्र राय के मकान में एक छोटीसी धर्मसभा होती थी जिसमें स्थानीय शिक्षित भद्र सज्जन काफी संख्या में उपस्थित रहते थे। उनमें से अधिकांश स्वामीजी का सत्संग प्राप्त करने व उनका मधुर संगीत सुनने के अभिप्राय से वहाँ पर आते थे। स्वामीजी राधाकृष्णलीला-सम्बन्धी संगीत गाया करते थे; और इसलिए गाजीपुर के लोग उन्हें 'बाबाजी' कहकर पुकारते थे। एक दिन उसी सभा में समाजसुधार के विषय में बातचीत के सिलसिले में स्वामीजी ने कहा कि समाज पर अग्निमय अभिशापों की वर्षा कर तथा प्रत्येक आचारव्यवहार की कड़ी आलोचना द्वारा किसी प्रकार का सुधार सम्भव नहीं है। इसके लिए तो असीम प्रेम तथा अनन्त धैर्य की आवश्यकता है। इन्ही साधनों द्वारा शिक्षाविस्तार के बीच में से हमें धीरे धीरे भीतर की ओर से राष्ट्र को उन्नत बनाना होगा; हिन्दू धर्म के महान् सार्वभौमिक आदर्श के प्रति ध्यान देते हुए शिक्षा का प्रचार करना होगा और साथ ही हमें सदा इस बात का स्मरण रखना होगा कि हिन्दू धर्म कोई भ्रमप्रमाद की समष्टि नहीं है। पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता की दृष्टि से विचार न कर गम्भीर अध्यवसाय के साथ सनातन धर्म के महत्त्व को समझने की चेष्टा करनी होगी तथा इस बात की खोज करनी होगी कि इस सनातन हिन्दू जाति का उद्देश्य क्या है और इसकी प्रकृत जीवनीशक्ति कहाँ है। यह बड़े खेद की बात है कि हममें से अनेक व्यक्ति पाश्चात्य शिक्षा के मोह से अन्ध होकर मन ही मन कल्पना करते रहते हैं—भारतवर्ष अपने राष्ट्रीय जीवन के आदर्श से बहुत दूर हट गया है तथा उसका ऐसा कोई सार्वजनीन आदर्श भी नहीं रहा है जिसके द्वारा विभिन्न सम्प्रदायों में एक समन्वय का सूत्र निकाला जा

सके। वर्तमान समाजसुधारकों में यही प्रधान कमी है—आध्यात्मिक नींव पर प्रतिष्ठित हिन्दू सभ्यता के प्रकृत रूप को देखने की दृष्टिशक्ति वे खो बैठे है। जिस दिन हम इस वात को भलीभाँति समझते हुए विदेशी भावयुक्त संस्कारों के पंजे से समाज की रक्षा के लिए उद्यत हो जायँगे, उसी दिन हमारी वर्तमान जातीय समस्या का समाधान होगा।

घनिष्ठ परिचय हो जाने से महान् तपस्वी पवहारी बाबा पर स्वामीजी बड़े मुग्ध हुए। उन्होंने अपने मन में सोचा, "क्या कारण है कि भगवान् श्रीरामकृष्ण की अहैतुकी कृपा के अधिकारी होकर भी आज तक मुझे शान्ति नही मिली? सम्भव है कि इन ब्रह्मज्ञ पुरुष की सहायता से मै शान्ति प्राप्त कर सकूँगा।"

कौन कह सकता है, इस समय प्रबल व्याकुलता से ही वे अपने श्री गुरुदेव की आदेशवाणी को भूल गये थे या नही। श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे एक दिन कहा ही था, "तेरी निर्विकल्प समाधि अभी ताले में बन्द करके रख दी गयी है; काम समाप्त होने पर ही मिलेगी।"—क्या वे क्षणिक दुर्बलता के कारण ही इस बात को भूल गये थे?

स्वामीजी ने सुना था कि पवहारी बाबा ने योगमार्ग की साधना द्वारा सिद्धि लाभ की थी। अतएव उनके हृदय में पवहारी बाबा से योग सीखने की इच्छा जागृत हुई। वे बाबाजी को पकड़कर बैठ गये और कहने लगे, "आपको मुझे योग की शिक्षा देनी ही होगी।" अत्यन्त आग्रह देखकर पवहारी बाबा ने भी हाँ कह दिया। स्वामीजी अब शुभ दिन की प्रतीक्षा करने लगे।

गम्भीर रात्रि में स्वामीजी पवहारी बाबा की गुफा में जाने के लिए तैयार हुए। "श्रीरामकृष्ण या पवहारी बाबा?"—यह

प्रश्न मन में आते ही उनका उत्साह ठण्डा पड़ गया। विह्वल हृदय से, सन्देहपूर्ण चित्त से विवेकानन्द भूमि पर बैठ गये। श्रीरामकृष्ण की असीम कृपा, गम्भीर प्रेम, स्नेहयुक्त व्यवहार, एक एक करके उनकी स्मृति में आने लगे और इससे उनका व्यथित चित्त आत्मधिक्कार से भर गया। एकाएक उनका अन्धकारमय कक्ष दिव्य आलोक से उद्‌भासित हो उठा। स्वामीजी ने अपने सजल नेत्रों को उठाकर देखा—दिव्यदर्शन—उनके जीवन के आदर्श दक्षिणेश्वर के वही अद्‌भुत देव-मानव उनके सामने खड़े हैं! उनके उज्ज्वल तथा विस्तृत नेत्रों में स्नेह, करुणा एवं व्यथापूर्ण भर्त्सना थी—विवेकानन्द अवाक् रह गये, एक प्रहर तक पत्थर की मूर्ति की तरह वे जमीन पर बैठे रहे प्रात.काल हुआ। मन मे सकल्पविकल्प होने लगा कि भगवान् श्रीरामकृष्ण का वह दर्शन मस्तिष्क की दुर्बलता का ही फल तो नहीं था। निदान अगली रात को वे फिर से पवहारी बाबा के पास जाने के लिए उद्यत हुए। पर आज भी वही पहले की देखी हुई ज्योतिर्मयी मूर्ति उसी तरह उनके सामने खड़ी हो गयी!! एक दिन, दो दिन, तीन दिन, लगातार इक्कीस दिन इसी प्रकार व्यतीत होने पर अन्त में वे मर्मवेदना से भूमि पर लोटपोट होकर आर्त स्वर से बोल उठे, "नहीं प्रभो, मै और किसी के पास नहीं जाऊँगा। हे रामकृष्ण! तुम ही मेरे एक मात्र आराध्य हो, मैं तुम्हारा ही दास हूँ। मेरी इस मानसिक दुर्बलता के अपराध को क्षमा करो प्रभो!"

इस सम्बन्ध मे कोई भी प्रश्न उठाने पर स्वामीजी का मुख-मण्डल एक अव्यक्त वेदना से व्यथित तथा गम्भीर हो उठता था—विशेष कोई भी उत्तर न देते थे—दे ही नहीं सकते थे। बहुत

दिनों के बाद उनके रचित 'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को'* शीर्षक कविता के कुछ अंश में हम इस घटना का थोड़ा बहुत आभास पाते हैं :—

बाल-केलि करता हूँ तुमसे मै
और क्रोध करके देव
तुमसे किनारा कर जाना कभी चाहता हूँ
किन्तु निशा काल में
शय्या के शिरोभाग में
देखता हूँ तुमको मैं खड़े हुए,—
चुपचाप,— आँखें छलछलायी हुई,
हेरते हो मेरे तुम मुख की ओर।
उसी समय बदल जाता भाव मेरा,
पैरों पड़ता हूँ पर क्षमा नहीं माँगता;
तुम नहीं करते हो रोष।
पुत्र हूँ तुम्हारा, कहो,
और कोई कैसे इस प्रगल्भता को
सहन कर सकता है ?
प्रभु हो तुम मेरे, तुम प्राणसखा मेरे हो।
कभी देखता हूँ—
"तुम मैं हो, मैं तुम हूँ !"

काशीधाम से स्वामी अभेदानन्दजी की अस्वस्थता का समाचार पाकर स्वामीजी गाजीपुर छोड़कर चले। काशीधाम पहुँचकर उन्होंने अभेदानन्दजी की चिकित्सा की अच्छी व्यवस्था की। जब वे कुछ स्वस्थ हुए तो स्वामी प्रेमानन्दजी को उनकी

* 'गाई गीत शुनाते तोमाय' इस मूल बंगला कविता का अनुवाद।

सेवाटहल में नियुक्त कर स्वामीजी बाबू प्रमदादास मित्र के बगीचेवाले मकान में रहने लगे। इसी समय एक दिन स्वामीजी को श्रीरामकृष्णदेव के एक गृही भक्त बाबू बलराम बसु के परलोक सिधारने का समाचार मिला। इससे स्वामीजी को बड़ा दुःख हुआ। गुरुभाई के वियोग की व्यथा से कातर होकर स्वामीजी को विलाप करते देख प्रमदा बाबू ने कहा, "यह क्या स्वामीजी! आप संन्यासी हैं--शोकार्त होना आपको शोभा नहीं देता।"

स्वामीजी ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया, "क्या आप सोचते हैं कि संन्यासी के हृदय नाम की कोई चीज ही नहीं होती? प्रकृत संन्यासी दूसरों के लिए साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सहानुभूति का अनुभव करते है। विशेषतः मै तो मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ नही हूँ। और फिर वे मेरे गुरुभाई जो थे। हमने एक साथ ही श्रीरामकृष्ण के चरणों के पास बैठकर शिक्षा ग्रहण की थी। उनके वियोग में जो मै कातर हूँ इसमें विचित्र बात क्या है? पत्थर की तरह अनुभूतिशून्य संन्यासी का जीवन मेरे लिए ईप्सित नही है।"

बलराम बाबू की मृत्यु के बाद शोकार्त बसु परिवार को सान्त्वना देने के लिए तथा वराहनगर मठ की व्यवस्था आदि के लिए स्वामीजी काशी से कलकत्ता लौट आये। इसी बीच २५ मई को मठ के एक मित्र तथा सहायक एवं श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ शिष्य सुरेशचन्द्र मित्र का देहान्त हो गया। इससे अब मठ का खर्च चलाने के लिए स्वामीजी चिन्तित हो गये। दो महीने कलकत्ता व वराहनगर में रहकर स्वामीजी ने मठ का खर्च चलाने की उचित व्यवस्था की। इसके बाद उनके मन में

भारतभ्रमण की इच्छा फिर से तीव्र हो उठी। एक ओर तो नव-गठित श्रीरामकृष्ण संघ के प्रति तीव्र ममत्वबोध और दूसरी ओर सत्यकाम संन्यासी की निःसंग साधना का आवेग—इन दो विरुद्ध भावों के संघर्ष में विचलित होकर स्वामीजी ने मन ही मन संकल्प किया कि सभी बन्धनों को—यहाँ तक कि, गुरुभाइयों के निःस्वार्थ प्रेमबन्धन तक को छिन्न करना होगा। जिस शक्ति के बल पर श्रीरामकृष्ण के महान् आदर्श का प्रचार किया जा सकता है उसी शक्ति को प्राप्त करूँगा—अन्यथा इसी चेष्टा में प्राण त्याग दूँगा—बस यही सकल्प उनके मन में दृढ़ हो गया।

उस समय श्रीरामकृष्ण-भक्तों की माता श्रीसारदा देवी भागीरथी के पश्चिम तट पर घुसुड़ी गाँव में निवास करती थीं। स्वामीजी मठ छोड़कर जाने से पूर्व उनका आशीर्वाद प्राप्त करने की आकांक्षा से वहाँ गये। श्रीमाताजी के पवित्र चरणों की वन्दना करते हुए गम्भीर श्रद्धा से उन्होंने कहा, "माँ, जब तक श्रीगुरु के ईप्सित कार्य को मै सम्पन्न न कर लूँगा तब तक नहीं लौटूँगा, तुम आशीर्वाद दो, मेरा संकल्प सिद्ध हो।"

करुणामयी माँ ने वीर सन्तान के मस्तक पर कल्याणहस्त रख श्रीरामकृष्ण का नाम लेकर उन्हें आशीर्वाद दिया। उस पवित्र स्पर्श से स्वामीजी का हृदय एक दिव्य भाव से परिपूर्ण हो गया, उन्हें ऐसा लगा मानो वे एक ऐसी महान् शक्ति के बल से बलवान हो गये है जो सभी प्रकार की विघ्नबाधा, विपत्ति, सन्देह-द्वन्द्व आदि के बीच उनके हृदय में सदैव अचल रहेगी, यहाँ तक कि, मृत्यु का भय भी उन्हें अपने संकल्प से च्युत नहीं कर सकेगा।

१८९० ई० के जुलाई मास में मठभवन छोड़ने के बाद

स्वामीजी ने पहले पहल भागलपुर में वकील मथुरानाथ सिंह के मकान पर कुछ दिन व्यतीत किये। वहाँ से विदा लेकर वे अपने गुरुभाई अखण्डानन्दजी के साथ देवघर आये। वहाँ स्वामीजी ने श्रद्धेय राजनारायण बसु से भेंट कर एक दिन उनके साथ धर्मचर्चा की। देवघर से काशी आकर उन्होंने प्रमदादास बाबू का आतिथ्य ग्रहण किया। उस समय उन्हें हिमालय आकर्षित कर रहा था। अतएव वे अधिक दिन काशी में न रहे। विदा लेने से पूर्व वे प्रमदादास बाबू से कह गये, "जब मै लौटूँगा तो समाज के ऊपर बम की तरह फूट पड़ूँगा और समाज मेरे पीछे चलेगा।" उसके बाद अयोध्या व नैनीताल होकर वे बद्री, केदार के पथ से अलमोड़ा पहुँचे। यहाँ के प्रसिद्ध व्यापारी लाला बदरी सहाय ने दोनों संन्यासियो के रहने के लिए एक सुन्दर बागवाला मकान दे दिया। समाचार पाकर कुछ दिनों बाद स्वामी सारदानन्दजी व कृपानन्दजी भी आकर उनमे सम्मिलित हो गये। इस समय वराहनगर मठ के अधिकांश संन्यासी तीर्थभ्रमण में निकल पड़े थे। कोई कोई हृषीकेश, हरिद्वार इत्यादि स्थानों में कुटी बनाकर अथवा पहाड़ की गुफाओं में रहकर कठोर तपश्चर्या में लग गये।

हिमालय की वैराग्योद्दीपक मनोहर गम्भीर सुन्दरता ने स्वामीजी के समाधिलिप्सु मन को अन्तर्मुखी कर दिया। वे प्रतिदिन रात के समय गुप्त रूप से पहाड़ की गुफा में ध्यान करते थे।

विवेकानन्द के ध्यानस्तिमित नेत्रों में सत्यधर्म मूर्तिमान हो उठा। आगतप्राय नवयुग के सम्मुख श्रीरामकृष्ण की वार्ता को पहुँचाना होगा—भावी भारत के उद्‌बोधन के लिए सत्त्वरज की मिलनवेदी पर सेवाधर्म की स्थापना करनी होगी—इससे पूर्व

निर्विकल्प समाधि प्राप्त न होगी। इस दायित्वपूर्ण कर्म के भार से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने मन ही मन प्रवल व सचेष्ट युद्ध की घोषणा की; परन्तु वार वार असफल होकर अन्त में विरक्ति के साथ पहाड़ की गुफा को छोड़कर अल्मोड़ा लौट आये और थोड़े ही दिनों के वाद गुरुभाइयों के साथ उत्तराखण्ड के परिभ्रमण के लिए निकल पड़े।

इस समय स्वामी तुरीयानन्दजी कर्ण प्रयाग में अलकानन्दा के तट पर आश्रम बनाकर तपस्या में रत थे। स्वामीजी गुरुभाइयों के साथ उनसे मिलकर वड़े आनन्दित हुए। वहाँ से वे वद्री-नारायण की ओर रवाना होनेवाले थे, पर उसी समय स्वामी अखण्डानन्द के अस्वस्थ हो जाने के कारण वे वाध्य होकर उनकी चिकित्सा के लिए देहरादून लौट आये। अखण्डानन्दजी के स्वस्थ हो जाने पर स्वामीजी गुरुभाइयों के साथ हृषीकेश में आकर रहने लगे। वहाँ उनके दिन वेदान्त आदि शास्त्रों की चर्चा तथा ध्यान, जप आदि में व्यतीत होने लगे। हृषीकेश स्वामीजी को वहुत ही आनन्ददायक लगा। इस समय की सुखद स्मृति वे अपने अन्तिम दिन तक भूल न सके थे। अपनी 'परिव्राजक' नामक पुस्तक में मर्मस्पर्शी भाषा में लिख भी गये है :—

"हृषीकेश की गंगा का स्मरण है न ?—वह निर्मल नीला जल—जिसमें दस हाथ नीचे की मछली के पंख तक गिने जा सकते है, वह अपूर्व स्वादपूर्ण हिमशीतल 'गांग्यं वारि मनोहारी' और वह अद्भुत 'हर हर हर हर' तरंगध्वनि, सामने पहाड़ी झरनों के 'हर हर' की प्रतिध्वनि, वह वन में निवास, मधुकरी भिक्षा, गंगा के वीच में छोटे छोटे द्वीपों की तरह प्रस्तरखण्डों पर वैठकर भोजन करना, करपुटों से अंजली भर भर के जल

पीना, चारों ओर खाद्यकणों की आशा से मछलियों का निर्भय विचरण, गंगाजल के प्रति वह प्रीति, गंगाजी की महिमा, गंगाजल का वह वैराग्यप्रद स्पर्श !! * * * गत बार मैं थोड़ा सा गंगाजल ले गया था—कौन जाने ! समय पाते ही एकाध बूँद पी लेता था। पर पीने के साथ ही उस पाश्चात्य जनस्रोत के बीच में, उस सभ्यता के कोलाहल के बीच में, उन करोड़ों मनुष्यों के उन्मत्तप्राय द्रुतपदविक्षेपों के बीच में, मानो मन स्थिर हो जाया करता था। उस देश का वह जनस्रोत, रजोगुण का वह उधम, पग पग पर प्रतिद्वन्द्वियो का वह संघर्ष, विकास का वह क्षेत्र, अमरावती से तुलनीय वह पेरिस, न्यूयार्क, बर्लिन, रोम सभी लुप्त हो जाता था—और मैं सुनता था—वही 'हर हर' ध्वनि, और देखता था—वही हिमालय का निर्जन अरण्य, और वही कल्लोलिनी सुरतरंगिनी मानो हृदय में, मस्तक में नस नस में संचारित हो रही है और गरज गरज कर पुकार रही है 'हर, हर हर, हर।' "

स्वामीजी का कठिन पथभ्रमण से क्लान्त शरीर घोर तपस्या का भार सहन न कर सका। तीव्र ज्वर व डिफ्थिरिया से वे पीड़ित हो गये। उनकी स्थिति दिन पर दिन अधिक खराब होती गयी। अन्त में एक दिन नाड़ी की गति धीरे धीरे क्षीण होने लगी और साथ ही उन्हें खूब पसीना आने लगा। उनके गुरुभाईगण उनका अन्तिम समय निकट जानकर शोक और उद्वेग से अधीर हो उठे। दूसरा कोई उपाय न देखकर सभी मिलकर कातर कण्ठ से ईश्वर के चरणों में उनके प्राणों की भिक्षा माँगने लगे। उसी समय एक अज्ञात तथा अपरिचित संन्यासी दैवयोग से वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने सभी को रोते देख कुतूहलवश कुटी

के भीतर प्रवेश किया। रोगी की स्थिति का विशेष रूप से निरीक्षण करने के बाद उन्होंने उपस्थित संन्यासियों को आश्वासन दिलाया और रोगी को एक दवा खिलाकर वे चले गये। आश्चर्य की बात है कि स्वामीजी ने थोड़ी ही देर में आँख खोल दी और बात करने की चेष्टा करने लगे। एक संन्यासी ने उनके मुँह के पास कान ले जाकर सुना, वे कह रहे हैं, "भाई, तुम लोग डरो मत—मै मरूँगा नहीं।" धीरे धीरे स्वामीजी स्वस्थ होकर उठ बैठे और बोले, "अज्ञान अवस्था में अनुभव किया कि अभी मेरे अनेक कार्य बाकी हैं। उनकी समाप्ति होने के पूर्व देहत्याग न होगा।"

हिमालय से कन्याकुमारी तक भ्रमण करते हुए भारतवर्ष के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प होकर स्वामीजी हिमालय के चिर ईप्सित सुहावने स्थान का परित्याग कर 'सामगान से मुखरित आर्यो के आदि निवासस्थान' पंचनद पहुँच गये। इधर उनके गुरुभाईगण उनका अनुसरण करने लगे और यह जानकर कि स्वामीजी मेरठ में हैं एक एक करके स्वामी ब्रह्मानन्द, अखण्डानन्द, तुरीयानन्द, सारदानन्द, कृपानन्द व अद्वैतानन्द आकर उनके साथ सम्मिलित हो गये। सेठजी का बगीचेवाला मकान एक प्रकार से दूसरा वराहनगर मठ हो गया। कीर्तन, ध्यान, जप, वेंदान्त की चर्चा, शास्त्रालाप, उपस्थित जिज्ञासुओं को धर्म का उपदेश आदि यही नित्य की दिनचर्या हो गयी। एक दिन स्वामीजी के मन में यह विचार उठा कि गुरुभाइयों के स्नेह में भूलकर कहीं वे व्यर्थ में समय तो नष्ट नहीं कर रहे है ?—इस विचार के आते ही स्वामीजी ने सभी को बुलाकर कहा, "मै शीघ्र ही इस स्थान से चला जाऊँगा—मेरी इच्छा

अकेले भ्रमण करने की है। तुममें से कोई भी मेरा पीछा न करना।" स्वामी अखण्डानन्दजी स्वामीजी के साथ जाने के लिए विनीत भाव से उनकी आज्ञा माँगने लगे। स्वामीजी ने उत्तर दिया, "मैं देख रहा हूँ, तुम लोगो का स्नेहबन्धन भी कर्म करने के पथ में प्रबल विघ्नतुल्य है। अतः जिसे देखने से माया जाग उठेगी उसे साथ लेना उचित नही। गुरुभाइयों के प्रति प्रीति भी एक प्रकार की माया है—बल्कि उससे भी अधिक समझो।" इस प्रकार तरह तरह से उन लोगों को सान्त्वना देकर स्वामीजी मेरठ से चल पड़े।

इतने दिनों के बाद अब श्रीगुरुदेव के इशारे को भली भाँति समझकर परिव्राजक संन्यासी शिक्षादाता आचार्य के रूप में भारतभ्रमण के लिए निकल पड़े और धीरे धीरे पंजाब होकर 'साधुओं की पवित्र अस्थि, तथा सती के शोणित से रंजित प्रताप के देश—पद्मिनी की पवित्र भूमि'—वीरों का स्थान—राजपूताना में पहुँचे।

१८९१ ई० का फरवरी मास। स्वामीजी ने अलवर स्टेशन पर उतरकर नगर मे प्रवेश किया। सरकारी धर्मार्थ अस्पताल के डाक्टर बाबू गुरुचरण लष्कर महाशय व उनके मित्र स्थानीय उच्च विद्यालय के मौलवी साहब ने आनन्द के साथ स्वामीजी के ठहरने आदि का प्रबन्ध कर दिया। स्वामीजी जिस घर में रहते थे, वह अधिक लोगों के आने जाने से छोटा पड़ने लगा। यह देखकर इंजिनियर पं० शम्भूनाथ जी बड़े आग्रह के साथ उन्हें अपने घर पर ले गये।

यहाँ प्रतिदिन नौ बजे प्रात.काल से दोपहर तक हिन्दू-मुसलमान दोनों जाति के शिक्षित भद्र युवकगण एकाग्रचित्त से

उनके उदार धर्ममतसमूह का श्रवण करते थे। दार्शनिक चर्चा अथवा किसी कूट प्रश्न का उत्तर देते देते स्वामीजी एकाएक भावोन्मत्त होकर ज्ञानदास, सूरदास, चण्डीदास, विद्यापति आदि भक्त-कवियों के भजन मधुर कण्ठ से गाकर सुननेवालों के हृदय को भक्तिरस से भरपूर कर देते थे। स्वामीजी धर्मान्धता व कट्टरपन के तीव्र समालोचक होते हुए भी उनके युक्तिपूर्ण उत्तरों को सुनकर सभी जिज्ञासु सन्तुष्ट हो जाते थे। भलिभाँति सजाकर अथवा आगे पीछे की सोचकर या लोगों का मन रखने के लिए बात करने में नितान्त अनभ्यस्त स्वामीजी प्रश्न करने के साथ ही उसी समय उत्तर देते थे; उनमें पाण्डित्य या आत्मप्रतिष्ठा प्राप्त करने की किसी प्रकार की चेष्टा नहीं देखी जाती थी। इसी प्रश्नोत्तर की सभा में नाना प्रकार की आलोचनाओं के बीच एक व्यक्ति एकाएक प्रन कर बैठा, "बाबाजी, आप गेरुआ क्यों पहने हुए हैं ?"

"क्योंकि गेरुआ भिक्षुकों का वस्त्र है।" स्वामीजी ने सकरुण दृष्टि डालते हुए कहा, "यदि मैं साधारण मनुष्यों की तरह वस्त्रादि पहनकर भ्रमण करूँ तो निर्धन भिक्षुकगण मुझे धनवान समझकर भिक्षा माँगेंगे। मैं स्वयं एक भिखारी हूँ, मेरे हाथ में एक पैसा भी नही है। माँगने वालों को निराश करने में मुझे बड़ा ही कष्ट होता है, परन्तु मेरा गेरुआ वसन देख वे मुझे अपनी ही तरह एक भिक्षुक समझकर मुझसे भिक्षा न माँगेंगे।" स्वामीजी के इस उत्तर के बीच में निर्धनों के प्रति कैसे गम्भीर समवेदना का आकुल अच्छ्वास छिपा हुआ है—कैसा सुन्दर, कैसा हृदयग्राही !!

इस अद्भुत शक्तिसम्पन्न संन्यासी के बारे मे सुनकर एक दिन

अलवर राज्य के दीवान् बहादुर ने उन्हें अपने घर पर बुलाया। स्वामीजी से परिचित होकर दीवान बहादुर बड़े आनन्दित हुए और उन्हें अपने घर में ठहराकर दूसरे ही दिन महाराज बहादुर को उन्होंने एक पत्र में लिखा, "यहाँ पर एक महापण्डित संन्यासी पधारे हैं। अंग्रेजी भाषा पर तो उनका इतना अधिकार है कि उसे देखकर मैं विस्मित हो गया हूँ। श्रीमान इनके साथ वार्तालाप करके निःसन्देह सन्तुष्ट होंगे।" महाराज मंगलसिंग बहादूर उस समय राजधानी से दो मील दूर एक प्रासाद मे ठहरे हुए थे। संयोगवश वे दूसरे ही दिन राजधानी लौटे और दीवान बहादुर के मकान पर स्वामीजी से उनका साक्षात्कार हुआ। महाराज ने स्वामीजी को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर आसन ग्रहण करने के लिए अनुरोध किया। थोड़ी देर वार्तालाप के बाद महाराज ने पूछा, "स्वामीजी महाराज, मैंने सुना है कि आप धुरन्धर पण्डित तथा एक बड़े विद्वान व्यक्ति हैं। आप यदि चाहें तो प्रचुर धन उपार्जन कर सकते है, फिर भी आपने भिक्षावृत्ति का अवलम्बन क्यों किया?"

स्वामीजी ने कहा, "महाराज, पहले मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिये। आप राजकार्य की अवहेलना करते हुए क्यों साहबों के साथ शिकार आदि व्यर्थ के आमोद-प्रमोद में अपना समय बिताते है?"

राजकर्मचारीगण स्पन्दित हृदय से इस असीम साहसी साधु के अमंगल की आशंका करने लगे। थोड़ी देर सोच विचार कर महाराज ने कहा, "हाँ करता तो हूँ, परन्तु क्यों, यह नही कह सकता। इतना जरूर कह सकता हूँ कि वह मुझे अच्छा लगता है।"

स्वामीजी ने हँसकर कहा, "वस इसलिए मैं भी फकीर के वेश में इधर उधर घूमता फिरता रहता हूँ, कि यह मुझे अच्छा लगता है।" थोड़ी देर वार्तालाप के बाद महाराज समझ सके कि यह कृतविद्य संन्यासी केवल सुपण्डित ही नहीं--निर्भीक व स्पष्टवादी भी है। कुतूहलवश ही हो अथवा वास्तव सत्य को जानने के आग्रह से महाराज ने पुनः प्रश्न किया, "देखिये बाबाजी महाराज, मूर्तिपूजा में मेरा जरा भी विश्वास नहीं है। इसके लिए मेरी क्या दुर्गति होगी ?" महाराज को हँसते देख स्वामीजी संदिग्ध दृष्टि से उनकी ओर देखकर बोले, "क्या महाराज मेरे साथ मजाक कर रहे हैं ?"

महाराज का मुखमण्डल एकाएक गम्भीर हो उठा। उन्होंने आग्रह के साथ कहा, "नहीं नही, स्वामीजी ! वास्तव में मै लकड़ी, मिट्टी, पत्थर या धातु की वनी हुई मूर्तियों के प्रति अन्य साधारण व्यक्तियों की तरह श्रद्धाभक्ति नहीं कर सकता; क्या इसके लिए मुझे परकाल में कठोर सजा भुगतनी पड़ेगी ?"

"अपने विश्वास के अनुसार उपासना करने पर परकाल में सजा क्यों मिलेगी ? मूर्तिपूजा में आपका विश्वास नहीं है तो क्या हुआ ?" स्वामीजी का उत्तर सुनकर वहाँ पर अनेक उपस्थित व्यक्ति विस्मय के साथ सोचने लगे कि वही स्वामीजी जिन्हें उन्होंने कई वार श्रीविहारीजी के मन्दिर में श्रीमूर्ति के सम्मुख भजन गाते गाते भावावेश में आँखों से आँसू बरसाते हुए साष्टांग होकर गिरते देखा है--उन्ही स्वामीजी ने मूर्तिपूजा के समर्थन में दलील क्यों नहीं पेश की ?--निदान उनके हृदय में तरह तरह के सन्देह उठने लगे।

इतने मे ही दीवार पर लटके हुए महाराज के एक चित्र पर

स्वामीजी की दृष्टि पड़ी। स्वामीजी ने उस चित्र को उतरवाया और उसे हाथ में लेकर दीवान बहादुर से पूछा, "क्यों, यह महाराज बहादुर का ही चित्र है न?" दीवान बहादुर ने स्वीकारसूचक संकेत करते हुए मस्तक हिलाया।

स्वामीजी ने कहा, "बहुत अच्छा"—और उस चित्र को भूमि पर रखकर दीवान बहादुर से कहा, "अब आप इस पर जरा थूक दीजिये।" किंकर्तव्यविमूढ़ होकर दीवान बहादुर भयकातर विस्मित दृष्टि से स्वामीजी की ओर ताकने लगे! अन्य सभी उपस्थित व्यक्ति भी स्वामीजी के इस अद्‌भुत कार्य का कारण न जानकर साँस रोके हुए चित्रवत् खड़े रहे। स्वामीजी ने जरा ऊँची आवाज में सभी को उद्देश्य करके कहा, "आप में से कोई भी इस पर थूक दीजिये। यह एक कागज का टुकड़ा ही तो है। आप लोग हिचकिचा क्यों रहे है?—आइये इस पर थूकिये न?" सभी लोग एकबार स्वामीजी के, और फिर महाराज के मुँह की ओर ताकने लगे। दीवान बहादुर अन्त में बोले उठे, "आप कह क्या रहे है स्वामीजी? क्या हम महाराज के चित्र पर थूक सकते है?"

—"महाराज का चित्र होने से इसमें क्या आ गया? इसमे महाराज स्वयं तो उपस्थित नहीं हैं—यह तो सिर्फ एक टुकड़ा कागज है। यह महाराज की तरह हिलडुल तो नहीं सकता या बातचीत भी तो नहीं कर सकता, फिर भी आप लोग चुप क्यों खड़े है?" स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, "हाँ, मैं जानता हूँ, आप लोग इस पर थूक नही सकेगे, क्योकि आप लोग समझ रहे है कि इस पर थूकने से महाराज के प्रति असम्मान प्रकट होगा। क्यों, है न ठीक?" यह सुनकर सभी उपस्थित व्यक्तियों ने

कुण्ठित आनन्द तथा नीरव दृष्टि-भंगी से स्वामीजी के कथन का समर्थन किया। अब स्वामीजी ने महाराज को लक्ष्य करके कहा, "देखिये महाराज, एक दृष्टि से विचार करने पर यह आप नहीं हैं, पर यदि दूसरी ओर से देखा जाय तो इस चित्र में भी आपका अस्तित्व है और इसीलिए कोई इस पर थूकने के लिए अग्रसर नहीं हुआ, क्योंकि ये लोग आपके अनुरक्त व विश्वस्त सेवक हैं। ऐसा कोई भी काम करने में जिसमें आप का असम्मान हो उनका संकुचित होना स्वाभाविक है। ये लोग आपको तथा इस चित्र को एक ही दृष्टि से देख रहे हैं। बस ठीक इसी तरह पत्थर या धातु की बनी प्रतिमाएँ भी श्रीभगवान की विशेष गुणवाचक मूर्तियाँ हैं। उन्हें देखते ही भक्त के मन में उसी भगवान की बातें जाग उठती हैं। भक्त मूर्ति के द्वारा भगवान की ही उपासना करते हैं—धातु या पत्थर की पूजा नहीं करते। मैंने अनेक स्थानों में भ्रमण किया है, परन्तु कभी किसी हिन्दू को यह कहते नही सुना कि, 'हे पत्थर, हे धातु, मै तुम्हारी पूजा कर रहा हूँ, तुम मुझ पर प्रसन्न हो जाओ। महाराज, उन्हीं एक अनन्त भावमय भगवान की—जो सभी के उपास्य तथा सच्चिदानन्द स्वरूप हैं—भक्तगण अपने अपने भाव के अनुसार विभिन्न प्रकार से उपासना किया करते हैं।"—यह कहते कहते स्वामीजी का मुखमण्डल एक दिव्य छटा से उद्‌भासित हो उठा। महाराज कृतज्ञ दृष्टि से टकटकी लगाये हुए हाथ जोड़कर बोले, "स्वामीजी! आपकी कृपा से आज मुझे मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में एक नवीन अभिज्ञता हुई। वास्तव में यदि आपकी दृष्टि से विचार किया जाय तो मैंने भी आज तक एक भी लकड़ी या पत्थर का उपासक नहीं देखा। इतने दिनों तक मैंने मूर्तिपूजा का

वास्तविक रहस्य नहीं समझा था, और न समझने की चेष्टा ही की थी। पर आज आपने मेरी ज्ञान की आँखें खोल दी है।" स्वामीजी से विदा लेते समय महाराज ने उनकी पदधूलि लेकर कहा, "स्वामीजी, कृपा करके मुझे आशीर्वाद दीजिये।"

स्वामीजी स्निग्ध हास्य द्वारा कल्याण वर्षाते हुए बोले, "एक मात्र भगवान के अतिरिक्त कृपा करने का अधिकार और किसी का नही है, आप सरल शुद्ध भाव से उनके चरणों में शरण लीजिये, वे अवश्य ही आप पर कृपा करेंगे।"

जब स्वामीजी अलवर से प्रस्थान करने लगे तो महाराज ने दीवानजी से कहा, "दीवानजी, मैंने आज तक इन जैसे किसी महापुरुष का दर्शन प्राप्त नहीं किया था। इन्हें कुछ और दिन अपने घर में रखने की चेष्टा कीजिये।" दीवानजी ने कहा, "कहा नहीं जा सकता कि यह अग्नितुल्य तेजस्वी व स्वाधीनचेता संन्यासी हमारा अनुरोध किसी प्रकार मानेंगे या नहीं। परन्तु खैर, मैं भरसक चेष्टा करूँगा।"

दीवान बहादुर के विशेष आग्रह को देखकर स्वामीजी ने उनके घर में ठहरना मान तो लिया, परन्तु तय यह हुआ कि कोई भी व्यक्ति किसी भी समय तथा स्थिति में बिना किसी विचार के उनसे साक्षात्कार प्राप्त कर सकेगा। कहना न होगा, दीवानजी ने बड़े आनन्द से स्वामीजी के इस प्रस्ताव को मान लिया।

अलवर निवासी कुछ विश्वासी तथा पवित्रहृदय युवक इससे पहले ही स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर चुके थे। स्वामीजी के उपदेश से उत्साहित होकर अब वे संस्कृत का अध्ययन करने लगे। इस प्रकार कुछ दिन भक्त व शिष्यों के साथ परम

आनन्द से बिताकर स्वामीजी सभी से विदा लेकर भ्रमण के लिए निकल पड़े। अपने गुरुदेव को प्राणसदृश माननेवाले शिष्य-गण मना करने पर भी उनके पीछे हो लिये। प्रेमवश निरुपाय होकर स्वामीजी ने उन्हें अपने साथ ले लिया और अलवर से अठारह मील दूर पाण्डुपोल गाँव में जाकर हनुमानजी के मन्दिर में रात्रि व्यतीत की। प्रातःकाल श्री महावीरजी की पूजा करने के बाद स्वामीजी ने शिष्यों को अलवर लौट जाने का आदेश दिया और स्वयं अकेले अपनी इच्छा के अनुसार घूमते हुए जयपुर पहुँचे।

इधर स्वामी अखण्डानन्दजी स्वामी विवेकानन्दजी के विरह मे कातर होकर उनकी खोज में निकल पड़े थे। जयपुर मे आकर उन्होंने सुना कि राजभवन में एक संन्यासी निवास कर रहे हैं जो प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दर्शनशास्त्रों मे पारंगत है और अंग्रेजी तथा संस्कृत में धाराप्रवाह वार्तालाप कर सकते है। उन्होंने मन में सोचा कि हो न हो यह स्वामीजी ही होगे। उनके अतिरिक्त दूसरा कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता। निदान अखन्डानन्दजी ने उनसे साक्षात्कार किया। स्वामीजी ने उन्हें देखकर आनन्द प्रकट करना तो दूर रहा, बल्कि क्रुद्ध होकर तथा कुछ भय दर्शाकर कहा, "तुमने मेरा पीछा करके अच्छा नहीं किया, शीघ्र ही इस स्थान को छोड़कर चले जाओ।" अखण्डा-नन्दजी दुःखित अन्तःकरण से जयपुर छोड़कर चले गये। उन्होंने मन ही मन सोचा, 'गुरुभाइयों के प्रति इस प्रकार निर्मम होने का अवश्य ही कोई महान् उद्देश्य होगा।'

जयपुर राज्य के एक सभापण्डित असाधारण व्याकरणवेत्ता थे। स्वामीजी ने उनसे पाणिनि-रचित अष्टाध्यायी का अध्ययन

प्रारम्भ किया। पण्डितजी के कई बार समझा देने पर भी लगातार तीन दिन यत्न करने पर भी स्वामीजी प्रथम सूत्र का भाष्य न समझ सके। चौथे दिन पण्डितजी ने कहा, "स्वामीजी, मेरे यहाँ अध्ययन करने से आपको विशेष लाभ न होगा, क्योंकि तीन दिन लगातार चेष्टा करके भी मैं आपको एक सूत्र भी न समझा सका।" स्वामीजी पण्डितजी की बात से लज्जित हुए और मन ही मन उन्होंने संकल्प किया, "जब तक सूत्र का अर्थ समझ न सकूँ तब तक अन्न-जल ग्रहण न करूँगा।"

एक प्रहर समय बीतते ही स्वामीजी पण्डितजी के पास लौट आये और उस सूत्र की व्याख्या उन्हें कह सुनायी। स्वामीजी के मुँह से उक्त सूत्र की इतनी सरल व्याख्या सुनकर पण्डितजी बड़े विस्मित हुए। इसके बाद फिर अनन्यचित्त होकर स्वामीजी अध्ययन में रत हुए और दो सप्ताह में ही उन्होंने अष्टाध्यायी की समस्यायों का समाधान करके पण्डितजी से विदा ली। यहाँ पर हमें यह न समझना चाहिए कि केवल दो सप्ताह में ही उन्होंने सम्पूर्ण पाणिनि का अध्ययन कर लिया था। हम पहले ही कह चुके हैं कि वराहनगर मठ में उन्होंने दो वर्ष तक पणिनि का अध्ययन किया था। जयपुर में उन्होंने पण्डितजी से केवल कुछ अंशों की व्याख्या सीखी थी। इस घटना को सुनकर बाद में कई व्यक्ति सन्देहवश स्वामीजी से प्रश्न किया करते थे। वे उत्तर देते थे, "योगी के लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आत्मा की सारी शक्ति को केन्द्रीभूत करके उसका प्रयोग किसी एक विषय पर करने से त्रिलोक में ऐसा कौन सा रहस्य है, जो अवगत न हो सके?"

जयपुर के प्रधान सेनापति सरदार हरिसिंह के साथ स्वामीजी

का घनिष्ठ परिचय हो गया था। उनके घर में स्वामीजी प्रायः धर्मचर्चा किया करते थे। कहा जाता है, सरदार साहब मूर्ति-पूजा के विश्वासी न थे। एक दिन राजपथ पर श्रीकृष्ण की मूर्ति के साथ जुलूस जा रहा था। स्वामीजी ने एकाएक उन्हें छूकर कहा "देखिये—श्री भगवान का जीता जागता स्वरूप।" सरदारजी का भावान्तर हो गया—डबडबायी आँखों से मन्त्र-मुग्ध की तरह वे खड़े रहे। अन्त में स्वाभाविक स्थिति को फिर से पाकर भरे हुए कण्ठ से बोले, "स्वामीजी, अनेक बार तर्क करके जिस विषय को समझ न सका था, आज आपकी कृपा से इसका अपूर्व दर्शन प्राप्त हो गया।"

स्वामीजी विनोदप्रिय थे। अविश्वासी होकर भी जो लोग तर्क करते थे उन्हें निरुत्तर करके वे सदा ही आनन्द का अनुभव करते थे। एक दिन वे कुछ लोगों के साथ धर्मचर्चा कर रहे थे, इसी समय जयपुर के विख्यात पण्डित सूर्यनारायण वहाँ पधारे। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा, "मैं एक वेदान्ती हूँ। मैं अवतारपुरुषों की विशेष आध्यात्मिक शक्ति मे विश्वास नहीं रखता। पौराणिक अवतारों में भी मेरा विश्वास नहीं है। हम सभी ब्रह्म है। मुझमें और किसी अवतार में क्या अन्तर है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "आपकी बात सत्य है, परन्तु हिन्दू लोग मत्स्य, कच्छप, वराह को भी अवतार कहते हैं। बताइये इनमें से आप कौन है?" सभा में बड़ी हँसी हुई। पण्डितजी लज्जित होकर चुप हो गये।

जयपुर से विदा होकर स्वामीजी अजमेर पहुँचे और आबू पहाड़ की एक गुफा में रहने लगे। कोटा दरबार के एक मुसल-मान वकील स्वामीजी को उस स्थिति में देखकर अपने घर ले

गये। इन धर्मप्राण उदारहृदय मुसलमान महोदय ने स्वामीजी के गुणों का परिचय पाकर कोटा के प्रधान मन्त्री ठाकुर फतेह-सिंह आदि अनेक विशिष्ट व्यक्तियों से उनका परिचय करा दिया। एक दिन मौलवी साहब के बुलावे पर खेतरी के राजा-बहादुर के सेक्रेटरी मुन्शी जगमोहनलाल उनका दर्शन करने आये। केवल कौपीन पहने स्वामीजी उस समय एक खटिया पर लेटे आँखें बन्द किये विश्राम कर रहे थे। मुन्शीजी मन ही मन सोचने लगे, "यह तो ऐसे ही साधारण भटकने वाले साधु दिखते हैं, साधु के भेप में चोर या गिरहकट भी होते हैं।" इतने में ही स्वामीजी उठ बैठे। बातचीत प्रारम्भ हुई। जगमोहन ने पूछा, "स्वामीजी, आप हिन्दू संन्यासी होकर मुसलमान के घर पर हैं, आपके भोजन आदि को ये मुसलमान महोदय छू सकते हैं।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "महाशय, आपका ऐसा कहने का मतलब क्या है? मैं संन्यासी हूँ, मै सभी सामाजिक आचार-व्यवहार से परे हूँ। मै एक मेहतर के साथ भी बैठकर भोजन करता हूँ। यह तो ईश्वर का निर्देश है—अतः मैं निर्भय हूँ। शास्त्र का भी मुझे डर नही है, क्योंकि शास्त्र तो इसका समर्थन करते है। परन्तु हाँ, मुझे भय है आप जैसे सब कुछ जाननेवाले अंग्रेजीवालों से! आप लोग शास्त्र व भगवान की परवाह नहीं करते, मै सर्व भूतों मे ब्रह्म का ज्ञान रखता हूँ। फिर मेरे लिए ऊँच-नीच या स्पृश्य-अस्पृश्य क्या है?"—'शिव शिव' उच्चारण करते हुए स्वामीजी तन्मय हो गये। उनका मुखमण्डल स्वर्गीय आभा से उद्भासित हो गया। इस थोड़ी देर के वार्तालाप से ही जगमोहन मुग्ध हो गये। राजा बहादुर ने जब सेक्रेटरी के मुंह से स्वामीजी की बात सुनी तो उन्हें भी उनके दर्शन करने की

बड़ी लालसा उत्पन्न हुई। उन्होंने स्वामीजी को निमन्त्रण भेजा और एक दिन स्वामीजी से प्रार्थना कर मुन्शीजी उन्हें राजभवन में लिवा लाये। राजा बहादुर ने बड़ी श्रद्धा से अभ्यर्थना करके उन्हें आसन-ग्रहण कराया और स्वयं उनके सामने खड़े होकर पहले उनसे यह प्रश्न किया, "स्वामीजी, यह जीवन क्या है?"

स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "एक अन्तर्निहित शक्ति मानो लगातार अपने स्वरूप में व्यक्त होने के लिए अविराम चेष्टा कर रही है, और बाह्य प्रकृति उसे दबा रही है—इसी चेष्टा का नाम है जीवन।"

राजा बहादुर ने और भी कुछ प्रश्न किये तथा स्वामीजी ने भी उनका उचित उत्तर दिया। उनकी सूक्ष्म दृष्टि तथा गम्भीर आध्यात्मिक शक्ति का परिचय पाकर राजा बहादुर विशेष आनन्दित हुए और कुछ दिनों के बाद उनसे अनुरोध करके उन्हें अपने राज्य में ले आये। धर्मप्राण राजा अजीतसिंह व उनके सेक्रेटरी मुन्शीजी ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। गुरुभक्त शिष्य के व्याकुल आग्रह की उपेक्षा करने मे असमर्थ हो स्वामीजी को कुछ दिन राजमहल मे निवास करना पड़ा।

राजा बहादुर के सभापण्डित श्री नारायण दास उस समय सारे राजपूताना में सर्वश्रेष्ठ विद्वान गिने जाते थे। स्वामीजी इस अवसर पर उनसे पतञ्जलि महाभाष्य का अध्ययन करने लगे। संन्यासी की अलौकिक प्रतिभा से विस्मित होकर पण्डितजी ने एक दिन उनसे कहा, "स्वामीजी, मै जो कुछ सिखा सकता था वह समाप्त हो गया। यदि मै आपको स्वयं न देख लेता तो शायद मुझे यह विश्वास न होता कि आप जैसी प्रतिभा मनुष्य में सम्भव है।" स्वामीजी इन पण्डितजी की चिरकाल तक

अध्यापक की तरह श्रद्धा करते रहे।

खेतरी के राजा को कोई पुत्र नहीं था। एक दिन गुरुदेव से अपना दुःख निवेदित कर उन्होंने प्रार्थना की, "मुझे ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मुझे एक पुत्रसन्तान हो।" राजा की प्रार्थना सुनकर स्वामीजी कुछ चिन्तित हुए। अन्त में कातर आवेदन की उपेक्षा करने में असमर्थ होकर वे बोले, "अच्छा, श्रीरामकृष्णदेव की कृपा से आपकी मनोकामना पूर्ण होगी।"

कुछ दिनों बाद स्वामीजी के हृदय में भ्रमण के लिए निकल पड़ने की इच्छा फिर से जागृत हुई। राजा बहादुर ने दुःखित अन्तःकरण से बड़ी ही अनिच्छा के साथ उन्हें विदा किया।

गुजरात के रेगिस्तानी अंचलों को पैदल लाँघकर अहमदाबाद, लिंबड़ी जूनागढ़, भोज, भेरावल व प्रभास होते हुए सोमनाथ का दर्शन कर स्वामीजी पोरबन्दर पहुँचे। इस बीच में लिंबड़ी के महाराजा ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। एक दिन स्वामीजी को पोरबन्दर के राजपथ पर भ्रमण करते देख महाराजा उन्हें अपने महल में ले आये।

पोरबन्दर के विख्यात विद्वान पण्डित शंकर पाण्डुरंग महोदय से परिचित होकर स्वामीजी की अध्ययन-स्पृहा फिर से जाग उठी। संन्यासी छात्र की सूक्ष्म बुद्धि का परिचय पाकर पण्डितजी भी उन्हें महाभाष्य पढ़ाने लगे। पण्डित नारायण दास के पास स्वामीजी ने उसका अधिकांश पढ ही लिया था। जो शेष रह गया था उसे समाप्त कर अब वे उत्साह के साथ वेदान्त के व्यास-सूत्र का अध्ययन करने लगे। संयोगवश इसी समय गोवर्धन मठ के जगद्गुरु श्री शंकराचार्य महाराज का पोरबन्दर में आगमन हुआ। इस उपलक्ष्य में उनके सभापतित्व में लिंबड़ी

राजभवन में स्थानीय पण्डित मण्डली की एक विचार-सभा बुलायी गयी। पं० शंकर पाण्डुरंग महोदय के साथ स्वामीजी भी सभा में आये।

स्वामीजी की प्रतिभा की ख्याति पण्डितों ने इसके पहले ही सुन रखी थी। इसलिए उनकी परीक्षा लेने के हेतु उनमें से कई व्यक्ति व्यग्र हो उठे। एक दो वयोवृद्ध पण्डित दूसरे पण्डितों की सहायता से उनसे प्रश्न करने लगे। बड़े बड़े पण्डितों की मण्डली के सम्मुख एकाएक वादविवाद में बुलाये जाने पर संभ्रम, संकोच व लज्जा से स्वामीजी का मुखमण्डल आरक्त हो उठा। अन्त में अपने अध्यापक की सम्मति लेकर वे उठाये हुए कूट प्रश्नों का धीरभाव से एक एक करके उत्तर देने लगे। स्वामीजी का विनय, पाण्डित्य व उनकी तेजस्विता देखकर पण्डित मण्डली मुग्ध होकर उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगी। श्री शंकराचार्य महाराज ने भी उन्हें अपने पास बुलाकर बड़े आनन्द से उन्हें आशीर्वाद दिया और स्नेहपूर्ण व्यवहार से सम्मानित किया।

स्वामीजी की असाधारण बुद्धि व पवित्र चरित्र से भलीभाँति परिचित होकर एक दिन उनके अध्यापक पं० शंकर पाण्डुरंगजी ने कहा, "स्वामीजी, मै नहीं समझता कि आप इस देश में धर्म-प्रचार करके विशेष कुछ कर सकेंगे। आपके उदार भावों को हमारे देशवासी जल्दी नहीं समझ सकेंगे। व्यर्थ में शक्ति का क्षय न कर आप पाश्चात्य देशों में जाइये। वहाँ के लोग महत्त्व व प्रतिभा का सम्मान करना जानते है। वहाँ आप अवश्य ही पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता पर सनातन धर्म का अपूर्व ज्ञानालोक फैलाकर एक नवीन युगान्तर लाने में समर्थ होंगे।"

स्वामीजी ने थोड़ी देर सोचकर उत्तर दिया, "हाँ, एक दिन

प्रभात में समुद्र तट पर खड़े होकर मै सुदूर दिगन्त में आलोकोज्ज्वल तरंगमाला का नृत्यकौशल्य देख रहा था। एकाएक मानो मन में आया कि इस विक्षुब्ध समुद्र को लाँधकर मुझे किसी सुदूर विदेश में जाना होगा। परन्तु पता नहीं, यह कैसे सम्भव होगा।"

इस समय संयोगवश स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी हिंगुलाज तीर्थ में जाते हुए रास्ते में वहाँ आ पहुँचे। वे यह जानकर कि लिंबड़ी राजमहल में एक धुरन्धर पण्डित, परमहंस ठहरे हुए हैं, उनके दर्शन के लिए वहाँ आये और बड़े आश्चर्य तथा आनन्द से देखा कि वे परमहंस तो उन्हीं के प्रियतम नेता नरेन्द्रनाथ हैं! बातचीत के सिलसिले में स्वामीजी ने कहा, "भाई सारदा! श्रीरामकृष्णदेव मेरे सम्बन्ध मे जो सब बाते कहा करते थे तथा जिन्हें मै उस समय चपलतावश हँसकर उड़ा देता था वे अब सब धीरे धीरे सत्य प्रतीत होती जा रही है। मै उनका अनुभव भी कर रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे भीतर जो शक्ति है उसके द्वारा तो मै जगत् को उलटपलट सकता हूँ।" स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के चले जाने पर इस शंका से कि कहीं दूसरे गुरुभाईगण भी उनका समाचार पा वहाँ आकर उन्हें तंग न करें, स्वामीजी पोरवन्दर छोड़ द्वारका, माण्डवी, पालीटाना आदि स्थानों का दर्शन करते हुए बड़ौदा में जाकर बड़ौदा राज्य के दीवान बहादुर मणिभाई के अतिथि हुए। वहाँ वे तीन सप्ताह रहे, पर इसी अवसर मे बीच बीच में उन्होंने दो एक दिन के लिए मध्यभारत के कुछ स्थानो को देखा। इस समय भारत के विभिन्न प्रान्तों के जन समुदाय से परिचय प्राप्त कर लेने के लिए उनकी इच्छा मानों सौ गुनी बढ़ गयी थी। गुजरात, कठियावाड़ व वम्वई प्रदेशों के अनेक छोटेवड़े देशी नरेश व शासकों से

उन्होंने स्वेच्छा से परिचय किया। उस समय उनकी यह धारणा थी कि यदि धनी राजा महाराजागण जनसाधारण का दुःख, दैन्य व अज्ञान मिटाने के लिए अग्रसर हों तो काम अधिक सरलता से हो सकेगा। इसके बाद बड़ौदा से खण्डवा होकर एक बंगाली महोदय का परिचयपत्र लेकर वे बम्बई के बैरिस्टर सेठ रामदास छबिलदास के अतिथि हुए। इस समय बम्बई के एक नामी राजनीतिक नेता ने कलकत्ते के एक अँग्रेजी समाचार में प्रकाशित 'सहवास-सम्मति की उम्र' नियत करने वाले कानून (The Age of Consent Bill) के सम्बन्ध में .एक वादविवाद की ओर स्वामीजी की दृष्टि आकर्षित की। स्वामीजी यह देखकर बहुत लज्जित हुए कि बंगाल के शिक्षित भद्र महोदयगण भी निर्लज्ज भाव से इस प्रकार के एक कानून का प्रतिवाद कर सकते है और बातचीत के सिलसिले में उन्होंने बालविवाह के असामञ्जस्य व दुष्परिणाम की तीव्र समालोचना की। एक गेरुआ वस्त्रधारी हिन्दू संन्यासी के ऐसे उदार भाव देखकर बम्बई के वे विख्यात राजनीतिज्ञ बड़े विस्मित हुए।

१८९२ ई० के सितम्बर मास में बम्बई से पूना जानेवाली रेलगाड़ी के एक दूसरी श्रेणी के डब्बे में स्वामीजी बैठे थे— डब्बे में और भी तीन महाराष्ट्रीय युवक यात्री थे। उनमें घोर तर्कयुद्ध छिड़ा था। तर्क का विषय था संन्यास। दो युवक, रानड़े आदि सुधारकों के स्वर में स्वर मिलाकर संन्यास की अकर्मण्यता तथा उसके दोषों का प्रदर्शन कर रहे थे, तीसरे व्यक्ति उनके मतों का खण्डन कर भारत के प्राचीन संन्यास की महिमा का गुणगान कर रहे थे। यह युवक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ही थे। पास बैठे हुए संन्यासी विवेकानन्द इन

तर्करत युवकों की युक्ति व उक्तिओं को ध्यान से सुन रहे थे। अन्त में लोकमान्य तिलक का पक्ष लेकर वे भी तर्कयुद्ध में सम्मिलित हो गये। इस अंग्रेजी जाननेवाले संन्यासी की प्रखर प्रतिभा से वे युवकगण उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। स्वामीजी ने धीर भाव से समझा दिया कि संन्यासियों ने ही भारत के विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण करते हुए जातीय जीवन के उच्च आदर्शों का आज तक समस्त भारतवर्ष में प्रचार किया है। भारतीय सभ्यता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति यह संन्यासी ही है जो शिष्यपरम्परा द्वारा जातीय जीवन के आदर्श की रक्षा नाना प्रकार के विघ्नबाधाओं के बीच में से इतने दिनों तक करता आया है। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि ढोंगी व स्वार्थी व्यक्तियों के हाथों बीच बीच में संन्यास लांछित तथा विकृत हुआ है, परन्तु किसी विशेष व्यक्ति के ढोंग के लिए भारत के समस्त संन्यासी सम्प्रदाय को जिम्मेदार बनाना उचित नही। इस विद्वान संन्यासी की वाक्पटुता तथा गम्भीर पाण्डित्य देखकर लोकमान्य तिलक बड़े मुग्ध हुए और पूना स्टेशन पर उतरकर स्वामीजी को अपने घर लिवा ले गये। स्वामीजी भी तिलकजी की प्रखर प्रतिभा तथा उनका वेदादि शास्त्रों पर अधिकार देखकर आनन्दित हुए तथा हर्ष के साथ उनके घर रहने लगे। दोनों आपस में वेदों के गूढ़ार्थ की चर्चा कर बड़े तृप्त होते थे। इस प्रकार पूना के तिलक-भवन में कुछ दिन व्यतीत कर स्वामीजी ने महाबलेश्वर की ओर प्रस्थान किया। अकस्मात् एक दिन राजपथ पर लिंबडी के ठाकुर साहब अपने गुरुदेव को दीन वेष में देखकर उन्हें अपने घर लिवा लाये और बोले, "महाराज, इस प्रकार व्यर्थ का भ्रमणक्लेश क्यों सहन कर रहे

हैं ? आपको मैं अब न छोड़ूँगा, दया करके मेरे साथ चलिये, लिंबड़ी में आपके स्थायी रूप से रहने के लिए भलीभाँति व्यवस्था कर दूँगा।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "ठाकुर साहब, एक अद्भुत शक्ति मुझे जबरदस्ती घुमा रही है। भगवान श्रीरामकृष्णदेव मेरे कन्धे पर एक महान् कार्य का भार सौंप गये हैं। जब तक वह कार्य समाप्त न होगा तब तक विश्राम करने की आशा व्यर्थ है। यदि जीवन में कभी विश्राम करने का अवसर मिला तो आपके साथ आकर जरूर रहूँगा।"

विवेकानन्द फिर अपने पथ पर निकल पड़े और मार्मागोआ होकर बेलगाँव पहुँचकर वे एक विशिष्ट महाराष्ट्रीय महोदय के अतिथि हुए। उनके पुत्र अध्यापक जी. एम. भाटे, एम. ए. ने अपने यहाँ के नवीन अतिथि के सम्बन्ध में जो विस्तृत विवरण लिखा है उसमें हम देखते है कि सरल, उदार, अकपट स्वामीजी के पाण्डित्य, निरभिमान, विनय व तीव्र राष्ट्रप्रेम से स्थानीय सभी शिक्षित व विशिष्ट व्यक्ति उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। बेलगाँव निवासी हरिपद मित्र, जो जंगल के मुहकमे में एक कर्मचारी थे, इन संन्यासी का परिचय प्राप्त कर उन्हें अपने घर ले आये और उनके पाण्डित्य व धर्म के प्रति अनुराग से मुग्ध होकर सपत्नीक उनके शिष्य बन गये। यहाँ पर स्वामीजी ने एक दिन हरिपद बाबू से अमेरिका में जाकर शिकागो धर्मसभा में सम्मिलित होने की अपनी इच्छा प्रकट की थी। परन्तु जब हरिपद बाबू ने इस उद्देश्यसिद्धि के लिए चन्दा इकट्ठा करने का प्रस्ताव किया तो स्वामीजी ने उन्हें रोक दिया। थोड़े दिन के बाद मित्र-दम्पति से विदा लेकर स्वामीजी बेलगाँव से बंगलोर

चले गये।

मैसूर राज्य के दीवान आर. के. शेषाद्रि बहादुर की भी स्वामीजी से भेंट हुई। उन्होंने, इनकी ओर आकर्षित होकर, मैसूर नरेश महाराजा चामराजेन्द्र वाडियर बहादुर को इनसे परिचित करा दिया। महाराजा भी स्वामीजी की अलौकिक प्रतिभा व उनके पाण्डित्य का परिचय पाकर विशेष आनन्दित हुए और उन्होंने उनसे राजभवन में रहने के लिए बड़ी श्रद्धा से प्रार्थना की। स्वामीजी राजभवन में अतिथि हो गये। मैसूर नरेश बड़े सरल व उदारप्रकृति थे। स्वामीजी समय समय पर बालक की तरह सरल भाव से महाराजा के किसी कार्य में त्रुटि देखकर उसी समय उसकी तीव्र आलोचना कर देते थे, इससे महाराजा विशेष आनन्द का अनुभव करते थे। एक दिन स्वामीजी की सस्नेह भर्त्सना से बनावटी क्रोध प्रकट करते हुए महाराजा ने कहा, "स्वामीजी, मै इतना बड़ा महाराजा हूँ। मुझसे आपको डरना उचित है, मेरी खुशामद करना उचित है। भविष्य के लिए आप सावधान हो जाइये, वरना आपका जीवन संकट में पड़ सकता है।"

स्वामीजी ने बालकोचित सरलता से महाराजा की बातों पर विश्वास करते हुए गम्भीर भाव से उत्तर दिया, "आपके अनुचित कार्य व कथनों का समर्थन करने के लिए तो अनेक सभासद है ही, मै संन्यासी हूँ—सत्य ही मेरी तपस्या है। मामूली जड़ देह के अनिष्ट की आशंका से मै सत्य को छोड़ दूँ? आप हिन्दू राजा होकर क्या एक हिन्दू संन्यासी से भी अनुचित कार्य की आशा रखते है?"

कहना न होगा, इस प्रकार की निर्भीक स्पष्टवादिता के लिए

ही स्वामीजी मैसूर नरेश के मित्र बन सके थे। महाराजा एक ओर जिस प्रकार स्वामीजी के साथ हासपरिहास एवं रहस्यपूर्ण वार्तालाप करते थे, दूसरी ओर उसी प्रकार गुरु की तरह श्रद्धा भी रखते थे, यहाँ तक कि महाराजा बहादुर ने एक दिन स्वामीजी की पादपूजा करने का अभिप्राय प्रकट किया, परन्तु स्वामीजी ने उसका ऐसा निषेध किया कि महाराजा को बाध्य होकर इस संकल्प का परित्याग करना पड़ा। कोई आश्चर्य नहीं कि पार्थिव यश, सम्मान व ऐश्वर्य की आकांक्षारहित इस संन्यासी ने केवल अपने विमल चरित्र के प्रभाव से राजाधिराज से लेकर एक मेहतर तक के हृदय पर अधिकार प्राप्त कर लिया था।

एक दिन दीवान बहादुर के सभापतित्व में राजप्रासाद में एक विचारसभा बुलायी गयी। बंगलोर नगर के प्रायः सभी पण्डित-गण् इस सभा में सम्मिलित हुए।

वेदान्त पर विचार आरम्भ हुआ। पण्डितगण वेदान्त के विभिन्न मतवादों का समर्थन कर वादविवाद में प्रवृत्त हुए। अपने अपने मत की स्थापना की आकांक्षा से दूसरों के मत को भ्रान्त प्रमाणित करने के लिए तर्कवितर्क की खूब आँधी उठी—परन्तु बहुत समय व्यतीत होने पर भी लोग किसी सिद्धान्त पर न पहुँच सके।

अन्त में दीवान बहादुर के अनुरोध से स्वामीजी खड़े हुए और श्रद्धा के साथ उन्होंने उपस्थित मण्डली का अभिवादन किया। उनके दैवी लावण्यमण्डित मुखमण्डल तथा उज्ज्वल विशाल नेत्रों ने थोड़ी ही देर मे वयोवृद्ध विद्वान पण्डितमण्डली के हृदय पर अपना अधिकार जमा लिया। स्वामीजी ने अपने स्वाभाविक मधुर कण्ठ से सुललित संस्कृत में अपूर्व युक्ति द्वारा प्रमाणित कर

दिया कि सर्व सन्देह-विनाशक वेन्दात के विभिन्न मतवाद परस्पर-विरोधी नही, बल्कि एक दूसरे के समर्थक है। वेदान्त शास्त्र कुछ दार्शनिक मतवादों की समष्टि नही, वरन् साधक जीवन की विभिन्न स्थितियों में अनुभूत सत्यों का समूह है। अतः एक की सत्यता प्रमाणित करने के लिए ऊपर से विरुद्ध प्रतीत होनेवाले दूसरे को मिथ्या प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नही है। स्वामीजी की वेदान्त की नवीन व्याख्या सुनकर उपस्थित पण्डित-मण्डली आश्चर्यचकित हो गयी और एक स्वर से उनकी प्रशंसा करने लगी।

एक दिन बातचीत में महाराजा ने कहा, "स्वामीजी, मेरी बड़ी इच्छा है कि यदि मै आपके लिए कुछ कर सकता तो बड़ा ही अच्छा होता। आप तो मुझसे कुछ भी ग्रहण नही करेंगे।"

स्वामीजी ने अपने भारतभ्रमण की अभिज्ञता से देश की वर्तमान स्थिति का वर्णन करके कहा, "हमारी वर्तमान आवश्यकता है पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से आर्थिक व सामाजिक स्थिति को उन्नत बनाने की चेष्टा करना। केवल यूरोप-निवासियों के दरवाजे पर खड़े होकर रोनेपीटने से तथा भीख माँगने से उद्देश्य सिद्ध न होगा। वे लोग हमे जिस प्रकार वर्तमान उन्नत वैज्ञानिक प्रणाली से कृषि, शिल्प आदि की शिक्षा देंगे, उसके बदले मे हमे भी उन्हें कुछ देना होगा। भारत के पास इस समय एक मात्र आध्यात्मिक ज्ञान के अतिरिक्त और देने योग्य है ही क्या? इसीलिए कभी कभी मेरी इच्छा होती है कि वेदान्त के उदार धर्मप्रचार के लिए पाश्चात्य देश में जाऊँ। प्रत्येक भारतवासी का स्वजाति व स्वदेश के कल्याण की कामना से ऐसी चेष्टा करना कर्तव्य है जिससे इस प्रकार के आदानप्रदान

का सम्बन्ध स्थापित हो सके। आप जैसे महाकुलप्रसूत शक्तिशाली राजन्यवर्ग यदि चेष्टा करें तो सहज ही में यह कार्य प्रारम्भ हो सकता है। आप ही इस महत्कार्य में अग्रसर हों, यही मेरी एक मात्र इच्छा है।"

महाराजा ने ध्यान से स्वामीजी की बातें सुनीं और कहा, "स्वामीजी, यदि आप पाश्चात्य देशों में हिन्दू धर्म का प्रचार करने के लिए जायँ तो उस सम्बन्ध में सारे व्यय का भार उठाने के लिए मैं तैयार हूँ।" यहाँ तक कि महाराजा उसी समय उन्हें कई हजार रुपये देने को भी तैयार हो गये। पर स्वामीजी ने लेने से इन्कार करते हुए कहा, "महाराज, मैं अभी स्थिर निश्चय नहीं कर सका हूँ। मैंने हिमालय से कन्याकुमारी तक भ्रमण करने का संकल्प किया है। यह परिव्राजक-व्रत उद्यापित न होने तक अन्य किसी दूसरे कार्य में हस्तक्षेप न करूँगा—यहाँ तक कि उसके बाद क्या करूँगा, कहाँ जाऊँगा, इसका भी कोई निश्चय नहीं है।"

अन्त में एक दिन स्वामीजी को प्रस्थान करने के लिए तैयार देख महाराजा ने उन्हें विविध प्रकार के बहुमूल्य द्रव्यों का उपहार प्रदान किया। बहुत अनुरोध करने पर स्वामीजी ने उनमें से मित्रता के स्मृतिचिह्न के रूप में एक छोटीसी चीज लेकर शेष सब को अस्वीस्कार कर दिया। दीवान बहादुर ने स्वामीजी की छोटीसी गठरी में एक नोटों का बण्डल रख देने के लिए बहुत चेष्टा की, परन्तु वे उसमें भी सफल न हो सके। इससे दीवान बहादुर बहुत दुःखी हो गये। स्वामीजी ने उन्हें खिन्न देखकर कहा, "अच्छा ऐसा ही है तो लो मैं कोचीन तक का एक दूसरी श्रेणी का रेलटिकट तुमसे लिये लेता हूँ।" दीवान

बहादुर कोचीन राज्य के दीवान के लिए एक परिचयपत्र देकर बोले, "स्वामीजी, दया करके मेरे एक अनुरोध को स्वीकार कीजिये। आप पैदल भ्रमण का कष्ट न उठाइयेगा। कोचीन राज्य के दीवानजी आपकी श्रीरामेश्वर तक जाने की व्यवस्था कर देंगे।"

स्वामीजी कोचीन की राजधानी त्रिचूर में कुछ दिन विश्राम कर मलावर प्रान्त में से होकर त्रावणकोर राज्य की राजधानी त्रिवेन्द्रम में उपस्थित हुए। त्रावणकोर महाराजा के भतीजे के गृहशिक्षक अध्यापक सुन्दरराम अय्यर ने उन्हें आदर के साथ अतिथि के रूप मे ग्रहण किया। स्वामीजी ने उनके द्वारा त्रावणकोर के महाराजा, दीवान बहादुर तथा प्रिन्स मार्तण्ड वर्मा के साथ परिचय प्राप्त किया। इन राजकुमार के साथ वार्तालाप के सिलसिले मे स्वामीजी उत्तर भारत, राजपूताना तथा पश्चिम भारत के देशी नृपतियों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए बोले—"देशी राजा महाराजाओं मे बड़ौदा के गायकवाड़ की विद्वत्ता, कर्मकुशलता व देशप्रीति विशेष रूप से श्लाघ्य है।" स्थानीय कुछ पण्डितगण भी स्वामीजी के पाण्डित्य व प्रतिभा से मुग्ध हुए। इस समय की स्मृति में त्रावणकोर के श्री एस. के. नायर ने लिखा है:—

"विख्यात विद्वान महाराजा कालेज के रसायनशास्त्र के अध्यापक श्री रगचारियार व स्वामीजी दोनों ही अंग्रेजी व संस्कृत के धुरन्धर विद्वान है। वे आपस में नाना विषयों की चर्चा कर सुखी होते थे। ऐसे व्यक्ति बहुत कम थे जो स्वामीजी के साथ थोड़ी भी देर वार्तालाप करने पर उनके प्रखर व्यक्तित्व से आकृष्ट न हो जाते हो। एक ही साथ कई अथवा अलग अलग अनेक

व्यक्तियों के विभिन्न विषय के प्रश्नों का एक ही साथ उत्तर देने की उनमें अपूर्व दक्षता थी। कभी स्पेन्सर, कभी शेक्सपिअर, कभी कालिदास और कभी डार्विन के अभिव्यक्तिवाद, यहूदी जाति का इतिहास, आर्य सभ्यता की क्रमाभिव्यक्ति, वेद, इस्लाम धर्म अथवा ईसाई धर्म—किसी भी विषय में प्रश्न क्यों न किया जाय, स्वामीजी उचित उत्तर देने के लिए सदा तैयार रहते थे। उनके सभी अंगप्रत्यंग महानता व सरलता से मण्डित थे। पवित्र हृदय, आडम्बर विहीन जीवन, उदार व खुले दिल का व्यवहार, व्यापक ज्ञान व गम्भीर सहानुभूति ही उनके चरित्र की विशेषताएँ हैं।"

मदुरा में रामनद के राजा भास्कर सेतुपति से उनका परिचय हुआ और विद्वान राजा ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। जनसाधारण की स्थिति को उन्नत बनाने के लिए शिक्षा के विस्तार व कृषि की उन्नति के लिए संसार से वैराग्य लिये हुए संन्यासी को आग्रह व उत्साह के साथ चर्चा करते देख राजा को कुछ विस्मय हुआ। स्वामीजी ने कहा, "मोक्ष लक्ष्य अवश्य ही संन्यासी का है, परन्तु मुझे मेरे गुरुदेव से यही आदर्श प्राप्त हुआ है कि भारतवर्ष की जनता की उन्नति करने की चेष्टा करना भी मोक्षप्राप्ति का एक साधन है।" मदुरा में कुछ दिन बिताकर दक्षिण भारत की वाराणसी रामेश्वर में भगवान् श्रीरामचन्द्र द्वारा स्थापित शिव के तथा अन्य बड़े बड़े मन्दिरों का दर्शन करके स्वामीजी कन्याकुमारी की ओर चले।*

---

* त्रिवेन्द्रम में स्वामीजी का आतिथ्य करनेवाले श्री सुन्दरराम अय्यर के सुपुत्र श्री के. एस. रामस्वामी शास्त्री की जानकारी के अनुसार स्वामीजी त्रिवेन्द्रम से सीधे कन्याकुमारी पधारे। वहाँ से रामनद जाकर

स्वामीजी के भारतभ्रमण की अपूर्व कथा ज्यों की त्यों लिपिबद्ध करना इस पुस्तक में सम्भव नहीं है। अतः हम इसे संक्षेप में ही समाप्त करने के लिए बाध्य हो रहे हैं। स्वामीजी कभी राजाधिराजाओं के सुन्दर, शीतल, संगमर्मर के प्रासादो में आराम कर रहे हैं—पास स्वयं नरपति आदेशपालन के लिए हाथ जोड़े खड़े हैं, तो कभी धूप से चमकनेवाली प्रचण्ड मरुभूमि की तपी हुई बालू पर भूखप्यास से व्याकुल चले जा रहे है—और सामने एक साधारण बनिया उन्हें खाद्य वस्तुओं का लोभ दिखा दिखाकर उनसे व्यंग कर रहा है। कभी वे राजामहाराजा तथा उच्च वंशजात धनी व मानी व्यक्तियों के आग्रहपूर्ण आमन्त्रणों को अस्वीकार करके निर्धन चमार के घर में भिक्षा ग्रहण कर उसे कृतार्थ कर रहे हैं, तो कभी पाँच पाँच, छः छः दिन भूखे-प्यासे रहकर पेड़ के नीचे प्रसन्नतापूर्ण हँसी के साथ धर्म के सूक्ष्म तत्त्वों की व्याख्या कर रहे है। आदर, सम्मान, भक्ति, उपेक्षा व ताड़ना--कुछ भी उनके चित्त को विचलित करने में समर्थ न हुआ। उस अपूर्व तितिक्षा, असीम धैर्य, अलौकिक त्यागशक्ति, अपार परदुःखकातरता का वर्णन मानवी भाषा में करना असम्भव है। हम जिसे दुःखकष्ट कहते हैं--जिसके साधारण स्पर्श से हम व्यथितचित्त होकर चीत्कार करते हुए 'भगवान का विचार नहीं है' इत्यादि मन्तव्य प्रकट कर बैठते है, मूर्तिमान संन्यासरूपी इस महामानव ने अविचलित रहकर उन सभी कष्टों को सहन किया है—केवल सहन ही नहीं—मानो उनमें ही वे आनन्द से उन्मत्त

फिर रामेश्वर गये। रामेश्वर से रामनद वापस आकर वे मदुरा-पाण्डिचेरी होते हुए मद्राम पहुँचे। भौगोलिक दृष्टि से भी यही मत समीचीन प्रतीत होता है।

—प्रकाशक

भी हो जाते थे। उन्होंने कभी दुःख से दूर भागने की चेष्टा नहीं की, वल्कि स्वयं अपने समग्र योगैश्वर्य को गुप्त रखते हुए वे मानव जाति की सारी दुर्बलता—समस्त पापभार—तथा सभी दुःखकष्ट स्वयं अपने कन्धे पर उठाकर, हमारी ही तरह मनुष्य सजकर जगत् के कल्याण की कामना से नवजागरण की पुण्य वार्ता लेकर द्वार द्वार पर फिरे हैं। वर्तमान युग में इससे वढ़कर स्वार्थत्याग तथा तपस्या किसने कहाँ देखी है? इसीलिए स्वामीजी ने भारतभ्रमण के लिए चलने से पहले किसी भक्तिभाजन मित्र को एक पत्र में लिखा था, "आशीर्वाद दीजिये कि मेरा हृदय महान् ईश्वरी बल से वलवान हो और सभी प्रकार की माया मुझसे दूर हो जाय—For 'We have taken up the Cross, Thou hast laid it upon us and grant us strength that we bear it unto death. Amen'—Imitation of Christ

"क्योंकि—हमने जगत् के दुःखकष्टरूप क्रास को उठा लिया है। हे पिता, अव तुम्हीं हमें बल दो ताकि हम उसे मृत्यु तक वहन कर सकें।"

इस अविराम भ्रमण के बीच में से भारत के विभिन्न प्रान्तों के आचारविचार, रीतिरिवाज आदि का परिचय पाकर स्वामीजी को जो अभिज्ञता प्राप्त हुई थी वह साधारण न थी; परन्तु सव से वढ़कर, जनसाधारण की निर्धनता, अज्ञान व कुसंस्कार से उत्पन्न दुःख ने ही उनका विशाल हृदय व्यथित कर दिया था। हम देखते है, अपने परिव्राजक जीवन मे वे प्रायः सभी स्थानों में राजा महाराजाओं के अतिथि हुए है, स्वयं उनसे मिले है। इस समय उनका विश्वास था कि पाश्चात्य भावों से उन्मत्त, घोर विलासी तथा अमितव्ययी देशी राजाओ के चित्त में यदि राष्ट्र

के प्रति सहानुभूति जाग्रत हो जाय तो जनसाधारण का बड़ा कल्याण हो सकता है। वे सोचा करते थे, वे लोग जिस धन को भोगविलास में व्यय करते है उसका यदि थोड़ासा भी अंश शिक्षा व कृषि की उन्नति में लगा दें तो जनसाधारण का निश्चय ही बड़ा कल्याण हो और यदि वे पाश्चात्य भोगविलास का अनुकरण न करें तो इन्हें देखकर साधारण धनिकगण भी स्वजाति के साथ सामाजिकता को छिन्न कर साहबीपन की ओर न झुकें। परन्तु परवर्ती काल में उनकी यह धारणा बदल गयी थी। देश के कल्याण के लिए राजामहाराजा व धनिकों के बजाय उनका विश्वास चरित्रवान, शिक्षित युवकों के प्रति अधिक दृढ़ हो चला था। इस समय युवक संन्यासी विवेकानन्द के विचारों व चरित्र में अति द्रुत परिवर्तन हुआ था।

१८८८ ई० मे जो अशान्त परिव्राजक वराहनगर मठ को छोड़कर निरुद्देश्य यात्रा मे निकल पड़े थे तथा १८९२ ई० के दिसम्बर मास मे जिन विवेकानन्द को हमने दाक्षिणात्य के पथ-पथ मे भ्रमण करते देखा—वे दोनों सम्पूर्ण पृथक् न होने पर भी बहुत कुछ पृथक् व्यक्ति है। इस प्रकार अद्भुत मानसिक विकास अति अल्प मानव मे ही सम्भव है। मानो भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के मंगल हस्त ने आवरण के बाद आवरण को हटाकर उन्हे भारतभ्रमण के वहाने राष्ट्रीय जीवन की मर्मान्तिक समस्याओं का प्रत्यक्ष परिचय करा दिया।

सामने—वायु से आन्दोलित तरंगों के विक्षोभ से पूर्ण उच्छ्-वसित सुनील महासागर; पीछे पर्वत, मैदान तथा अरण्यों से सुशोभित सस्यश्यामला भारतमाता—और उसकी अन्तिम पाषाणशिला पर योगासन में उपविष्ट नवभारत के मन्त्रगुरु—

परिव्राजकाचार्य विवेकानन्द ! कैसा महिमामय दृश्य है ! !

स्वामीजी सोच रहे थे—गुरुदेव की आदेश-वाणी को शिरोधार्य कर समग्र भारतवर्ष का भ्रमण किया, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच, राजा-महाराजा, पण्डित-मूर्ख—सभी के द्वार द्वार पर गया हूँ—अपरोक्षानुभूति द्वारा प्राप्त सत्य के प्रचार के लिए यथासाध्य चेष्टा की है—परिव्राजक का व्रत उद्यापित हुआ है, अब मैं क्या करूँ ? क्या और भी कुछ कर्म शेष हैं ?

कन्याकुमारी के श्रीमन्दिर के पास प्रस्तरासन पर बैठे योगीवर ध्यानमग्न हो गये ! महापुरुष के तपोमार्जित निर्मल, पवित्र चित्तदर्पण पर मातृभूमि के अतीत, वर्तमान व भविष्य चित्रसमूह एक एक करके प्रतिबिम्बित होने लगे । आशा-आनन्द, उद्वेग-अमर्ष से उद्वेलितहृदय वीरवर संन्यासी की ध्यानदृष्टि के सामने 'वर्तमान भारत' देदीप्यमान हो उठा । "यही मेरा भारतवर्ष है —मेरी प्यारी मातृभूमि !"—सोचते सोचते उनकी दोनों आँखों में आँसू भर आये ।

उन्होने देखा—धर्मक्षेत्र भारतवर्ष दुर्भिक्ष, महामारी, दुःखदैन्य, रोग-शोक से जर्जरित है । एक ओर प्रबल विलास-मोह में उन्मत्त, अधिकारमद से मतवाले धनिक लोग गरीबों को चूसकर अपने विलास की पिपासा को तृप्त कर रहे हैं—दूसरी ओर अनाहार से जीर्णशीर्ण, फटे वस्त्रवाले, मुखमण्डल पर युगयुगान्त की निराशा को लिये अगणित नरनारी, बालकबालिकाएँ 'हा अन्न, हा अन्न' के चीत्कार से गगनमण्डल को विदीर्ण कर रहे हैं; शिक्षादीक्षा के अभाव में निम्नजातीय लोग पुरोहित सम्प्रदाय के हृदयहीन कठोर व्यवहार से सनातन धर्म के प्रति श्रद्धाहीन हो गये हैं; केवल यही नही, हजारों व्यक्ति हिन्दू धर्म को ही अपराधी ठहराकर

दूसरे धर्म को ग्रहण करने के लिए तैयार हैं, करोड़ों व्यक्ति प्रति दिन अज्ञान के अन्धकार में डूब रहे है—उनके हृदय में न आशा है, न विश्वास है और न नैतिक बल ही। शिक्षित नामधारी एक अपूर्व श्रेणी के जीवगण उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करना तो दूर रहा, पाश्चात्य शिक्षा से स्वेच्छाचारी बन उन्हें छोड़कर नये नये समाज व सम्प्रदायों की स्थापना द्वारा हिन्दू धर्म के मस्तक पर अग्निमय अभिशापों की वर्षा करने मे लगे हुए है। धर्म केवल प्राणविहीन आचारनियमों की समष्टि व कुसंस्कारों की लीलाभूमि है। परिणाम मे वर्तमान भारत प्रायः आशा, उद्यम, आनन्द व उत्साह के बिखरे हुए ध्वंसावशेषों से पूर्ण महास्मशान बना हुआ है। काम-काचन-त्यागी आजन्म समाधिलिप्सु सन्यासी का वज्रकठोर विशाल हृदय दया से द्रवीभूत हो गया।

बोधिवृक्ष के नीचे बैठे शाक्य कुमार गौतम बुद्ध की ही तरह उनका हृदय हजारों अज्ञ, मोहान्ध, अत्याचारपीडित एवं उपेक्षित देव-ऋषियों के वशधरों के लिए रो उठा। वे सोचने लगे, "हम लाखों संन्यासी इन्ही के अन्न से जीवन धारण करते हुए इसके लिए क्या कर रहे है? उन्हे दर्शनशास्त्र की शिक्षा दे रहे हैं! धिक्कार है!! भगवान श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, 'खाली पेट में धर्म नही होता, साधारण अन्न व मोटे वस्त्र की व्यवस्था चाहिए।' भूखे व्यक्ति को धर्मोपदेश देने के लिए अग्रसर होना मूर्खता मात्र है। धर्म उनमे यथेष्ट है। आवश्यकता है शिक्षा-विस्तार की—चाहिए भोजनवस्त्र की व्यवस्था। परन्तु यह कैसे सम्भव होगा? इस कार्य में अग्रसर होने के लिए प्रथम चाहिए मनुष्य और द्वितीय धन।"

कमर की कौपीन मात्र सहाय, निर्धन संन्यासी है वे—वे क्या

कर सकते हैं? निबिड़ नैराश्य से उनका हृदय भर उठा। गम्भीर—गम्भीरतम चिन्ता से उनके हृदय का अन्तःस्तल आलोड़ित हो गया। पर एकाएक निराशा के घनान्धकार को हटाकर आशा की दिव्य ज्योति स्फुरित हुई! वेदनामिश्रित आनन्द की तीव्रतम अनुभूति लेकर वे सोचने लगे, "श्रीगुरुदेव के आशीर्वाद से इस महान् कार्य का भार मैं ग्रहण करूँगा। उन्हीं की इच्छा से निकट भविष्य में भारत के नगर नगर, गांव गांव में ऐसे हजारों नरनारी पैदा होंगे जो गतानुगतिक रूप से स्वार्थान्ध होकर भोगविलास के पीछे न दौड़ेंगे—जो नरनारायण की सेवा में सर्वस्व अर्पण कर इस महान् युगचक्र के विवर्तन में सहायक होंगे। परन्तु धन कहाँ से आयेगा?—मैंने इस चिन्ता के भार को मस्तिष्क में लेकर हृदय का रक्त देते देते समस्त भारतवर्ष का भ्रमण किया है—धनी, राजा-महाराजा, प्रत्येक के द्वार द्वार पर गया हूँ—गरीबों की सहायता के लिए प्रार्थना की, परन्तु प्राप्त हुई केवल मौखिक सहानुभूति। केवल भारतवर्ष के मुखापेक्षी बनकर रहना व्यर्थ में समय नष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस विस्तीर्ण महासागर को लाँघ, भारत के लाखों पीड़ितों का प्रतिनिधि बनकर मै पाश्चात्य देश मे जाऊँगा। वहाँ मस्तिष्क के बल पर अर्थोपार्जन करके स्वदेश लौटूंगा और शेष जीवन मातृभूमि की उन्नति के लिए लगा दूंगा—अन्यथा इसी चेष्टा में प्राण त्याग दूंगा।"

* * * *

मोक्षकामी संन्यासी मनुष्यत्व व मातृभूमि के सेवक के रूप में ध्यानासन से उठे। मन में दुविधा नही रही, सन्देह व संकोच हट गया, महान् गुरु श्रीरामकृष्णदेव के निर्देश व नियोग को

उन्होंने सर्वान्तःकरण से स्वीकार कर लिया। उन्होंने इस बात की उपलब्धि की कि अद्वैत वेदान्त के महानिनाद द्वारा भारत के सोये मनुष्यत्व को जगाये बिना तथा समष्टिमुक्ति को प्राप्त किये बिना अपनी मुक्ति तुच्छ है। प्रत्येक महान् व्यक्ति जीवन में जो कुछ होता है, यहाँ भी वही हुआ—उद्दाम अशान्त जीवन के स्रोतावर्त में नयी तरंग उत्पन्न हुई। विवेकानन्द का मानसिक विकास एक स्तर छोड़कर दूसरे में आ पहुँचा। संसारविमुख योगी लाखों करोड़ों नरनारियों के कल्याण के लिए योद्धा के वेश में सत्य की तलवार हाथ में लिए हुए रणांगण की ओर दौड़ पड़े। भारतवर्ष की ओर मुँह फेरकर विवेकानन्द की नवीन यात्रा का प्रारम्भ हुआ।

कन्याकुमारी छोड़ रामनद के बीच में से होकर वे फ्रांसीसियों द्वारा अधिकृत पाण्डिचेरी में आ पहुँचे। यहाँ थोड़े ही समय में कुछ शिक्षित युवक उनके अनुरागी बन गये और भ्रमण से क्लान्त स्वामीजी को कुछ दिन आराम करने का अवसर मिला। यहाँ पर एक दक्षिणी कट्टर ब्राह्मण विद्वान के साथ हिन्दू धर्म व उसके संस्कार के विषय में स्वामीजी का वादविवाद हुआ। स्वामीजी के उन्नतिशील प्रस्तावों पर युक्ति के बदले गालियों की बौछार करते करते पण्डितजी आग-बबूला हो उठे। जब स्वामीजी ने कहा कि समुद्रयात्रा के विरुद्ध शास्त्र का कोई सुसंगत निषेध नहीं है, तब तो मानो आग में घृताहुति पड़ गयी! स्वामीजी ने शान्त भाव से समझाने की जितनी ही चेष्टा की, पण्डितजी उतनी ही अंगभंगी करते हुए तथा अपनी मोटी चोटी को हिलाते हुए कहने लगे, "कदापि न, कदापि न।" विचारसभा का यह परिणाम देख स्वामीजी उपस्थित शिक्षित युवकों को सम्बोधित कर बोले,

"धर्म के नाम से प्रचलित आचारव्यवहार वास्तव में धर्म हैं या नही इसकी परीक्षा कर देखने का दायित्व आज से शिक्षित युवकों के कन्धो पर पड़ा है। हमें अतीत व प्रचलित प्रथा की सीमा से बाहर निकलकर वर्तमान उन्नतिशील जगत् की ओर दृष्टिपात करना होगा। यदि हम देखें कि परम्पराप्राप्त आचारनियम समाज के विकास व परिपुष्टि के पथ में विघ्न उत्पन्न कर रहे है, यदि वे हमारी विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति में रोड़े के सदृश है तो हम जितना शीघ्र उनका त्याग कर दे उतना ही अच्छा है।"

युगधर्मप्रचारक के स्पष्ट सतेज कण्ठस्वर में मानो आदेश ध्वनित होने लगा—मानो वह दिन निकट आने लगा जब भारत के ये अज्ञात लोग सिर ऊँचा करेगे और चिरकाल उपेक्षित शूद्र अपने अधिकार व मनुष्यत्व की माँग उपस्थित करेंगे। आज प्रत्येक शिक्षित युवक का कर्तव्य है, अधःपतित जनसमूह मे शिक्षा का प्रचार करना, समाजजीवन में समानाधिकार के आदर्श का प्रचार करना, पुरोहितों के अत्याचारों को जड़ से नष्ट कर डालना तथा गुणगत वर्णविभाग की विकृतिरूपी जो बनावटी जातिभेद जाति के अधःपतन का कारण है, उसे धर्म के उच्च तत्त्वों के प्रचार से दूर कर देना।

* * * *

मद्रास सरकार के डिप्टी अकाउन्टन्ट जनरल श्री मन्मथनाथ भट्टाचार्य इस समय सरकारी काम से पाण्डिचेरी आये हुए थे। एक दिन दण्ड-कमण्डल हाथ मे लिये स्वामीजी को राजपथ पर देख वे पहचान गये कि इसी कृतविद्य सन्यासी ने त्रिवेन्द्रम में अध्यापक सुन्दरराम अय्यर के घर पर कुछ दिन उनके साथ एकत्र निवास किया था। इस बंगाली सन्यासी का वह प्रथम

परिचय बड़े ही साधारण रूप से हुआ था। मन्मथ बाबू त्रिवेन्द्रम में आये हैं यह जानकर स्वामीजी ने एक दिन उनसे मिलकर कहा, "महाशय, दक्षिणी खाना खाते खाते ऊब गया हूँ, बंगाल के व्यंजनादि पाने की आशा से मैं आपका अतिथि हो रहा हूँ।" वह परिचय थोड़े ही दिनों में घनिष्ठ हो गया। अप्रत्याशित रूप में उस अद्भुत संन्यासी को पाकर मन्मथ बाबू के आनन्द की सीमा न रही। थोड़े दिनों के बाद ही कार्य समाप्त कर उन्होंने स्वामीजी को लेकर मद्रास की ओर यात्रा की।

मद्रास पहुँचने के थोड़े ही दिनों बाद स्वामीजी की प्रतिभा व विद्वत्ता की ख्याति शिक्षित समाज की चर्चा का विषय बन गयी। विश्वविद्यालय के लब्धप्रतिष्ठित छात्र व अध्यापकगण प्रति दिन उनके पास धर्म व साहित्य की चर्चा के लिए आने लगे। अनेक युवक पाचात्य दार्शनिको की युक्तियों का भी उल्लेख कर उनके साथ तर्क किया करते थे; परन्तु थोड़ी ही देर बातचीत होने के बाद वे समझ जाते थे, इस सन्यासी द्वारा समर्थित वेदान्त-मत की तुलना में उनकी उक्तियाँ बालक की अस्फुट उक्तियों के ही सदृश नगण्य थीं। छात्रजीवन मे विवेकानन्द भी साधारण तार्किक न थे, इसकी चर्चा हमने पूर्व अध्याय में की है। पाश्चात्य दर्शनशास्त्रों का अध्ययन कर किसी तरुण युवक के मन मे धर्म व ईश्वर के सम्बन्ध में जो सन्देह उत्पन्न होते हैं, उन सभी से वे स्वयं भी प्रत्यक्ष रूप से परिचित थे। इसलिए उत्तर देने में उन्हें कोई विशेष कठिनाई नही होती थी। अस्तु, होते होते मन्मथ बाबू का निवासस्थान शीघ्र ही धर्मचर्चा का एक केन्द्र बन गया। इसमें सन्देह नही कि स्वामीजी के साम्प्रदायिक विद्वेषबुद्धिरहित उदार धर्ममत ने मद्रास की शिक्षित जनता को

प्रभावित कर दिया था। विद्वत्ता व प्रतिभा की आड़ में उनकी समवेदना से कातर विशाल हृदय, जो निर्विचार सभी को आलिंगन करने के लिए--शरण देने के लिए तैयार रहता था--उस हृदय के साथ भलीभाँति प्रत्यक्ष रूप से परिचित होकर ही युवकों ने स्वामीजी को अपने गुरुपद पर वरण किया था।

यह जानकर कि विश्वविद्यालय के सर्वोच्च उपाधिधारी युवकगण स्वामीजी का शिष्यत्व स्वीकार कर रहे है, मद्रास नगर के सुप्रसिद्ध नास्तिक, ईसाई कालेज के विज्ञान के अध्यापक श्री सिंगरावेलु मुदलियार अपनी हँसी रोक न सके और एक दिन दलवल के साथ तैयार होकर उन्होने स्वामीजी को तर्क युद्ध में आह्वान किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि स्वामीजी किसी भी तरह उनकी युक्तियों का खण्डन न कर सकेंगे; परन्तु थोड़े ही समय में वे नीरव होने के लिए वाध्य हुए।

स्वामीजी के स्वच्छ विशाल ललाट पर महिमा की वह विखरी हुई छटा---शान्त उज्ज्वल नेत्रद्वय मे करुणा का वह चिरविगलित अमृत निर्झर---विस्मयस्तम्भित मुदलियार महोदय ने उनमें क्या देखा, क्या समझा, यह तो वे ही जानें, पर हाँ, वाहर के लोगों ने देखी उनके गालों पर वहती हुई आँसुओं की धारा! नास्तिकता लुप्त हो गयी, अनुतप्त हृदय से उन्होंने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। स्वामीजी उन्हें प्रेमवश 'किड़ी' कहकर पुकारते थे और उनके प्रति यथेष्ट स्नेह रखते थे। आजीवन संयमी, दृढ़चेता मुदलियार की गुरुभक्ति अतुलनीय है। स्वामीजी के अमेरिका में रहते ही इन्होंने अपने गुरुदेव के आदेश से नवस्थापित 'प्रबुद्ध भारत' नामक अंग्रेजी मासिक पत्रिका के सम्पादक का भार ग्रहण किया था और स्वल्प काल में ही संसार-

धर्म को तिलांजलि देकर 'नरनारायण' की सेवा मे आत्मसमर्पण कर दिया था।

इस समय संयुक्त राष्ट्र मे शिकागो महासम्मेलन के साथ ही एक विराट धर्मसभा का आयोजन हो रहा था। ऐसा घोषित किया गया था कि पृथ्वी के सभी धर्मसम्प्रदायों के प्रतिनिधिगण व्याख्याताओं के रूप में सभा मे सम्मिलित हो सकेंगे। स्वामीजी के कुछ उत्साही मद्रासी शिष्यों ने उन्हें हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अमेरिका भेजने का संकल्प किया। एक दिन सचमुच पाँच सौ रुपये एकत्रित कर उन्होंने स्वामीजी के हाथ में समर्पित किये। स्वामीजी इस असमंजस मे पड़ गये कि हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप मे विराट सभा में उपस्थित होने की योग्यता उनमें है या नही। अन्त में उन शिष्यो को उन्होने वह धन लौटा दिया और कहा, "वत्सगण, मै श्रीजगन्माता के हाथ में यन्त्र मात्र हूँ। उनकी इच्छा होने पर वे स्वयं ही मुझे वहाँ भेज देंगी। इस धन को तुम दरिद्रनारायण की सेवा में लगा दो; देखूं माँ की क्या इच्छा है।" बड़े कष्ट से सग्रह किये हुए उस धन को दूसरे काम में लगा देने का आदेश पाकर उन शिष्यों का दिल बैठ गया, परन्तु गुरु की आज्ञा तो अलंघनीय ही थी। हतोत्साहित शिष्यों को सान्त्वना देते हुए स्वामीजी ने कहा, "देखो, मै संन्यासी हूँ, संकल्प करके कोई कार्य करना मेरे लिए उचित नही। यदि भगवान् की ऐसी ही इच्छा होगी तो वे उपाय भी बता देंगे। तुम लोगों को इसमे व्यस्त होने की आवश्यकता नहीं है।"

इतने में ही मन्मथ बाबू के पास हैदराबाद से उनके मित्र स्टेट इंजिनियर बाबू मधुसूदन चटर्जी का स्वामीजी को वहाँ पर भेजने

के लिए एक पत्र आया। यह जानकर कि वहाँ के मान्य व्यक्ति-गण व शिक्षित समाज स्वामीजी को अपने बीच में थोड़े दिनों के लिए पाने को उत्सुक है, मन्मथ बाबू व स्वामीजी की शिष्य-मण्डली ने उनकी सम्मति लेकर मधुसूदन बाबू को सूचित कर दिया कि स्वामीजी दस फरवरी को हैदराबाद पधारेंगे।

हैदराबाद स्टेशन पर उतरकर स्वामीजी को यह देखकर कुछ विस्मय हुआ कि उनकी अभ्यर्थना के लिए एक विराट जनसमूह उत्सुक होकर उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। राजा श्रीनिवास राव, महाराज रम्भा राव बहादुर, पं. रतनलाल, शमस्-उल्-उल्मा सैयद अली बिलग्रामी, नवाब इमाद जंग बहादुर, नवाब सिकन्दर निवाज जंग बहादुर, राय हुकुमचन्द, एम. ए., एल. एल. डी., सेठ चतुर्भुज, सेठ मोतीलाल, कैप्टन रघुनाथ आदि हैदराबाद व सिकन्दराबाद के प्रमुख व्यक्तिगण प्लेटफार्म पर उपस्थित हैं। संकोच व लज्जा से एक कोने मे खड़े दण्ड व कमण्डलु हाथ में लिये हुए इन तरुण संन्यासी की देवदुर्लभ अंगकान्ति को देख समस्त जनता जयध्वनि कर उठी। बाबू कालीचरण चटर्जी ने सभी से उनका परिचय कराया। प्रतिष्ठित व्यक्ति आनन्द के साथ उन्हे पुष्पमालाओं से सजाकर मधुसूदन बाबू के बंगले पर ले गये।

निजाम बहादुर के शालक नवाब सर खुर्शीद जंग बहादुर, अमीर-इ-कबी, के. सी.. एस. आई. महोदय के निमन्त्रण पर स्वामीजी बारह फरवरी को नवाब बहादुर के महल में पधारे। नवाब बहादुर हिन्दू धर्म के प्रति यथेष्ट श्रद्धा रखते थे और हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक सभी प्रसिद्ध तीर्थस्थानों का दर्शन कर चुके थे।

स्वामीजी की आदरपूर्वक अभ्यर्थना कर उन्होंने उन्हें अपने पास बैठाया और बड़ी तन्मयता से वे उनसे धर्म के विषय में वार्तालाप करने लगे। हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म व ईसाई धर्म के सम्बन्ध में चर्चा करते समय स्वामीजी ने इन तीनों धर्मों के मूल सूत्रों का उल्लेख कर उनकी समन्वयभूमि को स्पष्ट कर दिखाया तथा बातचीत के सिलसिले में कहा कि वे सभ्य जगत् के सम्मुख वेदान्त शास्त्र की सहायता से धर्मसमन्वय का प्रचार करने के लिए कृतसंकल्प हुए हैं। उनका विश्वास है कि दूर भविष्य में सभी प्रकार के धार्मिक झगड़े मिट जायेंगे और सभी को निर्विवाद होकर अपनी अपनी भावना के अनुसार ईश्वर की उपासना करने का अवसर प्राप्त होगा। स्वामीजी के युक्तिपूर्ण वाक्यों को सुन-कर नवाब बहादुर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वामीजी के पाश्चात्य देश में जाने के लिए व्ययरूप में एक हजार रुपये उसी समय देने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने बड़ी नम्रता से उसे अस्वीकार करते हुए कहा, "नवाब बहादुर, इससे पूर्व मेरे परम मित्र मैसूर के महाराजा बहादुर तथा शिष्य रामनद के राजा मुझे पाश्चात्य देश में जाने के लिए आर्थिक सहायता करने को तैयार हुए थे। परन्तु मै समझता हूँ अभी समय नही आया है। यदि कभी पाश्चात्य देश मे जाने के लिए मुझे भगवान् का आदेश होगा तो आपको अवश्य सूचित करूँगा।"

स्थानीय शिक्षित व्यक्तियों के आग्रह से स्वामीजी ने महबूब कालेज मे लगभग एक हजार श्रोताओं के सामने 'पाश्चात्य देश के लिए मेरा सन्देश' विषय पर एक व्याख्यान दिया। पण्डित रतनलालजी ने सभापति का आसन ग्रहण किया था। कहना न होगा कि स्वामीजी का भाषण बड़ा ही रोचक व युक्तिपूर्ण हुआ।

१७ फरवरी को स्वामीजी हैदराबाद की शिष्यमण्डली व भक्तगणों से विदा लेकर फिर मद्रास लौट गये। यद्यपि वे पूर्ण रूप से शिकागो-धर्मसभा में जाने का विचार छोड़ चुके थे, परन्तु उनके शिष्य व भक्तगणों ने अपने उस संकल्प को नहीं छोड़ा था। उनमें से कुछ व्यक्ति सम्मिलित होकर अर्थसंग्रह के उद्देश्य से रामनद, मैसूर व हैदराबाद गये। स्वामीजी [illegible] [illegible], माननीय जस्टिस सुब्रह्मण्य अय्यर आदि अनेक प्रमुख व्यक्तियों को इन्हें उक्त धर्मसभा में भेजने के लिए सचेष्ट देख स्वामीजी विचलित हुए। एक दिन अपने अन्तरंग शिष्य श्री आलासिंगा पेरुमल, एम. ए. महोदय को बुलाकर उन्होंने कहा, "यदि माँ की निश्चित ऐसी इच्छा है कि मैं अमेरिका जाऊँ तो मुझे अवश्य ही जाना होगा। तुम लोगों ने मुझे हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भेजने का निश्चय किया है। मैं भी जनसाधारण के प्रतिनिधि के रूप में ही जाने की इच्छा करता हूँ। परन्तु इस कार्य में जनसाधारण की सम्मति है या नहीं यह जानना विशेष आवश्यक है। अतः केवल राजा-महाराजाओं से सहायता न लेकर तुम लोग जनसाधारण से भिक्षा लेकर धन संग्रह करो।" अपने गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य कर वे द्वार द्वार पर भिक्षा माँगने लगे। इन निःस्वार्थ पवित्रहृदय मद्रासी युवकों की असीम गुरु-भक्ति धर्मजगत् के—विशेष कर श्रीरामकृष्ण संघ के इतिहास में अमर बनी रहेगी।

इस बीच में एक दिन स्वामीजी ने स्वप्न में देखा—श्रीराम-कृष्णदेव दिव्य देह धारण कर समुद्रतट से विस्तीर्ण महासागर के ऊपर पैदल चले जा रहे हैं और उन्हें पीछे पीछे आने के लिए हाथ से इशारा कर रहे हैं। अब सारी दुविधा, संकोच व सन्देह

दूर हो गये और स्वामीजी अमेरिका जाने के लिए तैयार हो गये। परन्तु एकाएक उन्हें स्मरण हुआ कि उन्होंने अभी तक श्री माताजी (श्री सारदादेवी) का आदेश नहीं लिया है। उनका आदेश व आशीर्वाद प्राप्त किये बिना सुदूर विदेश में जाना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। अनेक सोच विचार कर अन्त में स्वामीजी ने श्री माताजी के पास अपने संकल्प का विस्तार के साथ वर्णन कर एक पत्र लिखा।

प्रिय पुत्र नरेन्द्रनाथ का पत्र पाकर स्नेहकातरा जननी उन्हें देखने के लिए व्याकुल हो उठीं। श्रीरामकृष्ण संघ के नेता राजाधिराजसेवित वीर संन्यासी विवेकानन्द उनकी दृष्टि में संसार से अनभिज्ञ एक बालक मात्र है—उन्हें वे किस पत्थर के हृदय से सुदूर विदेश जाने की अनुमति देंगी! इस बीच श्रीरामकृष्णदेव के आदेश ने सभी समस्याओं को हल कर दिया। अन्त में निरुपाय होकर स्नेहमुग्ध हृदय को रोक जगत् के कल्याण को सामने रखकर उन्होंने स्वामीजी को सानन्द अपनी अनुमति दे दी।

यथासमय उन्हें माताजी का पत्र मिल गया। पत्र को परम भक्ति के साथ मस्तक पर धारण कर स्वामीजी भाव के आवेग से आँसूभरे नेत्रों से बालक की तरह आनन्दविह्वल हो कमरे में नाचने लगे। इस स्थिति में देखकर लोग क्या समझेंगे यह सोचकर वे अपने उछलते हुए हृदय को शान्त करने के लिए दूसरों की आँखें बचाकर समुद्रतट पर चले गये। मन्मथ बाबू के भवन में नियमित समय पर उनके शिष्य व भक्तगण उनके लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। थोड़ी देर में स्वामीजी वहाँ पहुँचे और उन्होंने उनसे कहा, "वत्सगण, श्रीमाँ की आज्ञा मुझे मिल गयी है। अब

सारे सन्देह व चिन्ताएँ दूर हो गयी। मैं अमेरिका जाने के लिए तैयार हूँ। दयामयी माँ ने आशीर्वाद दे दिया है—अब चिन्ता किस बात की?" आनन्द, विस्मय व उत्साह के साथ शिष्यों ने थोड़े ही दिनों मे स्वामीजी की यात्रा की भलीभाँति व्यवस्था कर दी। सब कुछ तैयार हो गया, पर इसी समय खेतरी राजभवन से मुन्शी जगमोहनलाल आ पहुँचे।

पाठकों को स्मरण होगा, प्रायः दो वर्ष पूर्व स्वामीजी ने खेतरी के महाराज मंगलसिंह बहादुर को पुत्र पाने का आशीर्वाद दिया था। गुरुदेव की कृपा से महाराजा को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। मुन्शीजी ने मद्रास आकर राजपुत्र के अन्नप्राशन संस्कार में स्वामीजी से उपस्थित रहने के लिए प्रार्थना की—अनुनय विनय की। स्वामीजी तथा उनके मद्रासी शिष्यों ने उस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए अनेक प्रकार से असमर्थता प्रकट की, पर एक न मानी गयी। मुन्शी जगमोहनलाल बोले, "गुरुदेव, कम से कम एक दिन के लिए आपको खेतरी अवश्य चलना होगा। नहीं तो राजाजी के हृदय पर बड़ा आघात पहुँचेगा। अमेरिका जाने की व्यवस्था के लिए आपको सोचने की आवश्यकता नहीं है। महाराजा सब व्यवस्था कर देंगे, आप मेरे साथ खेतरी चले चलिये।"

अन्त में अनेक वादविवाद के बाद यह निश्चित हुआ कि स्वामीजी खेतरी होकर बम्बई से अमेरिका की यात्रा करेंगे। खेतरी-यात्रा की तैयारी पूरी होने पर स्वामीजी ने उपस्थित शिष्यों से विदा ली। विश्वविद्यालय के उच्च उपाधिधारी युवक शिष्यगणों ने एक एक करके राजपथ पर अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्री गुरुदेव के अभय चरणों पर गिरकर दीन भाव से आशीर्वाद

की भिक्षा माँगी। यह दृश्य भारत का—हिन्दुओं का अपना निजी है। बड़ा ही करुण! बड़ा ही मर्मस्पर्शी!! सन्तानों से अधिक प्यारे शिष्यों को छोड़कर जाने में स्वामीजी का हृदय बड़ा व्यथित हुआ। अनेक कष्ट से भाव के आवेग को रोककर वे धीरे धीरे गाड़ी पर जा बैठे।

खेतरी में शुभ अन्नप्राशन का उत्सव निर्विघ्न समाप्त हो जाने पर स्वामीजी अपने शिष्य राजाजी से विदा लेकर मुन्शी जगमोहनलाल के साथ बम्बई आ गये। श्री आलासिंगा पेरुमल इससे पहले ही गुरुदर्शन की इच्छा से मद्रास से बम्बई आ गये थे और उन्होंने स्टेशन पर ही स्वामीजी के चरणों के दर्शन किये।

स्वामीजी की विदाई के लिए जगमोहनलाल बहुमूल्य पोशाक खरीदने लगे। पर इसका स्वामीजी ने निषेध किया। जगमोहनलाल ने यह सोचकर कि वे राजगुरु हैं, उन्हें सुसज्जित करने के लिए वैसा ही प्रबन्ध करना उचित समझा। स्वामीजी के अमेरिका में भाषण देने के लिए बहुमूल्य रेशम का चोगा व पगड़ी बनायी गयी। स्वामीजी ने भी मुन्शीजी का विशेष आग्रह देख निरुपाय होकर शिष्य की सदिच्छा का और निषेध नहीं किया। दण्ड-कमण्डल व भिक्षापात्र हाथ में लेकर भ्रमण करने में अभ्यस्त स्वामीजी को यह चिन्ता हुई कि इतने वस्त्र, आभूषण व नाना प्रकार की चीजों की वे देखभाल कैसे करेंगे और यह सोचते हुए बालक की तरह विकल हो गये।

धीरे धीरे यात्रा का दिन निकट आया और वह शुभ घड़ी भी आ गयी। मुन्शी जगमोहनलाल ने पहले से ही स्वय देखकर स्वामीजी के लिए जहाज में एक प्रथम श्रेणी का केबिन रिजर्व करा रखा था। स्वामी डबडबायी आँखों से दोनों शिष्यों से

विदा लेकर जहाज पर चढ़े। सहसा तीव्र सीटी (व्हिसिल) ने उनके हृदय को व्याकुल कर स्वदेश के साथ आनेवाले विच्छेद का वेदनाभरा सन्देश दिया। लोहे का बना विशालकाय कछुआ धीर मन्थर गति से गन्तव्य स्थान की ओर चल पड़ा। देखते ही देखते स्वदेश का हरा भरा चित्र अस्पष्ट हो आया---और अन्त में अन्तिम धूसर रेखा तक सुदूर क्षितिज के पीछे विलीन हो गयी। उनके निर्निमेष नेत्रों के सामने फेन-शुभ्र-शिर तरंगमाला भैरव कल्लोल से उच्छ्वसित होकर नृत्य करने लगी। डेक के ऊपर प्रस्तर मूर्ति की तरह खड़े स्वदेशप्रेमी संन्यासी के हृदय के अन्तस्तल से एक असीम क्रन्दन झंकृत हो उठा।

"हे रहस्यमय आत्माराम गुरो, तुमने तो छुट्टी नही दी। आज सचमुच त्यागपूत पवित्र भारतवर्ष से मुझे भोगविलास की लीलाभूमि पाश्चात्य देश में ले चले! जैसी तुम्हारी इच्छा!"

* * * *

हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में विदेशियों के भ्रमपूर्ण विश्वासों को दूर कर उसके उदार भावों का आधुनिक वातावरण के अनुकूल वैज्ञानिक युक्तियों द्वारा प्रचार करने के लिए—पाश्चात्य के भोग को ही सब कुछ माननेवाले जड़वाद के उन्मत्त कोलाहल का मन्थन कर त्याग की पवित्र वाणी सुनाने के लिए---पाश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध मे पड़े हुए, सनातन धर्म में अविश्वासी, परमुखापेक्षी, विपथपरिचालित, स्वदेशीय मूढ़ों को 'क्या अवलम्ब-नीय है' यह भलीभाँति समझाने के लिए---आत्मसन्मानविहीन निर्लज्ज हिन्दुओं को विदेशियों के पैरों तले बैठ धर्म की शिक्षा लेने से रोककर अपने ही घर में धर्म की खोज कराने के लिए— भारत के श्रेष्ठतम आध्यात्मिक सत्यरत्नों की जगत् की सभ्यता

को परख करा देने के लिए---एक आसन्नप्राय विनाश के पंजे से बचने के लिए पाश्चात्य जगत् को भारत के चरणों पर बैठकर धर्म की शिक्षा लेने को उच्च स्वर से बुलाने के लिए---सब से बढ़कर अपने आचार्य श्रीरामकृष्णदेव की इस मौलिक उपदेश-वाणी कि 'सभी धर्म सत्य है और वे ईश्वर की उपलब्धि के विभिन्न उपाय मात्र है' का प्रचार, संकीर्णता, धर्मान्धता, कट्टर-पन व घृणा के विरुद्ध सिंहविक्रम के साथ करने के लिए ३१ मई १८९३ ई० को अपने स्वातन्त्र्य के गौरव से सिर ऊँचा किये स्वामी विवेकानन्द ने श्री गुरुदेव की मंगलमयी इच्छा से परि-चालित होकर शिकागो की ओर प्रस्थान किया।

पंचम अध्याय

आचार्य विवेकानन्द

(१८९३–१८९६ ई०)

"I go forth to preach a religion, of which Buddhism is nothing but a rebel child and Christianity but a distant echo."

—Swami Vivekananda.

बम्बई से जहाज छूटा। विषण्णचित्त संन्यासी असमंजस में पड़ गये। दण्ड-कमण्डल तथा गेरुए वस्त्र में लिपटी दो चार पुस्तकों के अतिरिक्त जिनका कभी कोई सामान नही रहा उन्हीं स्वामीजी को ट्रंक, सूट केस तथा तरह तरह के कपड़े आदि सम्हालने में बड़ा असमंजस सा प्रतीत हुआ। वे कहने लगे "अव यह जो सब साथ लेना पड़ा है, इसी की देखभाल में मेरी सारी शक्ति लग रही है। यह तो एक वला है।" फिर भी उन्होंने स्मरण किया कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "जितने दिन जिन्दा रहूँ, उतने दिन सीखूँ।" अस्तु—कुछ ही समय म स्वामीजी ने दूसरे यात्रियों के साथ, विशेष रूप से जहाज के कप्तान के साथ परिचय कर लिया। नये नये प्रकार के भोजन तथा यूरोपीय आचारव्यवहार से वे धीरे धीरे अभ्यस्त होने लगे। सात दिन वाद वे कोलम्बो पहुँचे; सीलोन की राजधानी —वौद्ध धर्म का देश। जहाज बन्दरगाह में रुका। स्वामीजी भी उतरे और एक गाड़ी करके उन्होंने सारे शहर को देख लिया। भगवान वुद्ध के मन्दिर में जाकर उन्होंने बुद्धदेव की

शयन-अवस्था की एक बृहत् महानिर्वाण अवस्था की मूर्ति देखी। उन्होंने मन्दिर के पुरोहितों के साथ भी वार्तालाप करने की चेष्टा की, परन्तु जब उन्होंने देखा कि वे सिंहली के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में बोल ही नहीं सकते तो उन्होंने वह विचार छोड़ दिया। कोलम्बो से जहाज फिर चला। रास्ते में मलाया प्रायद्वीप के पिनाङ्ग व सिंगापुर पड़े तथा दूरी पर उन्हें ऊँचे पहाड़वाला सुमात्रा दिखा। सिंगापुर से वे हाँगकाँग पहुँचे। हाँगकाँग में जहाज तीन दिन ठहरा। इस बीज में स्वामीजी सिक्याँग नदी के मुहाने से ८० मील दूर पर स्थित दक्षिण चीन की राजधानी कँटन शहर देख आये, कँटन में उन्होंने अनेक बौद्ध मठ देखे तथा वहाँ के सब से बड़े मन्दिर का दर्शन किया। प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी दो महान् राष्ट्र भारतवर्ष व चीन की स्थिति की उन्होंने आपस में तुलना की और कहा, "सभ्यता की सीढ़ी पर जो चीनी व भारतवासी एक पैर भी अग्रसर नहीं हो रहे हैं, उसका एक कारण उनकी गरीबी ही है। साधारण हिन्दू या चीनी के दैनिक जीवन में छोटी छोटी चीजों का अभाव उसका नित्य प्रति इतना समय नष्ट कर डालता है कि उसे और कुछ सोचने का अवसर तक प्राप्त नहीं होता।"

इस निर्धनतापीड़ित प्राच्य के बीच में अपूर्व सौन्दर्यमय जापान को देखकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। चीन की अपेक्षा यहाँ कितना अन्तर! साफ सुथरी नगरी, अच्छे अच्छे घर, चित्रों की तरह सुन्दर सुन्दर बगीचे व कृत्रिम जलाशय! खूब चौड़े व सीधे रास्ते! नागासाकी, कोबी बन्दरगाह, याकोहामा, ओसाका, किआटो व टोकियो आदि शहरों को देखकर स्वामीजी ने समझ लिया कि वर्तमान काल की आवश्यकताओं को जापानियों ने

समझ लिया है—वे पूर्ण रूप से जाग गये हैं। जापानियों की द्रुत उन्नति, साहस व उद्यम देखकर विस्मित हो तथा स्वदेश की दुर्दशा के स्मरण से व्यथित होकर स्वामीजी ने याकोहामा से अपने मद्रासी शिष्यों को एक पत्र में लिखा था, "जापानियों के सम्बन्ध में मेरे मन में कितनी ही बातें आ रही हैं। एक संक्षिप्त पत्र में उसे प्रकट नहीं कर सकता, परन्तु इतना कह सकता हूँ कि हमारे देश के युवकों को प्रतिवर्ष दल के दल में चीन व जापान जाना चाहिए। विशेषकर जापान तो अवश्य जाना चाहिए। जापानियों की दृष्टि में भारतवर्ष सभी प्रकार की उच्च व महान् चीजों के स्वप्न राज्य की तरह है।

"*** और तुम लोग क्या कर रहे हो? जीवन भर केवल वृथा बकते रहते हो, आओ इन्हें देख जाओ, उसके बाद जाओ और जाकर शर्म से मुँह छिपा लो। भारत की मानो जराजीर्ण स्थिति से बुद्धि का भी नाश हो गया है! देश छोड़कर बाहर जाने में तुम लोगों की जाति बिगड़ जाती है!! हजारों वर्ष के पुराने इस कुसंस्कार का बोझ सिर पर धरे हुए तुम लोग बैठे हो। हजारों वर्ष से खाद्य अखाद्य की शुद्धाशुद्धि पर विचार करते हुए तुम लोग अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हो। पौरोहित्य-रूपी मूर्खता के गम्भीर आवर्त में चक्कर काट रहे हो। सैकड़ों युग के लगातार सामाजिक अत्याचार से तुम्हारा सारा मनुष्यत्व सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है। तुम्हारा है क्या बोलो तो? और तुम अब भी कर क्या रहे हो? मूर्ख, तुम हाथ में पुस्तक लिये समुद्र के किनारे पर केवल चहलकदमी कर रहे हो। यूरोपीय मस्तिष्क से निकले हुए किसी तत्त्व के एक कण मात्र का—वह भी असली चीज नहीं—बेपचा कुछ अंश लगातार

रटते जा रहे हो, और तुम्हारा प्राण तथा मन भी उसी तीस रुपये की क्लर्की पर निछावर है! —और नहीं तो, बड़ी हद तक एक दुष्ट वकील बनने का मतलब साध रहे हो। यही भारतीय युवकों की सर्वोच्च दुराकांक्षा है। फिर प्रत्येक युवक का एक बच्चों का दल—उसके वंशधर 'पिताजी, खाने को दो, खाने को दो' कह कह कर जोर से चिल्ला रहे हैं! अरे, मैं कहता हूँ, क्या समुद्र में जल का अभाव हो गया है? तुम सब लोग उसमें अपनी पुस्तकें, गाऊन, विश्वविद्यालय, डिप्लोमा आदि सब कुछ डुबा क्यों नहीं देते?

"आओ, मनुष्य बनो। पहले तो इन दुष्ट पुरोहितों को दूर कर दो, क्योंकि ये मस्तिष्कविहीन लोग कभी अच्छी बातें न मानेंगे—उनके हृदय भी शून्य है जिसका विकास भी कभी न होगा। सैकड़ों सदियों के कुसंस्कार व अत्याचारों के बीच इनका जन्म हुआ है। पहले इनका उच्छेद करो। आओ, मनुष्य बनो, अपने संकीर्ण अन्धकूप से निकलकर बाहर जाकर देखो, सभी राष्ट्र कैसे उन्नति के पथ पर चल रहे है। क्या तुम मनुष्य से प्रेम करते हो? तुम लोग क्या देश से प्रेम करते हो? तो फिर आओ, हम भले बनने के लिए प्राणपण से चेष्टा करें। पीछे की ओर न देखो—प्यारे स्वजनों को रोने दो, हाय कर पीछे न देखो—आगे बढ़े जाओ। भारतमाता कम से कम इस प्रकार के हजार युवकों का बलिदान चाहती है। याद रखना—मनुष्य चाहिए, पशु नही।"

याकोहामा से प्रशान्त महासागर पार होकर जहाज वैंकुवर बन्दरगाह में आ पहुँचा। यहाँ से रेल द्वारा कैनेडा के बीच में से तीन दिन चलने के बाद शिकागो पहुँचे। जो उनकी ख्याति को

दिग-दिगन्तरों में फैलायेगी उसी नगरी में वे अपरिचित तथा विस्मयविह्वल बालक की तरह घूमने लगे। सड़क पर चलने-वाले लोग इन्हें गेरुआ वस्त्र पहने देख बड़ी उत्सुकता से घूरने लगे और कई तो इन्हें सताने भी लगे। बालकों का दल भी इनकी हँसी उड़ाता हुआ इनके पीछे चलने लगा। स्वामीजी को यह एक विचित्र अनुभव हुआ। इस पर भी धोखेबाजी, गिरह-कटी वैंकुवर से ही चल रही थी। जो जैसा चाहता था इन्हें ठगने का यत्न करता था। रुपये पैसे के मामले में स्वामीजी सम्पूर्ण अनभिज्ञ थे। कुलियों ने भी उनसे मुँहमाँगे दाम कहे। अन्त में वे एक होटल में चले गये और उस दिन के लिए निश्चिन्त हो गये।

दूसरे दिन वे विख्यात विश्व-प्रदर्शनी देखने चले। जड़विज्ञान के नये नये आविष्कार, छोटे बड़े तरह तरह के यन्त्र, कितनी विचित्र विचित्र सामग्रियाँ, शिल्प कला के कैसे सुन्दर सुन्दर नमूने आदि वस्तुओं द्वारा स्वामीजी ने पाश्चात्य ऐश्वर्य का गौरव देखा और सोचा कि मनुष्य के आत्मविश्वास, महत्त्वाकांक्षा, दुर्लभ की खोज में जीवन-मरण का प्रण—आदि बातों ने यह सब सम्भव किया है। पाश्चात्य वेगयुक्त सभ्यतास्रोत के द्रुत उन्नतिशील जीवन के साथ भारत की धीर, मन्थर, क्षीण व शुष्क जीवन-धारा की तुलना करते हुए निःसंग अकेले सन्यासी शाम को क्लान्त हो अपने होटल में लौट आये। परन्तु अग्नि कभी वस्त्र द्वारा ढकी नहीं रह सकती। पोशाक कितनी ही विचित्र क्यों न हो, वह ज्योतिर्मय निर्मल ललाट, विशाल नेत्रों की मर्म-भेदी दृष्टि सहज ही में मनुष्य को आकर्षित कर लेती है। किसी किसी ने स्वामीजी को पहचान लिया। संवाद-पत्र के उत्सुक

रिपोर्टरगण भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। परन्तु वे तो केवल कुतूहलप्रिय लोग मात्र थे। स्वामीजी ने स्वयं लिखा है, "वरदाराव ने जिस महिला के साथ मेरा परिचय करा दिया था वे तथा उनके पति शिकागो समाज के सम्माननीय व्यक्ति हैं। उन्होंने मेरे साथ बहुत ही अच्छा व्यवहार किया था। परन्तु यहाँ के लोग विदेशियों का अधिक आदर करते हैं, केवल दूसरों को तमाशा दिखाने के लिए। आर्थिक सहायता करते समय सभी हाथ खीच लेते हैं।" अत्यधिक खर्च होते देख स्वामीजी चिन्तित हुए। यहाँ पर लोग पानी की तरह पैसा खर्च करते हैं।

इसी समय एक नवीन दुर्भावना से स्वामीजी को थोड़ी चिन्ता हो गयी। एक दिन उन्हें खबर मिली कि धर्म-महासभा सितम्बर मास के पहले प्रारम्भ न होगी तथा जो लोग इस सभा की नियमावली के अनुसार परिचयपत्र नही लाये हैं वे सभा में प्रतिनिधि के रूप मे स्थान न पा सकेंगे। और उस समय प्रतिनिधि के रूप में धर्मसभा में आवेदनपत्र भेजने का समय व्यतीत हो चुका था—अतः स्वामीजी ने अपने लिए हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में ले लिये जाने की कोई सम्भावना नहीं देखी।

इधर जो कुछ थोड़ा धन भी उनके पास शेष था वह भी होटलवालों आदि की अत्यधिक माँग की पूर्ति में दो सप्ताह के बीच मे ही समाप्त हो गया। यद्यपि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भगवान का मंगलमय हाथ सदा ही उनकी रक्षा कर रहा है, फिर भी एक प्रबल सन्देह की आँधी उठकर उन्हें परेशान करने लगी। विचलित हृदय से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर स्वामीजी सोचने लगे कि कुछ हठधर्मी युवकों के परामर्श को मानकर मैं क्यों अमेरिका आया? अस्तु—शिकागो में संकल्पसिद्धि का

कोई उपाय न देखकर उन्होंने यह स्थान छोड बोस्टन की ओर यात्रा की।

भगवान की इच्छा से रास्ते में एक वृद्ध महिला से उनका परिचय हो गया। यह भद्र महिला उनकी विचित्र पोशाक देखकर उनका परिचय जानने के लिए उत्सुक हो गयी। उन्होंने जब यह सुना कि प्राच्य देश के ये सन्यासी अमेरिका में वेदान्त का प्रचार करने के लिए आये है तो एक अज्ञात जिज्ञासा के वशीभूत होकर उन्होंने अपने घर मे आतिथ्य ग्रहण करने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया व साथ ही साथ स्वामीजी को आश्वासन दिया कि वे स्वामीजी के प्रचारकार्य की सब प्रकार से सुविधा कर देंगी। इन महिला के घर में स्वामीजी कैसे आराम से थे इसके सम्बन्ध मे उन्होने स्वयं लिखा है--

"यहाँ पर रहने से मेरी पहली जो सुविधा हुई है वह यह है कि प्रति दिन मेरा जो एक पौड के हिसाब से खर्च हो रहा था वह बच रहा है और उनका लाभ यह है कि वे अपने मित्रों को आमन्त्रित कर भारत से आये हुए एक अद्‌भुत जीव को दिखा रही है। इन सब कष्टों को सहन करना ही होगा। मुझे इस समय भूख, शीत, विचित्र पोशाक के कारण रास्ते के लोगों की हँसी आदि के साथ लड़ते हुए चलना पड़ रहा है।"

अस्तु, स्वामीजी इस महिला के मकान पर आकर पहले की अपेक्षा निश्चिन्त हो गये। उन्होंने यह निश्चय किया कि कुछ महीने यत्न करके यदि अमेरिका मे वेदान्त प्रचार की सुविधा न दिखेगी तो यहाँ से इंग्लैण्ड जाऊँगा। यदि वहाँ भी कोई सुविधा न होगी तो फिर अपने देश लौटकर श्रीगुरु के अन्य आदेश की अपेक्षा करूँगा।

शिकागो-धर्मसभा मे प्रतिनिधि के रूप में लिये जाने के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण रूप से निराश हो जाने पर भी स्वामीजी का दृढ़ हृदय विचलित न हुआ। वे आनेवाले विघ्न व विपत्ति के साथ संग्राम करने के लिए "भगवान पर दृढ़ विश्वास रूपी सुदृढ़ कवच" धारण कर तैयार हो गये। इस महिला के भवन से उन्होंने अपने एक शिष्य को लिखा था, "यहाँ आने से पहले जो सब सुनहरे स्वप्न देखा करता था वे सब उड़ गये हैं--इस समय असम्भव के साथ युद्ध करना पड़ रहा है। सैकड़ों बार मन में आया, इस देश से चला जाऊँ परन्तु फिर सोचा मै नामी हठी हूँ और मुझे भगवान का निर्देश मिला है। मेरी दृष्टि में कोई पथ नही सूझ रहा है यह ठीक है, परन्तु उनकी आँखें तो सब कुछ देख रही हैं। मरूँ या जिन्दा रहूँ, उद्देश्य नही छोड़ूँगा।" आज तक जगत् का कोई भी महान् कार्य निर्विघ्न सम्पन्न नहीं हुआ है। पराजय व व्यर्थता के साथ संग्राम के बीच में से ही तो मानवचरित्र का वास्तविक महत्त्व प्रकट होता है। इसीलिए हम देखते है कि घोर दुर्दशा मे भी पडकर जब उन्होंने मृत्यु को स्थिर जान लिया था, उस समय भी अपने शिष्यों को उत्साह देकर पत्र लिखा था, "कमर कस लो वत्स, प्रभु ने मुझे इस कार्य के लिए बुलाया है, मैंने सारा जीवन नाना प्रकार के दु:खकष्ट सहन किये हैं, प्राणप्रिय निकटतम स्वजनों को एक प्रकार अनाहार से ही मरते देखा है, लोगों ने मेरा उपहास व अवज्ञा भी की है, जुआरी व बदमाश भी कहा है, पर मैंने यह सभी कुछ सहन किया है--उन्हीं लोगों के लिए जिन्होंने मेरा उपहास व अवज्ञा की है। वत्स, यह जगत् दु:ख का केन्द्र अवश्य है, परन्तु महापुरुषों के लिए शिक्षा का केन्द्र भी है। लाखों निर्धनों के हृदय की वेदना का

अनुभव करो, निष्कपट होकर इनके लिए ईश्वर से सहायता माँगो—सहायता अवश्य मिलेगी! मैंने वर्षों तक इसी चिन्ता का भार मस्तिष्क में व इसी दुःख का भार हृदय में धारण कर भ्रमण किया है। तथाकथित धनी व बड़े आदमियों के दरवाजे पर भी गया हूँ, और अन्त में हृदय का रक्त निचोडकर देते हुए आधी पृथ्वी लाँघकर इस सुदूर विदेश में सहायता प्राप्ति की आशा से आ पहुँचा हूँ। भगवान दयामय हैं! वे अवश्य ही सहायता करेंगे। मैं इस देश में शीत व अनशन से मर सकता हूँ, परन्तु हे युवकगण! मै तुम्हें गरीब, पतित व उत्पीड़ितों के लिए यह प्राणपण चेष्टा धरोहर के रूप में दे रहा हूँ। तुम इन तीस करोड़ नर नारियों के उद्धार का व्रत धारण करो—जो प्रति दिन घोर अज्ञान के अन्धकार में डूबे जा रहे हैं। प्रभु के नाम की जय हो—हम अवश्य ही कृतकार्य होंगे। इस चेष्टा में सैंकड़ों व्यक्ति प्राणत्याग कर सकते हैं, और फिर हजारों व्यक्ति इस कर्म के लिए तैयार भी होंगे।—विश्वास—सहानुभति! अग्निमय विश्वास—शुद्ध हार्दिक सहानुभूति!—आगे बढ़ो, आगे बढ़ो।"

स्वामीजी महिलाओं के परामर्श को मान अपनी पोशाक बदलने के लिए बाध्य हुए। साधारण उपयोग में लाने के लिए उन्होंने एक लम्बा काला कोट बनवाया। गेरुआ रंग की पगड़ी व चोगा केवल व्याख्यान के समय पर पहनने के लिए रख छोड़े। एक दिन संयोगवश पूर्वोक्त महिला के मकान पर हार्वर्ड विश्व-विद्यालय की ग्रीक भाषा के विख्यात प्रोफेसर मि० जे० एच० राइट महोदय के साथ स्वामीजी का परिचय हुआ। इन्होंने थोड़ी देर वार्तालाप के बाद ही स्वामीजी का उद्देश्य जानकर

कहा, "आप शिकागो-महासभा में हिन्दू-धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अवश्य जाइये। वहाँ पर वेदान्त-प्रचार के कार्य में आप अधिकतर सफलता प्राप्त कर सकेंगे।" उत्तर में स्वामीजी ने अपनी स्वाभाविक सरलता के साथ वास्तविक कठिनाइयों का खोलकर वर्णन कर दिया। प्रोफेसर महोदय ने आश्चर्यचकित होकर कहा, "To ask you Swami, for your credentials is like asking the Sun to state its right to shine!" राइट साहब ने उसी समय उक्त महासभा से सम्बन्धित अपने मित्र मि० बनी के नाम एक पत्र लिखकर स्वामीजी के हाथ में दे दिया। उस पत्र में दूसरी बातों के साथ यह भी लिख दिया, "मेरा विश्वास है कि यह अज्ञात हिन्दू संन्यासी हमारे सभी पण्डितों को एकत्रित करने पर जो कुछ हो सकता है उससे भी अधिक विद्वान् है।" यह पत्र लेकर स्वामीजी ने फिर से शिकागो की ओर यात्रा की। रेल का टिकट भी प्रोफेसर महोदय ने ही दिया।

स्वामीजी जिस उत्साह तथा जिस आनन्द को लेकर बोस्टन से रवाना हुए थे, शिकागो रेलवे स्टेशन पर उतरने के साथ ही वह सब लुप्त हो गया। इस विराट नगर में वे किस प्रकार डा० बैरोज साहब का आफिस ढूँढ़ सकेंगे। रास्ते में दो चार भद्र-महोदयों से उन्होंने पूछा अवश्य, परन्तु स्वामीजी को निग्रो समझकर वे लोग घृणा के साथ मुँह फेरकर आगे बढ़ गये; यहाँ तक कि रात को ठहरने के लिए एक होटल की खोज करने में भी उन्हें सफलता नही मिली। अन्त में कहीं भी आश्रय न पाकर रेलवे माल गुदाम के सामने पड़े हुए एक बड़े से पैंकिग बक्स में ही उन्होंने प्रवेश किया। उस समय बाहर बर्फ गिरना शुरू हो गया था। शीतकाल की प्रखर वायु का तीव्र स्पर्श और पैंकिग

वक्स के भीतर घोर अन्धकार ! दु:सह शीत से देह-रक्षा करने के लिए उनके पास काफी वस्त्र भी न थे ! असीम उत्कण्ठा के साथ रात बिताकर प्रात:काल आशा व उद्यम से ढाढ़स बाँधकर राजपथ पर निकल पड़े। सारी रात अनाहार से बिताने के कारण प्रवल क्षुधा से उनका सारा शरीर शिथिल हो रहा था तथा वे और आगे बढ़ने में असमर्थ हो रहे थे। निरुपाय होकर थोड़े से खाद्य द्रव्य की आशा से द्वार-द्वार पर भिक्षा माँगने लगे। उनके मैले फटे वस्त्र तथा क्लेशव्यंजक मुखमण्डल को देखकर भी किसी के मन में दया का उद्रेक न हुआ। बल्कि उल्टे किसी ने गाली दी तो किसी ने दरवाजे से दूर हटाने के लिए बल का भी प्रयोग करना चाहा; किसी किसी ने प्रवल उपेक्षा व घृणा के साथ दरवाजा ही बन्द कर दिया ! विशेप थके होने के कारण स्वामीजी राजपथ के किनारे पर बैठ गये और प्रशान्त चित्त से पूर्ण निर्भरता के साथ श्री गुरुदेव का स्मरण करने लगे। सहसा उनके सामने ही जो एक विशाल भवन था उसका दरवाजा खुला और एक अपूर्व सुन्दरी रमणी ने धीरे से आकर स्वामीजी से मधुर कण्ठ से पूछा, "महाशय, क्या आप धर्म-महासभा के एक प्रतिनिधि हैं ?" स्वामीजी ने विस्मयरुद्ध कण्ठ से संक्षेप में अपनी दुरवस्था की बात कह सुनायी और साथ ही कहा कि बैरोज साहब के आफिस का पता उनसे कहीं खो गया है। उस दयार्द्र-चित्त महिला ने स्वामीजी को अपने घर पर बुलाकर भृत्यों को उनकी सेवा करने का आदेश दिया और कहा कि प्रातर्भोजन समाप्त होने पर वे स्वयं स्वामीजी को धर्मसभा में ले जायेंगी।

उपन्यासकार की श्रेष्ठतम कल्पना की तरह घटनाओं की असाधारण विचित्रता के बीच में से विवेकानन्द के प्रवासजीवन

का एक और अध्याय समाप्त हुआ। भगवान इसी तरह से दुःख की कसौटी पर महापुरुषों की परीक्षा किया करते है। इस सहृदया महिला का नाम है मिसेज जार्ज डबल्यू० हैल। अयाचित रूप से इन्होंने स्वामीजी की मातृस्थानीया बनकर उनके प्रचार-कार्य मे काफी सहायता की थी––अस्तु। स्वामीजी विश्राम के बाद उनके साथ जाकर धर्म महासभा में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप मे ले लिये गये तथा प्रतिनिधियों के लिए निर्दिष्ट मकान में अतिथि के रूप में रहने लगे।

धर्मसभा के प्रथम अधिवेशन का विस्तृत वर्णन कर स्वामीजी ने स्वयं किसी शिष्य को लिखा था, "महासभा के प्रारम्भ के दिन प्रातःकाल हम सब 'शिल्प प्रासाद' नामक भवन में एकत्रित हुए।

"वहाँ पर महासभा के अधिवेशन के लिए एक बृहत् तथा कुछ छोटे छोटे अस्थायी हाल बनाये गये थे। यहाँ पर सभी जाति के लोग सम्मिलित हुए थे। भारतवर्ष से आये थे––ब्राह्म समाज के प्रतापचन्द्र मजुमदार व बम्बई के नगरकर, वीरचन्द्र गान्धी जैन समाज के प्रतिनिधि के रूप मे तथा एनी बेसेन्ट व चक्रवर्ती थिओसफी के प्रतिनिधि के रूप में आये थे। मजुमदार के साथ मेरा पूर्व परिचय था, और चक्रवर्ती मेरा नाम जानते थे। मकान से शिल्प प्रासाद तक बड़ी शान-शोकत के साथ हम सब गये तथा प्लेटफार्म पर हम सब यथास्थान बैठाये गये। सोचकर देखो––नीचे एक हॉल, उस पर एक बड़ी भारी गैलरी, उसमे अमेरिका के चुने हुए छः-सात हजार सुशिक्षित नरनारी एक दूसरे से सटकर बैठे है और प्लेटफार्म पर पृथ्वी की सभी जातियों के विद्वान उपस्थित है। और मैं––जिसने जन्म से कभी

जनसाधारण के सामने भाषण नहीं दिया वह इस महासभा में भाषण देगा ! संगीत, प्रारम्भिक भाषण आदि नियमित रिवाज व ढंग से सभा का कार्य प्रारम्भ हुआ। उस समय प्रतिनिधियों का एक एक करके सभा को परिचय करा दिया गया। प्रत्येक प्रतिनिधि ने भी सामने आकर कुछ-कुछ कहा। इधर मेरी छाती धुकधुक कर रही थी और जीभ सूख रही थी। मैं इतना घबड़ा गया कि पूर्वाह्न में तो भाषण करने का भरोसा तक न कर सका। मजुमदार ने अच्छा भाषण दिया। चक्रवर्ती और भी सुन्दर बोले। खूब तालियाँ पीटी जाने लगीं। वे सभी अपना भाषण तैयार करके लाये थे। मैं मूर्ख—मैंने कुछ भी तैयार नहीं किया था। खैर, मैं देवी सरस्वती को प्रणाम करके आगे बढा। बैरोज महोदय ने मेरा परिचय करा दिया। मेरे गेरुए वस्त्र से श्रोताओं का चित्त थोड़ाबहुत आकृष्ट हुआ था।

"मैंने अमेरिका-निवासियों को धन्यवाद देकर तथा और भी दो-एक बातें बताकर एक छोटा सा भाषण दिया। हाँ, मुझे यह स्मरण है कि जिस समय मैंने उपस्थित जनता को 'अमेरिका-निवासी भगिनी व भ्रातृगण' कहकर सम्बोधित किया उस समय दो मिनट तक लगातार ऐसी करतलध्वनि हुई कि मानो कान ही बधिर होने लगे ! उसके बाद मैंने भाषण प्रारम्भ किया। जब मेरा भाषण समाप्त हुआ उस समय हृदय के आवेग से सम्पूर्ण श्रान्त हो मैं बैठ गया। दूसरे दिन सभी समाचारपत्रों में मोटी-मोटी लाइनों में यही वृत्तान्त आया कि मेरा भाषण सभी को बहुत अच्छा लगा। बस उसके बाद कुल अमेरिका मुझे जान गया। उस श्रेष्ठ टीकाकार श्रीधर स्वामी ने ठीक ही कहा है, 'मूकं करोति वाचालं'—हे भगवन्, तुम गूंगे को भी महान् वक्ता

बना देते हो ! उन प्रभु की जय ! उस दिन से मै एक विख्यात व्यक्ति बन गया। और जिस दिन हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में मैंने अपना भाषण दिया उस दिन तो हॉल मे इतनी भीड़ हुई थी कि वैसी अन्य किसी दूसरे दिन नही हुई।"

११ सितम्बर १८९३ ई० जगत् के इतिहास में एक स्मरणीय दिन है। प्राच्य व पाश्चात्य के विभिन्न धर्मसम्प्रदायों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि इसी दिन एकत्र सम्मिलित हुए थे—इस विराट् सभा में हजारों उत्कर्ण नरनारियों के सम्मुख अपनी अद्वितीय आशीर्वाणी का उच्चारण करने के लिए विवेकानन्द खड़े हुए।

थिओसोफिस्ट सम्प्रदाय की नेत्री श्रीमती एनी बेसेन्ट ने १९१४ ई० के मार्च मास की 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में इस घटना का उल्लेख कर लिखा था, "महिममय मूर्ति, गैरिक वस्त्र से भूषित, शिकागो नगर के धूममलिन धूसर वक्ष पर भारतीय सूर्य की तरह दीप्तिमान, उन्नत-शिर, मर्मभेदी दृष्टिपूर्ण आँखे, चंचल होंठ, मनोहर अंगभंगी—धर्ममहासभा के प्रतिनिधियों के लिए निर्दिष्ट कमरे में स्वामी विवेकानन्द मेरी आँखों में प्रथम इसी रूप मे प्रतिभात हुए थे। वे संन्यासी के नाम से विख्यात है, परन्तु यह समर्थनीय नही है, क्योंकि प्रथम दृष्टि में वे संन्यासी के बजाय योद्धा ही समझे जाते थे—और वे वास्तव में एक योद्धा संन्यासी थे भी। यह भारतगौरव, राष्ट्र के मुख को उज्ज्वल करनेवाले सब से पुराने धर्म के प्रतिनिधि, दूसरे उपस्थित प्रतिनिधियों में उम्र में सब से छोटे होने पर भी प्राचीनतम व श्रेष्ठतम सत्य की जीती-जागती मूर्तिरूपी स्वामीजी दूसरे किसी से भी कम न थे। द्रुत उन्नतिशील, उद्धत पाश्चात्य जगत् मे दूत का काम करने के लिए अपनी योग्यतम सन्तान को नियुक्त कर

भारतमाता गौरवान्विता हुई थी। इस दूत ने अपनी जन्मभूमि की गौरवपूर्ण कथाओं को न भूलकर भारत के सन्देश की घोषणा की थी। शक्तिमान, दृढ़संकल्प तथा उद्यमशील स्वामीजी में अपने मत का समर्थन करने के लिए काफी क्षमता थी।"

"दूसरा दृश्य प्रारम्भ हुआ। स्वामीजी सभामंच पर खड़े हुए। दूसरे शक्तिमान. प्रतिभासम्पन्न प्रनिनिधियो ने यद्यपि अपने सन्देश को सुन्दर रूप से व्यक्त किया था परन्तु इस अप्रतिद्वन्द्वी, प्राच्य प्रचारक की अतुलनीय आध्यात्मिक वार्ता की महिमा के सामने वे सभी निश्चय ही अवनत हो गये थे। उनके कण्ठ से निकला हुआ प्रत्येक झकारमय शव्द आग्रहान्वित मन्त्रमुग्ध जैसे विराट् जनसमूह के मानसपट पर दृढ रूप से अंकित हो गया था।"

थिओसोफिस्ट सम्प्रदाय ने यद्यपि पग पग पर स्वामीजी के मार्ग मे वाधा डाली थी तथा सव प्रकार से उनके प्रचारकार्य में विघ्न उत्पन्न करने की चेष्टा की थी, फिर भी इस वैद्युतिक शक्तिशाली तेजस्वी हिन्दू-सन्यासी के पवित्र प्रभाव को वे रोक न सके। इसीलिए विवेकानन्द की झूठी निन्दा की चर्चा करके थिओसोफिस्टो ने जिस अकीर्ति का सचय किया था, उसी को दूर करने के लिए अनेक वर्ष वाद श्रीमती एनी बेसेन्ट ने 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका मे 'My impressions of Swamı Vıvekananda and his work' नामक लेख लिखा था, इसमे सन्देह नही। इसमे श्रीमती बेसेन्ट ने यथेष्ट सत्साहस का परिचय दिया है और इसके लिए हम उन्हे धन्यवाद देते है।

मनुष्यमात्र में भ्रातृभाव की स्थापना व प्रचार के उद्देश्य से जो महासभा बुलायी गयी थी उसके पूर्ववर्ती वक्ताओं ने चिराचरित रीतियों के अनुसार ही श्रोताओं को सम्बोधित किया था।

परन्तु विश्वमानव के मिलन-मन्दिर के केन्द्रस्थल में खड़े होकर पृथ्वी के सब से प्राचीन संन्यासी सम्प्रदाय के प्रवक्ता विवेकानन्द ने ही पहलेपहल उस विराट सभा को 'भगिनी व भ्रातृगण' कहकर सम्बोधित किया था। हृदय के अन्तस्तल से उठे हुए इस निर्मल आह्वान ने सभी के हृदय में छिपी हुई प्रेम-निर्झरिणी के मुखावरण को उन्मुक्त कर दिया !

इसी भ्रातृसम्बोधन से प्रीतिउत्फुल्ल श्रोतृवृन्द ने उद्ग्रीव तथा उत्कर्ण होकर सुना, आगतप्राय वीसवी सदी के नवयुग का आदर्श—सब प्रकार के धर्मद्वन्द्व का परित्याग, स्वाधीनता के नाम पर व्यक्तिगत स्वेच्छाचार का परित्याग, जातीयता के नाम पर दूसरों की सम्पत्ति पर दृष्टि का निषेध, धर्म के नाम पर दूसरों के धर्म के प्रति अकारण आक्रमण का घोर निषेध ! श्रोताओं के हृदय मे यह बात भी पहुँचायी गयी कि प्रत्येक व्यक्ति की जातीय, धार्मिक व सामाजिक स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए आपस मे एक दूसरे के साथ भावों का आदानप्रदान करना होगा, ईर्ष्या तथा संकीर्णता को छोड़ अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार दूसरों की लौकिक व आध्यात्मिक उन्नति के लिए सहायता करनी होगी।

१९ सितम्बर को स्वामीजी का 'हिन्दू धर्म' नामक विख्यात भाषण हो जाने के बाद धर्मसभा के प्रतिनिधियों मे से कुछ व्यक्तियों ने यह लोकचर्चा फैलायी कि वह वर्तमान प्रचलित हिन्दू धर्म नही है। विवेकानन्द ने जिस प्रकार आत्मा की महिमा घोषित की है उसके सम्बन्ध मे अधिकांश हिन्दुओं को जानकारी नही है। सूक्ष्म तर्क व युक्ति के द्वारा मूर्तिपूजा की दार्शनिक व्याख्या कर वे पाश्चात्य जगत् की आँखों में धूल झोंकने को

उद्यत हुए है, क्योंकि जड़ के उपासक पौत्तलिक हिन्दू इस प्रकार की व्याख्या स्वप्न में भी नही सोच सकते हैं---विशेषतः विवेकानन्द एक नीच वंश में पैदा हुए है तथा जाति व समाज से च्युत एक नगण्य व्यक्ति है, धर्म की चर्चा उनके लिए अनधिकार चेष्टा मात्र है---आदि आदि इस प्रकार के निन्दावाद का प्रचार कर उन्ही के स्वदेशवाले किसी 'रेवरन्ड' प्रचारक महोदय ने धर्मसभा के अधिकारियों से उस उच्छृंखल चरित्रहीन युवक को सभा से निकाल बाहर करने का परामर्श दिया। इस समयोचित परामर्श में धर्मसभा के विज्ञ अधिकारीगण एकाएक विश्वास तो न कर सके, परन्तु उन्होंने स्वामीजी से इतना जरूर कह दिया कि आप अपने भाषण के सम्बन्ध में प्रतिवादी पक्ष द्वारा उठायी हुई आपत्तियों का खण्डन कीजिये। वेदान्तदर्शन के साथ वर्तमान प्रचलित हिन्दू धर्म का क्या सम्बन्ध है, इस विषय में आलोचना-सभा मे स्वामीजी ने २२ सितम्बर को एक आकर्षक भाषण दिया। उसी दिन सायकाल भारत के वर्तमान धर्मसमूह की आलोचना-सभा में भी उन्होंने प्रतिवादियों द्वारा उठायी हुई विद्वेषपूर्ण युक्तियो का दृढता के साथ खण्डन कर हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता व विशालता प्रमाणित की। २५ तारीख को जिस समय उन्होंने 'हिन्दू धर्म का सार' नामक भाषण देते देते सहसा नीरव होकर उपस्थित जनसमूह को लक्ष्य करके प्रश्न किया, "इस सभा में जो हिन्दू धर्म व शास्त्र के साथ प्रत्यक्ष रूप से परिचित हैं वे हाथ उठाये,"---तो प्रायः सात हजार व्यक्तियों के बीच मे से केवल तीन-चार हाथ उठाये गये! 'योद्धा संन्यासी' मस्तक ऊँचा उठाकर दोनों बाहुओं को दृढ़ता के साथ छाती पर बाँध-कर भर्त्सना के साथ गरजते हुए बोले, "और फिर भी तुम हमारे

धर्म की समालोचना करने की स्पर्धा रखते हो!" समस्त सभा निर्वाक् बनी रही और मृदु हास्य के साथ स्वामीजी ने फिर से अपना भाषण प्रारम्भ किया।

अन्त में २७ सितम्बर को धर्मसभा के अन्तिम अधिवेशन में युगधर्मप्रवर्तक आचार्य ने पृथ्वी की सुसभ्य जातियों के सम्मुख वज्रकण्ठ से घोषित किया, "जो लोग इस सभा की कार्यप्रणाली का निरीक्षण करने के बाद भी हृदय में इस प्रकार की भावना रखेंगे कि कोई विशेष धर्म समय पर जगत् का एकमात्र धर्म हो जायगा अथवा कोई विशेष धर्म ही ईश्वरप्राप्ति का एक मात्र उपाय है और दूसरे धर्म भ्रान्त हैं, वे वास्तव में दया के पात्र हैं।" अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के समन्वय का सन्देश घोषित कर उन्होंने भविष्य के सार्वभौमिक आदर्श के सम्बन्ध में कहा, "प्रत्येक जाति या प्रत्येक धर्म दूसरी जाति या दूसरे धर्मों के साथ आपस में भावों का आदानप्रदान करेगा, परन्तु प्रत्येक अपनी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करेगा और अपनी अपनी अन्तर्निहित शक्ति के अनुसार उन्नति की ओर अग्रसर होगा। आज से सभी धर्मों के झण्डों पर लिख दो, 'युद्ध नहीं—सहायता; ध्वंस नहीं—आत्मस्थ कर लेना; भेद-द्वन्द्व नहीं—सामंजस्य एवं शान्ति!'"

ईसाई धर्म व पाश्चात्य सभ्यता ने भारतीय धर्म व समाज को यथेष्ट उन्नत व परिमार्जित बनाया है—इस प्रकार की चापलूसी व दुर्बलता की सहायता से कृतज्ञता प्रकट कर 'वाह वाह' लूटने की आशा से विवेकानन्द पाश्चात्य देश में नहीं गये थे। वे गये थे शिक्षा-गुरु के रूप में—अद्वैतवाद का मणिमय प्रदीप हाथ में लिये, भोगान्धकार से आच्छन्न पाश्चात्य जाति को मुक्ति का

पथ दिखाने ! अपनी इच्छा से नहीं, भगवान की मंगलमयी इच्छा के दास बनकर ! उनका सन्देश सुनने के लिए जगत् बाध्य है। जिन्होंने नीच ईर्ष्या के वशीभूत होकर इस महान् कार्य में विघ्न डालने की चेष्टा की थी वे स्वदेशी हों या विदेशी, इससे कोई प्रयोजन नही--उनकी अयाचित बहानेबाजी को उदारहृदय अमेरिकन राष्ट्र ने स्वीकार नही किया। उन्होंने आग्रह के साथ नवयुग के आचार्य का आदर व सत्कार के साथ स्वागत किया। सदियों से अमेरिकावालों को नरक का भय, उत्कट पाप का भय तथा सुखमय स्वर्ग-प्राप्ति का प्रलोभन दिखाया गया था— युगयुगान्तर से वे सुनते आ रहे थे कि वे पापी हैं, अपवित्र है, अधम है, पर आज सहसा सुदूर प्राच्य देश से आये हुए आचार्य की अमृतमय वाणी उन्होने सुनी। उन्होंने सुना कि आचार्य उन्हें सम्बोधित कर अभय देते हुए कह रहे है, "हिन्दू लोग तुम्हें पापी कभी नहीं कहते। पापी ? तुम सब अमृत की सन्तान हो। इस पृथ्वी में पाप के नाम की कोई भी चीज नही है—यदि कोई पाप है तो मनुष्य को पापी कहना ही एक घोर पाप है। तुम सर्वशक्तिमान आत्मा हो—शुद्ध मुक्त महान् ! उठो, जागो, अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए चेष्टा करो !"

अमेरिकन राष्ट्र विवेकानन्द की प्रशंसा से मुखरित हो उठा। धर्मसभा के अधिवेशन में प्रथम व्याख्यान के बाद से ही सैकड़ों व्यक्ति स्वामीजी के साथ परिचित होने के लिए व्यग्र हो उठे। अपरिचित संन्यासी का नाम समग्र सभ्य जगत् में विद्युत्प्रवाह की तरह फैल गया। समाचारपत्र भी दुन्दुभि-निनाद से धर्म-महासभा में उनकी विजय की घोषणा करने लगे। 'न्यूयार्क हेरल्ड' नामक सुप्रसिद्ध पत्र ने उनके सम्बन्ध में चर्चा करते हुए

लिखा, "शिकागो-धर्ममहासभा में विवेकानन्द ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति है। उनका भाषण सुनकर ऐसा लगता है कि धर्ममार्ग में इस प्रकार के समुन्नत राष्ट्र (भारतवर्ष) में हमारे धर्मप्रचारको को भेजना निर्बुद्धिता मात्र है।"

'दि प्रेस आफ अमेरिका' ने लिखा, "हिन्दू दर्शन व विज्ञान में सुपण्डित उपस्थित सभासदों मे अग्रगण्य है—प्रचारक स्वामी विवेकानन्द—जिन्होने अपने भाषण द्वारा विराट् सभा को मानो सम्मोहिनी शक्ति के बल पर मुग्ध कर रखा था। आधुनिक प्रत्येक ईसाई चर्च के पादरी प्रचारकगण सभी उपस्थित थे, परन्तु स्वामीजी की भाषणपटुता की आँधी मे उनके वक्तव्य सभी विषय बह गये थे। उनके ज्ञानप्रदीप्त प्रशान्त मुखमण्डल से निकले हुए भाषण के प्रवाह ने अंग्रेजी भाषा की मधुरता स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर उनके चिराचरित धर्मतत्त्वों को श्रोतृमण्डली के हृदय पर गम्भीरता के साथ अंकित कर लिया।"

१८९४ ई० के ५ अप्रैल को 'बोस्टन इविनिंग ट्रैन्स्क्रिप्ट' ने मन्तव्य प्रकट किया था, "He is really a great man, noble, simple, sincere and learned beyond comparison with most of our scholars." अर्थात् वे वास्तव मे एक महापुरुष, उदार, सरल व ज्ञानी है; वे हमारे देश के धुरन्धर विद्वानों से गुणगौरव मे कही उच्च हैं।

महाबोधि सोसाइटी के जनरल सेक्रेटरी श्री धर्मपाल महोदय ने १८९४ ई० के १२ अप्रैल के 'इण्डियन मिरर' पत्रिका मे लिखा था—

"स्वामी विवेकानन्द के बड़े बडे चित्र शिकागो नगर मे रास्ते रास्ते पर लटकाकर रखे गये है और उनके नीचे लिखा है,

'संन्यासी विवेकानन्द'। विभिन्न सम्प्रदायों के हजारों पथिक इन चित्रों के प्रति भक्ति के साथ सम्मान प्रदर्शित करते हुए चले जा रहे हैं।"

शिकागो-महामेला के अंगरूपी विज्ञानसभा के सभापति श्रीयुत स्नेल ने लन्दन के सुप्रसिद्ध 'पायोनिअर' पत्रिका में इस महासभा के सम्बन्ध में जो विवरण दिया था उसके कुछ अंश का निम्नलिखित अनुवाद पढ़ने से ही हमें पता लग जायगा कि आचार्य देव ने पाश्चात्य समाज व धर्म के ऊपर कैसे असाधारण प्रभाव का विस्तार किया था—

"हिन्दू धर्म ने इस महासभा व जनसाधारण के ऊपर जिस प्रभाव का विस्तार किया है, वैसा करने में कोई भी दूसरा धर्म-संघ समर्थ नही हुआ। हिन्दू धर्म के एकमात्र आदर्श प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द ही इस महासभा के निर्विवाद रूप से सब से अधिक लोकप्रिय व प्रभावशाली व्यक्ति है। उन्होंने इस धर्म-महामण्डलों के व्याख्यानमंच पर तथा विज्ञानशाखा की सभा में अक्सर भाषण दिये हैं। इस विज्ञानशाखा के सभापति के रूप में निर्वाचित होकर मैं सम्मानित हुआ था। ईसाई अथवा अन्य किसी भी धर्मव्याख्याता को किसी भी समय इस प्रकार के उत्साह के साथ आदर प्राप्त नहीं हुआ। वे जहाँ भी जाते थे वहीं जनता की भीड़ उमड़ पड़ती थी और लोग उनकी प्रत्येक बात सुनने के लिए आग्रह के साथ उत्कंठित रहा करते थे। महासभा के बाद से ही वे संयुक्त राष्ट्र के प्रधान प्रधान नगरों के विराट् जनमण्डलियों के समक्ष भाषण दे रहे है और सभी स्थानों पर वे विशेष रूप से अभिनन्दित हो रहे है। उन्हें ईसाई धर्म-मन्दिरों के वेदियों से भाषण देने के लिए अनेक बार बुलाया

गया है। जिन्होंने उनका भाषण सुना है और विशेष रूप से जो लोग उनके साथ व्यक्तिगत रूप से परिचय प्राप्त कर सके है वे सदैव ही उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं। घोर कट्टर ईसाई भी उनके सम्बन्ध में कह रहे है, "स्वामीजी मनुष्य के बीच में 'अतिमानव' है।"

"इस देश मे हिन्दुत्व की कार्यकारी शक्तियों ने स्वामी विवेकानन्द के परिश्रम से विशेष रूप से प्रेरणा लाभ की है। इस देश मे वर्तमान प्रचलित अंग्रेजी भावापन्न, शक्तिहीन, सार-विहीन, अपकृत हिन्दू धर्म के प्रतिवाद के रूप में प्रकृत हिन्दू धर्म का इस प्रकार का कोई विश्वस्त प्रतिनिधि इससे पूर्व अमेरिका में तत्त्वजिज्ञासुओं के सम्मुख उपस्थित नही हुआ है। सामयिक उत्तेजना से नही—वरन् सचमुच अमेरिकानिवासी नि:सन्दिग्ध रूप से स्वामीजी के प्रस्थान के बाद उनके फिर से आने की आशा मे अथवा शंकरमतावलम्बी उनके सहयोगियों में से किसी के आगमन के लिए उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करेंगे। प्रोटेस्टेण्ट ईसाई धर्मसम्प्रदाय के बीच में जो लोग बहुत ही कट्टर है उनमे सें थोडे, बहुत ही थोड़े व्यक्तियों ने स्वामीजी की सफलता पर ईर्ष्या के वशीभूत हो उनके सम्बन्ध मे विरुद्ध मन्तव्य प्रकट किया है। इस प्रकार मन्तव्य अस्वाभाविक तथा अप्रचलित धर्ममताव-लम्बियों से ही आये है, परन्तु भारतभूमि के गैरिक वस्त्रधारी संन्यासी की सार्वजनीन महानुभावता व सदाशयता के गुण से, ज्ञानगौरव व व्यक्तिगत चरित्र की मधुरता से यहाँ का साम्प्र-दायिक विद्वेष व द्रोह तिरोहित हुआ है।

"भारतवर्ष ने स्वामीजी को भेजा है—इसलिए अमेरिका धन्यवाद दे रहा है। जिन्होंने अभी तक विश्वबन्धुत्व तथा हृदय

एवं मन की उदारता की शिक्षा प्राप्त नहीं की है, अमेरिका की ऐसी सन्तानों को अपने आदर्श का प्रदर्शन कराने तथा शिक्षा देने के लिए—यदि सम्भव हो तो—स्वामीजी की तरह और भी कुछ आदर्श पुरुषों को भेजने के लिए अमेरिका प्रार्थना कर रही है तथा जो लोग उनके उपदेश द्वारा सर्वभूत में भगवान के स्वरूप की उपलब्धि करने में समर्थ नहीं हुए है और सर्वभूताश्रय अद्वितीय ब्रह्मसत्ता का अनुभव करना नही सीखे है, उन्हें समुन्नत करने के लिए अमेरिका और भी कुछ आदर्श पुरुषों की आवश्यकता अनुभव कर रही है ।"

इस प्रकार महीनों तक आचार्य देव के पवित्र चरित्र, अद्‌भुत प्रतिभा तथा उनके प्रचारित वार्ता के सम्बन्ध में अमेरिका के समाचारपत्रों मे युक्तिपूर्ण आलोचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। समाचारपत्रों के प्रतिनिधिगण, विख्यात अध्यापकगण, दार्शनिक थिओसोफिस्ट, सुशिक्षित पण्डितमण्डली तथा सत्य के अन्वेषक उनसे मिलने के लिए दल के दल आने लगे। जब वे राजपथ पर निकलते थे तो सहस्रों व्यक्ति केवल उन्हें देखने के लिए ही पागल हो उठते थे। वास्तव में जिस सम्मान के शतांश का एकांश भी किसी साधारण व्यक्ति के मस्तिष्क में विकार उपस्थित कर सकता है, उसे वे अविचल हृदय से पी गये। इस विश्व-व्यापी प्रसिद्धि को उन्होंने कभी निजी नही माना, बल्कि जिस सभ्यता व शिक्षादीक्षा की गोद में उनका जन्म हुआ था, उन्होंने उसी सनातन धर्म की महिमा को ही इस सम्मान, ख्याति व यश के बीच में गम्भीरता के साथ अनुभव किया है। उन्होंने समझा कि काल का स्रोत फिर गया है। सभ्य जगत् के पास फिर से अमृत का सन्देश पहुँचाने के लिए भारतवर्ष प्रस्तुत हुआ है और

इसी के परिणाम में उन्हें इस देश में आना पड़ा है। वे अपने को यन्त्र ही मानते थे और इसीलिए साधारण व्यक्तियों की निन्दा या स्तुति की परवाह न करते हुए निःसंकोच होकर अपने सन्देश को व्यक्त करते थे। तभी वे समय पर भाव के आवेग में दृढ़ता के साथ कहा करते थे, "मै साधारण दूत मात्र हूँ—मेरा कार्य है सन्देश पहुँचाना।"

इस देशव्यापी सम्मान व प्रतिष्ठा के बीच में यशोलाभ से उत्फुल्ल होकर वे अपनी प्रिय मातृभूमि की बात भूले न थे—भूलते भी कैसे? निर्भीक सन्यासी ने धर्मसभा में खड़े होकर सभी ईसाइयों को सम्बोधित करते हुए प्रश्न किया, "निर्धन पौत्तलिकों की पापी आत्मा के उद्धार के लिए तुम लोग लाखों रुपये लगाकर मिशनरियों को भेज रहे हो, क्या उनके शरीर को बचाने के लिए दो दाने अन्न की व्यवस्था कर सकते हो? जब लाखों हिदन (Heathen) दुर्भिक्ष में भूखों मरते है तब तुम ईसाई उन्हें बचाने के लिए क्या करते हो? तुमने भारत के नगर नगर मे बड़े बड़े गिरजाघर बनवाये है, परन्तु धर्म हमारा यथेष्ट है, हम रोटी माँग रहे है और तुम दे रहे हो पत्थर के टुकड़े! क्या भूखों के दुःखकष्ट की ओर न देखते हुए उन्हे धर्मोपदेश या दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने की चेष्टा करना मनुष्यत्व का अपमान करना नही है? मै अपने स्वदेशनिवासी अनशनक्लिष्ट मनुष्यों के भोजन की व्यवस्था की आशा से तुम्हारे देश में आया हूँ, परन्तु मै भलीभाँति समझ रहा हूँ कि ईसाइयों से 'हिदनों' के लिए किसी प्रकार की सहायता की प्रार्थना करना व्यर्थ है।"

धर्मसभा समाप्त होने के साथ ही एक 'व्याख्यान कम्पनी' ने

स्वामीजी को संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न नगरों में भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया। स्वामीजी ने आग्रह के साथ उनके प्रस्ताव से सहमत होकर संयुक्त राज्यों के विभिन्न नगरों में भाषण देना प्रारम्भ किया। लोकप्रिय आचार्य के नवीन सन्देश को अमेरिका-निवासी उत्साह के साथ सुनने में तत्पर हुए। वे प्रत्येक नगर में सम्मानपूर्वक अभ्यर्थित होने लगे और प्रत्येक नगर से उनके लिए आग्रह के साथ आमन्त्रण आने लगा।

नग्न देह, नरमांसभोजी असभ्य भारतीयों के सम्बन्ध में मिशनरी लोगों की कृपा से पाश्चात्य जगत् में जो अद्‌भुत धारणा बँधी हुई थी, वह अधिकांश रूप में स्वामीजी द्वारा भारत की रीतिनीति, आचारव्यवहार व धर्म का विवरण सुनकर बदल गयी। अनेक सुविज्ञ, स्वजातिहितैषी विद्वान पादरियों ने विवेकानन्द के कथन की सत्यता की उपलब्धि की और भलीभाँति समझ लिया कि हिन्दू जाति की प्राचीन सभ्यता के पैरों तले बैठकर शिक्षा ग्रहण करने का दिन वास्तव में उपस्थित हुआ है। धनलोभी, जड़ोपासक, देहात्मवादी पाश्चात्य जाति को आसन्न ध्वंस के पंजे से आत्मरक्षा करने के लिए वेदान्त के अपूर्व धर्म को किसी भी रूप मे क्यों न हो स्वीकार करना ही होगा।

हमने पहले ही कहा है, स्वामीजी केवल हिन्दू धर्म के प्रचारक के रूप मे ही पाश्चात्य देश में नही गये थे, वरन् आचार्य के रूप में उनके सम्मुख दृप्त सिंह की तरह वे खड़े हुए थे। वे उच्च स्वर से ईसाइयों से वार वार पूछने लगे, "तुम्हारा ईसाई धर्म कहाँ है? इस स्वार्थ-संग्राम, अविराम ध्वंस की चेष्टा के बीच में ईसा मसीह का स्थान कहाँ है?"

स्वामीजी को संयुक्त राज्य के प्रत्येक नगर में अनेक प्रतिष्ठित

व प्रभावशाली मित्र प्राप्त हो गये थे, यहाँ तक कि अनेक पादरी भी उनकी उदार धर्मव्याख्या से विस्मित होकर उन्हें अपने उपासनागृहों मे भाषण देने के लिए बुलाने लगे। यदि वे जनसाधारण की श्रद्धा व दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए श्रुतिमधुर चाटुवाक्यों का उच्चारण करते तो उन्होंने जिस विश्वव्यापी प्रतिष्ठा को प्राप्त किया था वह होता या नहीं इसमे सन्देह है—यहाँ तक कि सम्भवत: उनके प्रचारकार्य का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता। वे अद्वैतवाद की सुदृढ़ नींव पर खड़े होकर वेदान्तप्रतिपादित सार-सत्यों को आधुनिक मन की उपयोगी युक्तियों से सजाकर सरल भाव से प्रकट करते थे, उसमे देशाचार व लोकाचार के साथ समझौते का भाव लेश मात्र भी नही था। जनसाधारण उनके सन्देश को किस भाव से ग्रहण करेगे अथवा उसे सुनकर उनके मन में क्या भाव उत्पन्न होगा इसकी वे परवाह नही करते थे। यह स्वाभाविक है कि उनकी निर्भीक समालोचना से तंग आकर कई व्यक्ति उनके साथ तर्क में अग्रसर होते थे। अपने मत के समर्थन में स्वामीजी कभी हिचकते न थे। व्याख्यान के वाद अक्सर वे इसी प्रकार द्वन्द्व मे बुलाये जाते थे। स्वामीजी की तर्कशैली की समालोचना करते हुए 'जावा स्टेट रजिस्टर' ने लिखा है—

"जिस व्यक्ति ने अपनी युक्ति व तर्क द्वारा स्वामीजी को पराजित करने की चेष्टा की उस अभागे की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ हुई है। उनका प्रत्युत्तर बिजली की तरह निकल पड़ता था और ऐसा लगता था कि दु:साहसी प्रश्नकर्ता भारतीय तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा आहत होकर स्तम्भित हो गया है। उनकी मानसिक कार्यप्रणाली ऐसी तीक्ष्ण, ऐसी समुज्ज्वल, ऐसी तत्त्वपूर्ण तथा

परिमार्जित होती थी कि समय पर वह श्रोताओं को मानो विद्युत् द्वारा आहत जैसा बना देती थी और विशेष औत्सुक्य के साथ हमेशा के लिए अनुशीलन करने का विषय वनी रहती थी।"

अन्तःकरण के वास्तव भाव को छिपाकर, सत्य को तोड़मरोड़-कर विकृत भाव से प्रकट करने की चेष्टा उनमें कभी नहीं देखी गयी। इसीलिए उनकी समालोचनाएँ समय समय पर तीव्र व असहनीय लगती थी। ईसा मसीह व उनके उपदेशों के प्रति स्वामीजी की यथेष्ट श्रद्धा रहने पर भी वे वर्तमान प्रचलित ईसाई धर्म के दोष, उसकी त्रुटि व ढोंगबाजी को स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिखाते थे। स्वामीजी की इस निर्भीक समालोचना से सभी चिन्तनशील भावुक व्यक्ति सन्तुष्ट होते थे, परन्तु संसार के सभी व्यक्ति उदारहृदय तथा सत्समालोचना को सुनने के लिए तैयार नहीं होते। समग्र संयुक्त राज्य मे फैली हुई उनकी अप्रतिहत प्रतिष्ठा को देख तथा अर्थोपार्जन में उन्हें विघ्न मानकर कुछ हीनचेता ईसाई मिशनरी नगर नगर में उनके विरुद्ध झूठा प्रचार करते और उनके प्रत्येक मित्र को शत्रु के रूप में परिणत करने के लिए चेष्टा करते थे। वे केवल स्वामीजी के पवित्र चरित्र पर कलंक का आरोप करके ही शान्त न हुए, वरन् अनेक सुन्दरी युवतियों को धन देकर वशीभूत करके स्वामीजी को प्रलोभित करने की चेष्टा करने लगे। थिओसोफिस्ट नेतागण इन सब मिशनरियों के पीछे रहकर उनकी सहायता करने में तत्पर हुए। विवेकानन्द का अपराध इतना ही है कि वे प्रकट रूप से घोषित करने लगे--भारतीय ऋषियों की कोई गुप्त विद्या नहीं है, हिमालय से कन्याकुमारी तक भ्रमण करके भी उन्हें ऐसे किसी महात्मा से साक्षात्कार-नही हुआ जो आकाश में पक्षियों

की तरह उड़ते रहते हों। विशेष रूप से हिन्दू-धर्म में गुप्त व गोपनीय कुछ भी नही है, क्योकि वह युक्ति द्वारा प्रमाणित सत्यों का समूह है, सत्य के प्रकाश को अनायास ही सहन कर सकता है। कुछ भी हो. उक्त थिओसोफिस्टों का विवेकानन्द भय धीरे-धीरे इतना बढ गया कि उन्होने यह नियम बना दिया कि समिति के सदस्यों मे से यदि कोई भूल कर भी विवेकानन्द का भाषण सुनने जायगा तो वह समिति की सब प्रकार से सहानुभूति खो बैठेगा, इत्यादि इत्यादि। और अवसर जानकर उनसे इस हीन कार्य में सम्मिलित हुए---उन्ही के स्वदेशवासी एक प्रख्यातनामा 'रेवरन्ड' धर्मप्रचारक। वे बेसिरपैर के अनेकों हीन, मिथ्या अपवादों का प्रचार कर स्वामीजी को लोगों की दृष्टि में गिराने के लिए चेष्टा करने लगे। वे सब मिलकर प्रचारकार्य को बन्द करने के लिए स्वामीजी को भयप्रदर्शन करने से भी बाज न आये।

विवेकानन्द का ब्रह्मचर्यरूपी वज्र द्वारा गठित चरित्र निन्दकों की बदनामी से विचलित होनेवाला न था। वे निर्विकार चित्त से चुपचाप अपना कार्य करते रहे और आत्मरक्षा की कोई भी चेष्टा न कर केवल कहते थे, "साधारण मनुष्य, समाज को ही अपना ईश्वर मानकर उसका आदेश पालन करना ही अपना कर्तव्या समझता है। ज्योति के पुत्र (Children of Light) कभी वैसा नही करते। यही सनातन नियम है। एक व्यक्ति अपनी पारिपार्श्विक स्थिति व सामाजिक मतामत के साथ अपने को मिलाकर अपने अभीष्टदायी समाज से अनेक प्रकार की सुख-सम्पत्तियाँ प्राप्त कर लेता है और दूसरा व्यक्ति अकेला खड़ा रहकर समाज को अपनी ओर कर लेता है। मेरे हृदय के बीच

में सत्य की जो वाणी ध्वनित हो रही है उसे न सुनकर मैं क्यों बाहर के लोगों के ख्याल के अनुसार चलने जाऊँ? यह मूर्ख जगत् मुझे जो कुछ करने के लिए कह रहा है, यदि मैं वैसा करने जाऊँ तो मुझे एक निम्नश्रेणी के जीवविशेप में परिणत हो जाना होगा, उसके वजाय तो मृत्यु सहस्रगुनी श्रेयस्कर है। मुझे जो कुछ कहना है, मैं उसे अपने ही भाव में कहूँगा। मैं अपने वाक्यों को न तो हिन्दू ढाँचे मे ढालूंगा, न ईसाई ढाँचे में और न किसी दूसरे ढाँचे मे ही। मैं अपनी वातों को केवल अपने ही ढाँचे में ढालूंगा।"

स्वामीजी के विरुद्ध इस सम्मिलित षड्यन्त्र से उनके मित्रगण भयभीत हो उठे। उन्होंने स्वामीजी को सावधान होने का परामर्श दिया और स्थानीय सामाजिक व्यवहार की किसी प्रकार समालोचना करने की मनाही करके मधुर वाणी से सभी को सन्तुष्ट करने का परामर्श दिया। परन्तु उनकी अमानवी प्रकृति दक्षिणेश्वर की पंचवटी के नीचे नितान्त विभिन्न धातु से गठित हुई थी। इसीलिए हम देखते है कि इन सव नीच षड्यन्त्रकारियों की प्राणपण चेष्टाओं की घोर अवहेलना के साथ उपेक्षा कर वे किसी सहृदय महिला को लिख रहे हैं—"*** क्या? संसार के क्रीतदासगण क्या कह रहे है, इसके द्वारा मैं अपने हृदय का जाँच-विचार करूँगा? छीः, वहन, तुम संन्यासी को नहीं पहचानतीं। वेदों का कथन है, संन्यासी वेदशीर्ष हैं, क्योंकि वे गिरजा, धर्म-मत, ऋषि, शास्त्र आदि किसी की भी परवाह नहीं करते। मिशनरी या दूसरा कोई भी क्यों न हो, वे भरसक चीत्कार व आक्रमण करें, मैं उनकी परवाह नहीं करता।"

भर्तृहरि की भाषा में—

"चण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः
किंवा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनै-
र्न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ।"

—अर्थात् क्या यह चाण्डाल है अथवा ब्राह्मण अथवा शूद्र अथवा तपस्वी अथवा तत्त्वविचार में धुरन्धर कोई योगेश्वर है? इस प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से आलोचना होते रहने पर भी योगीगण न तो रुष्ट होते हैं और न तुष्ट ही। वे अपने मन से चलते रहते है।

किसी ने कहा है,—

"हाथी चले बजार कुत्ता भौके हजार,
साधु का दुर्भाव नहीं जब निन्दे संसार।"

—अर्थात् जब हाथी बाजार के बीच मे से चला जाता है तो हजारों कुत्ते उसके पीछे पीछे भौकने लगते हैं, परन्तु हाथी मुड़कर देखता भी नही। इसी प्रकार जब समाज में कोई महापुरुष आविर्भूत होता है तो एक दल के संसारी व्यक्ति लगातार उनके विरुद्ध चिल्लाते रहते है।

सहिष्णु-काठिन्य से दुर्भेद्य पाषाणप्राचीर की तरह उनका सुदृढ़ व्यक्तिस्वातन्त्र्य सदा सभी स्थितियों में मस्तक उन्नत किये रहता था—उनकी त्यागपूत महिमा नितान्त अपरिचित व्यक्ति की स्थूल दृष्टि मे भी ज्यों की त्यों प्रतिभासित होती थी—इसलिए जनसाधारण उन सब असम्भव निन्दाओं पर सहसा विश्वास न कर सके; बल्कि उसका उल्टा ही फल हुआ, क्योंकि अनेक व्यक्ति जो विवेकानन्द के चरित्र की बारीकी के साथ परीक्षा करने गये, वे उनके मित्र बन गये। फिर भी आचार्यदेव के चरित्र

का एक और दृष्टिकोण था, जो था अपूर्व व सुन्दर। अन्याय्य रूप से उत्पीड़ित व निन्दित होकर भी उनकी जिह्वा ने भूल से भी कभी किसी पर अभिशाप की वर्षा नहीं की। यदि कोई उन्हें गाली देता तो गम्भीर भाव से 'शिव शिव' कहते कहते उनका मुखमण्डल अपूर्व दीप्ति से उद्भासित हो उठता; यदि कोई क्षुब्ध उत्तेजना के वश में आकर उन्हें प्रतिकार करने की याद दिला देता तो स्नेह के साथ हँसते हुए वे उत्तर देते, "यह तो केवल प्रियतम प्रभु की ही वाणी है।"

जिस दिन शिकागो धर्ममहासभा में आचार्यदेव की अपूर्व सफलता का सन्देश भारतवर्ष के गाँव-गाँव, नगर नगर में उत्तेजनामिश्रित आनन्दोल्लास के साथ फैलने लगा, उस दिन से हिन्दू जाति के इतिहास के एक गौरवमय अध्याय का सूत्रपात हुआ। हिमालय से कन्याकुमारी तक सभी भारतवासी इस अपरिचित वीर संन्यासी के कार्यों का विवरण कौतूहल व आग्रह के साथ सुनने लगे। रामनद के अधिपति राजा भास्कर वर्मा सेतुपति व खेतरी के राजा अजितसिंह बहादुर—दोनों राजशिष्यों ने आम दरबार में ठाठबाट के साथ अपनी अपनी प्रजा को बुलाकर हिन्दू जाति के मुख को उज्ज्वल करनेवाले श्री गुरुदेव के कार्यों की प्रशंसा की और शिकागो धर्ममहासभा मे जो वे हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने में समर्थ हुए है, इसलिए उन्हें धन्यवाद देकर पत्र लिखा।

मद्रास में राजा सर रामस्वामी मुदलियार व दीवान बहादुर सर*

---

* श्री सुब्रमण्य अय्यर ने बाद मे भारतवासियो के प्रति सरकार के अन्याय्य व्यवहार के प्रतिवाद के रूप मे 'सर' उपाधि का परित्याग कर दिया था।

सुब्रमण्य अय्यर, सी. आई. ई. महोदय के नेतृत्व में एक विराट् सभा बुलायी गयी। नगर के विख्यात विद्वान व मान्य व्यक्तियों ने उपस्थित होकर स्वामीजी के प्रचारकार्य का समर्थन किया और इस सभा की रिपोर्ट के साथ उन्हें उत्साहप्रद एक पत्र लिखा गया।

स्वामीजी की जन्मभूमि कलकत्ता नगरी उत्साह व आनन्द में उन्मत्त हो गयी। स्वामीजी के महिमासमुज्ज्वल प्रचारकार्य का समर्थन कर उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए बुधवार ता० ५ सितम्बर १८९४ ई० को राजा प्यारीमोहन मुखर्जी, सी. एस. आई. के सभापतित्व में कलकत्ते के टाऊन हॉल में एक विराट् सभा बुलायी गयी। सभा आरम्भ होने के नियत समय से बहुत पहले ही टाऊन हॉल हजारों दर्शकों एवं श्रोतागणों से भर गया। इस सभा में पं. राजकुमार न्यायरत्न, मधुसूदन स्मृतितीर्थ, कामाख्यानाथ तर्कवागीश, रामनाथ तर्कसिद्धान्त, महेशचन्द्र शिरोमणि, तारापद विद्यासागर, केदारनाथ विद्यारत्न, ईशानचन्द्र मुखोपाध्याय आदि विख्यात पण्डितगण तथा महाराज कुमार विनयकृष्ण देव बहादुर, माननीय जस्टिस गुरुदास बैनर्जी, माननीय सुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय, बाबू नगेन्द्रनाथ घोष (सम्पादक, इण्डियन नेशन), नरेन्द्रनाथ सेन (इण्डियन मिरर), डा० जे. बी. डेली (इण्डियन डेली न्यूज), बाबू भूपेन्द्रनाथ वसु, राय यतीन्द्रनाथ चौधरी (जमीदार टाकी) एवं कलकत्ता नगर के अन्य अनेक प्रतिष्ठित व विद्वान सज्जन सम्मिलित हुए थे।

उपस्थित भद्र महोदयों ने विवेकानन्द के गौरव के गर्व से प्रफुल्लित होकर ओजस्वी भाषणों द्वारा आचार्यदेव की कार्यप्रणाली का समर्थन किया। सारी सभा ने एकवाक्य से हिन्दू

समाज की ओर से स्वामी विवेकानन्द को धन्यवाद देने के लिए उपस्थित किये हुए प्रस्ताव का समर्थन किया। माननीय सभापति महोदय ने सर्व-सम्मति से हिन्दू समाज की ओर से शिकागो धर्ममहासभा के सभापति व स्वामीजी के पास धन्यवाद-सूचक पत्र भेजा।

राजा बहादुर के पत्र के उत्तर में डा० बैरोज साहब ने लिखा था :—

(अनुवाद)

२९५७, इण्डिआना अवेन्यु,
शिकागो
१२ अक्टूबर १८९४

राजा प्यारीमोहन मुखर्जी, सी. एस. आई.

प्रिय महाशय,

कलकत्ते की टाऊन हॉल की विराट् सभा के विवरण के साथ आपने मुझे जो पत्र लिखा है, वह अभी मिला। मैं इससे बहुत ही सम्मानित हुआ हूँ। शिकागो-धर्ममहासभा में आपके मित्र स्वामी विवेकानन्द बड़े सम्मान के साथ लिये गये थे। उन्होंने अपने भाषणबल से चुम्बक के आकर्षण के सदृश सभी को आकृष्ट कर लिया। वे अपने व्यक्तिगत प्रभाव को भलीभाँति विस्तारित करने में समर्थ हुए थे। उनके यत्न से यहाँ के लोगों की धर्म के अनुशीलन में विशेष रूप से प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। प्रधान प्रधान विश्वविद्यालयों में उनके भाषण तथा अध्यापन की व्यवस्था हो रही है। अमेरिका की जनता के हृदय में भारतवर्ष के प्रति विशेष कृतज्ञता एवं प्रेम है। हमारा विश्वास है कि आपके प्राचीन एवं पवित्र साहित्य से हमें अनेक विषयों को ग्रहण

करना होगा।

आपका एकान्त विश्वस्त,
जान हेन्री बैरोज

१८९४ ई० के १८ नवम्बर को न्यूयार्क से स्वामीजी ने अभिनन्दन के उत्तर में राजा बहादुर को लिखा—

"कलकत्ता टाऊन हॉल की जनसभा में स्वीकृत प्रस्ताव मझे प्राप्त हुआ। मैं अपनी जन्मभूमि के निवासियों के स्नेहपूर्ण वाक्यों तथा अपने मामूली-से कार्य के प्रति उनके सहृदय अनुमोदन के लिए हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

"मैंने यह निश्चित रूप से समझ लिया है कि कोई व्यक्ति या जाति दूसरों से विच्छिन्न होकर जीवित नहीं रह सकती। भ्रान्त श्रेष्ठत्व के अभिमान अथवा पवित्रता के बोध से जहाँ भी इस प्रकार की चेष्टा हुई है वही परिणाम अत्यन्त शोचनीय हुआ है। मैं समझता हूँ, दूसरों के प्रति घृणा की नीव पर कुछ प्रथाओं की दीवार उठाकर अलिप्तता का अवलम्बन ही भारत के पतन व उसकी दुर्गति का कारण है। प्राचीन काल में हिन्दुओं को पड़ोसवाले बौद्ध सम्प्रदायों के सम्मिश्रण से रोकने के लिए ही उस प्रकार की व्यवस्था का अवलम्बन किया गया था। इस व्यवस्था की यथार्थता को प्राचीन काल में अथवा आजकल भी, किसी भी भ्रान्त युक्ति के द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टा क्यों न की जाय, पर जो दूसरों से घृणा करेगा उसका पतन अवश्यम्भावी है, यही निश्चित नीति है। फलतः प्राचीन जाति-समूह के बीच में जो अग्रगण्य हुए थे—आज तो यह केवल किंवदन्ती के रूप में विद्यमान है—वे आज सभी की घृणा के पात्र हैं। हमारे पूर्वपुरुषों की भेदनीति के परिणाम में क्या स्थिति हुई है,

हम उसके जीते जागते उदाहरण हैं।

"आदान-प्रदान जगत् का नियम है। भारतवर्ष यदि फिर उठना चाहे तो उसके गुप्त भण्डार में जो कुछ संचित है, उसे विभिन्न जातियों में उदारतापूर्वक बाँट देना होगा और बदले में दूसरे लोग जो देंगे, उसे लेने के लिये भी तैयार रहना होगा। सम्प्रसारण ही जीवन है, और संकोच मृत्यु; प्रेम ही जीवन है, घृणा मृत्यु। हम उसी दिन से मर रहे हैं, जिस दिन हमने दूसरी जातियों से घृणा करना सीखा और सम्प्रसारण के अतिरिक्त हमारी इस मौत को और कोई नहीं रोक सकेगा। अतः हमें संसार की सभी जातियों के साथ मेल-मिलाप करना होगा। जो कोई हिन्दू विदेश में जाता है वह अप्रत्यक्ष रूप से देश का कल्याण करता है और तुलना में वह अपने उन हजारों देशवासियों से श्रेष्ठ है जिन्हें हम कुसंस्कार व स्वार्थपरता की मूर्ति कह सकते हैं; क्योंकि वे लोग स्वयं जड़ की तरह रहते है और दूसरों को भी कुछ नहीं करने देते! पाश्चात्य जातियों ने जातीय जीवन का जो आश्चर्यजनक सौध खड़ा किया है वह चरित्ररूपी सुदृढ़ स्तम्भों पर खड़ा है। जब तक हम उस प्रकार का अपना चरित्र बना न सकेंगे तब तक उसके विरुद्ध चीत्कार करना व्यर्थ है।

"जो दूसरों को स्वाधीनता देने को तैयार नहीं है, क्या वह स्वयं स्वाधीनता पाने के योग्य है? व्यर्थ की हाय हाय व चीख-चाख न करते हुए आइये हम दृढ़ चित्त से मनुष्य की तरह काम में लग जायँ। मुझे सम्पूर्ण विश्वास है कि जो वस्तु जिसको वास्तव में प्राप्य है, उससे उसे कोई वंचित नहीं करा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि हमारा भूतकाल महान् था, परन्तु मुझे विश्वास है, हमारा भविष्य उससे भी महान् होगा। भगवान शंकर

हमें पवित्रता, धीरता व अध्यवसाय के बीच सुप्रतिष्ठित रखें।"

शिकागो धर्ममहासभा की समाप्ति के बाद प्रायः एक वर्ष तक आचार्यदेव ने संयुक्त राज्य के नगर नगर में जो वक्तृताएँ दी थी उनका एकत्रित विवरण प्रकाशित करना बहुत ही कठिन कार्य है। समाचारपत्रों में प्रकाशित आचार्यदेव के भाषण व चरित्र के सम्बन्ध में आलोचनाओं द्वारा हम जान सकते है, १८९४ ई० के फरवरी मास में उन्होंने डिट्राइट युनिटेरिअन चर्च मे धारावाही रूप से कुछ भाषण दिये थे। स्वामीजी ने डिट्राइट में पहले मिशिगन की भूतपूर्व गवर्नर-पत्नी, असाधारण विदुषी महिला श्रीमती जान जे. बैलो के अतिथि के रूप में और उसके बाद दो सप्ताह तक शिकागो महासभा कमिशन के सभापति संयुक्त राज्य के अन्यतम सेनेटर माननीय टॉमस डब्ल्यु. पामर महोदय के भवन में निवास किया था।

मार्च, अप्रैल, मई और जून—इन चार महीनों में शिकागो, न्यूयार्क व बोस्टन के चारों ओर स्थित छोटे बड़े नगरों में उन्होंने अविराम व्याख्यान दिये थे। जून मास में वे न्यू इंग्लैण्ड के अन्तर्गत 'ग्रीन एकर' के एक सम्मेलन में भाषण देने के लिए गये। वहाँ पर कुछ उत्साही छात्र वेदान्तदर्शन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनकी शरण में आये। स्वामीजी भी आग्रह के साथ उन्हें शिक्षा देने लगे। ये छात्रगण अपने अध्यापक के प्रति सम्मान व श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए आचार्यदेव को घेर वृक्षों के नीचे भारतीय रीति का अनुसरण कर भूमि पर बैठते थे। इसके बाद वे शरत्काल भर विभिन्नों स्थानों मे घूमकर अक्टूबर मास के अन्तिम भाग में बल्टिमोर व वाशिंगटन नगर में भाषण देकर न्यूयार्क लौटे। न्यूयार्क की एक छोटीसी पारिवारिक सभा में

'ब्रुकलिन नैतिक सभा' के सभापति प्रसिद्ध विद्वान डा. लुइस जी. जेम्स स्वामीजी का भाषण सुनकर बड़े मुग्ध हुए। उन्होंने उस नैतिक सभा में हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में भाषण देने के लिए स्वामीजी को आमन्त्रित किया और सभा की ओर से स्वामीजी 'पौच मैन्शन' नामक विशाल भवन में हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में हजारों श्रोताओं के सम्मुख प्रतिदिन धाराप्रवाह रूप में भाषण देने लगे।

'ब्रुकलिन नैतिक सभा' में दिये हुए भाषणों को ही स्वामीजी के वेदान्त-प्रचारकार्य का प्रारम्भ मान लिया जा सकता है। इस समय से ही स्वामीजी ने अनेक स्थानों में घूम घूमकर व्याख्यान देना बन्द कर न्यूयार्क में स्थायी रूप से वेदान्त व योग की शिक्षा देने के लिए एक क्लास खोलने का निश्चय किया। व्याख्यान-कम्पनी की सहायता से भाषण देना व्यवसाय की दृष्टि से बहुत लाभदायक होने पर भी उन्होंने इस कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। भाषण देकर धन कमाना उन्हें ठीक न जँचा। न्यूयार्क में आकर उन्होंने घोषित किया कि जनता को बिना मूल्य ही उनके भाषण व उपदेश ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होगा। ब्रुकलिन व ग्रीन एकर में स्वामीजी ने जिन थोडेसे व्यक्तियों को शिष्य बनाया था, वे उत्सुकता के साथ नवीन स्थापित क्लास में सम्मिलित हुए। १८९५ ई० के फरवरी मास से यह कार्य नियमित रूप से प्रारम्भ हुआ। लगातार यश व प्रशंसा का विवरण सुनते सुनते स्वामीजी ऊब गये थे, इसीलिए वे व्याख्यान देने के बजाय व्यक्तिगत रूप से धर्मसम्बन्धी समस्याओं की मीमांसा कर देने तथा शिष्यों के अनभ्यस्त मन को भारतीय साधना के उपयोगी बनाने में अधिक तत्पर हुए।

ऐसा करने में उन्हें साधारण जनता के साग्रह आमन्त्रण से छुटकारा पाने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा; परन्तु फिर भी वे अपने संकल्प से च्युत न हुए। सम्भव है, उनका ऐसा उद्देश्य रहा हो कि यदि सचमुच किसी का प्रकृत धर्मलाभ करने के लिए एकान्त आग्रह जाग उठा है तो वह भारतीय शिष्य की तरह गुरु के पास आये। भाषण की सामयिक उत्तेजना में जो उत्साह देखा जाता है, उसका स्थायी फल बहुत ही कम व्यक्तियों पर होता है-- यह बात आचार्यदेव ने बहुत शीघ्र समझ ली थी।

अक्लान्तकर्मा आचार्यदेव के प्रत्येक कार्य में इस प्रकार एक ऐसी अनासक्ति का भाव प्रकट होता था, जिसका स्पष्ट कारण जानना अमेरिका-निवासियों के लिए असाध्य था, क्योंकि अपने भौतिक ज्ञान के मानदण्ड से वे इस भारतीय योगी को नापने में सब से पहले यही एक भूल कर बैठते थे कि इन्होंने धनोपार्जन के सरल पथ को छोड़कर अच्छा नहीं किया। भाषण देकर स्वामीजी कभी कभी यथेष्ट धन प्राप्त तो कर लेते थे, परन्तु उसे पाने के पहले ही वे उसका दान कर डालते थे। अमेरिका व भारतवर्ष के अनेक दातव्य भण्डार स्वामीजी से अप्रत्याशित रूप में आशातीत सहायता प्राप्त कर बहुधा चकित हुए हैं। यदि स्वामीजी के आय-व्यय या हिसाबकिताब का कोई खाता होता तो हमें प्रतीत होता कि जिस परिमाण से दान करने पर इस संसार में लोग बहुधा बड़े दाता के नाम से विख्यात हो जाते हैं, स्वामीजी उसकी सीमा से कहीं आगे निकल गये थे। यहाँ पर हम देखते हैं कि पाश्चात्य के मोहमय विलास की मरीचिका---प्रबल अर्थलालसा, उनके संन्यास को विचलित नहीं कर सकी। जिस

समाज में पग पग पर प्रचुर धन की आवश्यकता है, उसी समाज के वक्ष पर उन्होंने कल कहाँ रहेंगे, क्या खायेंगे इत्यादि चिन्ताओं से शून्य होकर दिन पर दिन व्यतीत किये हैं। पहलेपहल जोश में मस्त होकर अमेरिकावालों ने उनकी प्रशंसा की, ध्वनि से आकाश को मुखरित तो किया, परन्तु धर्म की शिक्षा के लिए शिष्य के रूप में वे उनके पैरों तले नहीं बैठे। उनके गुणमुग्ध व्यक्तियों ने मित्र के रूप में ही उनका सम्मान किया, उनसे स्नेह किया—गुरु के रूप में, आचार्य के रूप में भक्ति नहीं की; परन्तु जब विशेष रूप से पर्यवेक्षण करके उन्होंने देखा कि उनके वाक्य और कार्य में किसी प्रकार भिन्नता नहीं है—जब उन्होंने समझा कि उन्होंने अपने बीच में एक ऐसे व्यक्ति को प्राप्त किया है जो तथाकथित इन्द्रियजन्य भोगसुख को तृण की तरह मानता है,—आदर, सम्मान, यश, प्रतिपत्ति, धन आदि किसी से भी उसका चित्त विचलित नहीं होता,—जब उन्होंने देखा कि यह अद्‌भुत पुरुष सम्पूर्ण निःस्वार्थ भाव से, उन्हीं की कल्याण-कामना से, हिन्दू शास्त्र व धर्मरूपी अगाध समुद्र के मन्थन से उत्पन्न अद्वैतरूपी अमृत को लेकर उनके द्वार पर उपस्थित है—तभी तो वे उसके पैरो तले बैठकर धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए अग्रसर हुए थे।

अवश्य साथ ही साथ हमें यह भी न भूल जाना चाहिए कि यद्यपि शिकागो महासभा के बाद से ही विवेकानन्द एक विख्यात व्यक्ति हो गये थे, तथापि वेदान्तप्रचार के कार्य को प्रतिष्ठित करने में उन्हें अनेक असम्भव बातों के साथ युद्ध करना पड़ा था। ११ सितम्बर १८९३ ई० को जगज्जननी ने अपने प्रियतम पुत्र को विराट् सभा के बीच खड़ा कर आगामी सदी के चिन्ताराज्य

के एक अप्रतिहत योद्धा का पद देकर उनके महिमासमुन्नत मस्तक पर जिस प्रकार 'यश का कँटीला मुकुट' पहना दिया था उसी प्रकार साथ ही साथ शेष जीवन को भी यथासाध्य कण्टकाकीर्ण बाधा व विपत्तियों से युक्त बनाने में भी कमी न की थी।

पृथ्वी की विभिन्न प्रकार की सभ्य तथा अर्ध-सभ्य जातियों के सम्मेलन से निर्मित अमेरिकन जाति को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त अन्ध कुसंस्कार, असार अहंकार, उद्दाम भावप्रवणता एवं अव्यवस्थित-चित्तता—प्रत्येक विदेशी बुद्धिमान व्यक्ति को अमेरिका मे पदार्पण करते ही दृष्टिगोचर हो जाते थे। संसार का किसी भी प्रकार का कोई नवीन मतवाद या धर्म क्यों न हो —वह युक्तिपूर्ण हो अथवा नितान्त भ्रमात्मक—उसके समर्थक अमेरिका में मिल ही जायँगे। किसी भी ढंग से क्यों न हो, कुछ व्यक्तियों के मन में उत्तेजना पैदा करने में समर्थ होने से ही धन कमाने का सीधा रास्ता बना लिया जा सकता है। अमेरिका-निवासियों की इस दुर्बलता को सुलभ शिकार बनाकर धर्मतत्त्व, प्रेमतत्त्व, प्रेततत्त्व—महात्माओं का जल-स्थल-आकाश में अबाध विचरण आदि वैचित्र्यपूर्ण मतवादो का यहाँ पहले से ही प्रचार होता आया है और यथेष्ट धन दक्षिणा के रूप मे देकर स्थूल-दृष्टि अन्धविश्वासी नरनारी मुक्ति व आध्यात्मिक उन्नति की कामना से उन्हीं सब अलौकिक रहस्यपूर्ण समितियों के सदस्य बनकर अपने को कृतार्थ मानते थे। पारिपार्श्विक इस प्रकार की पार्श्वभूमि में वेदान्त के ब्रह्मज्ञान का प्रचार करने के लिए युक्तिपन्थी विवेकानन्द को किस असीम धीरता के साथ कठिन परिश्रम करना पड़ा था, यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है।

इस सब अलौकिक रहस्य के पीछे दौड़नेवाले भ्रमित नरनारियों के बीच में से प्रकृत सत्य की खोज करनेवाले जिज्ञासुओं तथा साधनेच्छुकों को बडे परिश्रम से चुन चुनकर तथा उन्हें वहाँ से निकालकर फिर कहीं विवेकानन्द शिक्षादान के कार्य में अग्रसर हो सके थे।

उन सब समितियों के अधिकारीगण विवेकानन्द को उनके साथ सम्मिलित हो जाने के लिए पहले प्रलोभन व अनुरोध, पर अन्त में अनेक प्रकार से भय प्रदर्शन करने लगे। स्वामीजी के मत, कार्य या चिन्ता में 'गुप्त' कुछ भी न था। उन्होंने निर्भीक होकर प्रकट रूप से घोषित किया, "मैं सत्य का आग्रही व सत्य का उपासक हूँ,—सत्य कभी किसी भी स्थिति में मिथ्या के साथ सन्धि नही करेगा। यदि समग्र जगत् भी आज एकमत होकर मेरे विरुद्ध खड़ा हो तो भी सत्य ही अधिकतर बलवान रहेगा।"

इसके बाद ईसाई मिशनरीगण! ये लोग विवेकानन्द द्वारा प्रचारित धर्ममत का युक्ति व तर्क द्वारा खण्डन करने में असमर्थ होकर पग पग पर उनके व्यक्तिगत चरित्र की आलोचना करने लगे। जो कोई उनका मित्र बना, उसे ही शत्रु बनाने की चेष्टा की। ऐसा भी हुआ कि किसी परिवार में धर्म का उपदेश देने के लिए स्वामीजी बुलाये गये हैं। इन लोगों को इस बात का पता लगते ही ये उस परिवार के व्यक्तियों को अनेक प्रकार से समझाने लगे कि 'उसकी बात व कार्य में कोई मेल नहीं है, उसका चरित्र इस प्रकार है' इत्यादि इत्यादि। ऐसी बातें सुनकर उनमें से कोई कोई पत्र लिखकर आमन्त्रण वापस ले लेते थे। कहीं कहीं पर ऐसा भी हुआ है कि स्वामीजी को किसी ने निमन्त्रण दिया। स्वामीजी जब उसके यहाँ गये तो देखते हैं कि

घरवाले दरवाजा बन्द करके कहीं चले गये हैं ! फिर ऐसी भी घटनाएँ होती थीं कि वे ही सब लोग अपनी गलती स्वीकार करते हुए स्वामीजी के पास आकर पश्चात्ताप प्रकट करते थे। स्वामीजी के अमेरिकन शिष्य व शिष्याओं में इस प्रकार के लोगों की संख्या नगण्य नही है। कुछ भी हो, इन मिशनरी प्रभुओं ने प्रकारान्तर से स्वामीजी के प्रचारकार्य में सुविधा ही कर दी थी।

परन्तु न्यूयार्क में धर्मप्रचारकार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व स्वामीजी को एक और प्रबलतम प्रतिद्वन्द्वी दल का सामना करना पड़ा था। वह था अमेरिका का विख्यात स्वाधीन-चिन्तावादी दल (Free Thinkers)। इस दल के सदस्य नास्तिक, जड़वादी, सन्देहवादी, युक्तिवादी आदि विभिन्न प्रकार के मतावलम्बी व्यक्ति तो थे ही, परन्तु साथ ही वे धर्म या धर्मसम्बन्धी सभी कार्यों को ठगी व कुसंस्कार मानकर उनकी उपेक्षा करने मे भी एकमत थे। उन्होंने दम्भ के साथ एक दिन विवेकानन्द को अपने समाजगृह में भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया।

स्वामीजी ने उनकी उठायी हुई युक्तियों का खण्डन कर अद्वैतवाद की श्रेष्ठता प्रमाणित की। इस वादविवाद का विस्तृत विवरण देना यहाँ अनावश्यक है। पर उसके बाद से ही अनेक स्वाधीन चिन्तावादियों ने स्वामीजी के उपदेश से अनुप्राणित होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। स्वाधीन चिन्तावादियों के नीरव होने के बाद ही विवेकानन्द का प्रचारकार्य विघ्नरहित होकर तेजी के साथ बढ़ा। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि विवेकानन्द के प्रचारकार्य के इतिहास मे यह एक प्रसिद्ध घटना थी।

पाश्चात्य देश में स्वामीजी के धर्मप्रचारार्थ जाने के कारण के

सम्बन्ध में हमने इसके पूर्व उचित स्थान पर बहुत कुछ कहा है, फिर भी एक और बात यहाँ पर कह देना जरूरी है। एक दल का कहना है कि हिन्दू धर्म कभी भी प्रचारशील धर्म नहीं है और विवेकानन्द का अमेरिका व पाश्चात्य देश में जाना यदि इतिहासकार की दृष्टि से देखा जाय, तो राममोहन व केशवचन्द्र का अनुकरण मात्र था। इनमें से कई तो विवेकानन्द को राममोहन व केशवचन्द्र से अनेक बातों में प्रभावित भी पाते थे।

विवेकानन्द के पाश्चात्य देश में जाने की इतिहासकार की दृष्टि यदि केवल किसी व्यक्तिविशेष का अनुकरण ही न मान बैठती तो उसे प्रतीत होता कि निखिल धर्ममतों की जननी भारतमाता ने जगत् को अपने आध्यात्मिक तत्त्वों का दान अनेक बार दिया है;—उसे प्रतीत होता कि जब कभी कोई शक्तिमान जाति जाग्रत होकर पृथ्वी को एक अखण्ड राजनीतिक सूत्र में बाँधने के लिए सचेष्ट हुई है, उसी समय उस सूत्र को अवलम्बन बनाकर भारतीय भाव समस्त जगत् में फैल गया है। ग्रीक, रोमन, बैबिलोन आदि प्राचीन सभ्यता के निर्माण के लिए भारत ने क्या क्या सामग्रियाँ दी थीं, यह भी सूक्ष्मदृष्टि चिन्ताशील इतिहासकार को अविज्ञात नहीं है। बौद्धधर्म द्वारा जगत् का प्लावन, अशोक द्वारा धर्म-प्रचारकों का प्रेषण—ये भी ऐतिहासिक घटनाएँ है। ठीक इसी कारण से, जिस समय तमोभाव-बहुल रजःशक्ति की सहायता से बलदृप्त पाश्चात्य जातियों ने जातीय स्वार्थ सिद्धि की प्रेरणा से समग्र जगत् में एक संयोगसूत्र की स्थापना की थी—उस समय बहुत काल बाद भारतवर्ष इस नवीन सभ्यता के भण्डार में अपने युग-युगान्तरों से संचित चिन्तन-समूह का दान करने के लिए प्रस्तुत हुआ—और इस चेष्टा

का ही प्रथम फल है—विवेकानन्द का पाश्चात्य देश में गमन। अतः आपातदृष्टि में उसे किसी व्यक्तिविशेष का अनुकरण मानने का भ्रम होने पर भी वह इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र है।

और पाश्चात्य देश में जाने का कार्य यदि अनुकरण ही है, तो प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को यह स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि विवेकानन्द किसी भी दृष्टि से राममोहन या केशवचन्द्र की प्रतिध्वनि नहीं हैं। बल्कि विवेकानन्द केशवचन्द्र के प्रतिवाद—तीव्र प्रतिवाद हैं। केशवचन्द्र का अन्तिम परिवर्तित मत 'नव विधान' के रूप में प्रचारित हुआ था। उनके 'नव विधान' की सार्वभौमिकता एक उदार, कल्पनाप्रसूत वस्तुतन्त्रहीन आदर्श है जो प्रत्येक विशेष सभ्यता के वैशिष्ट्य को उस सभ्यता के अग से विच्छिन्न कर, अनेक सभ्यताओं की अनेक विशेषताओं का एक अभूतपूर्व अद्भुत, असम्भव, अनैतिहासिक व समाजविज्ञानविरोधी महामिलन है। इसी कारण हम कह सकते हैं कि सन्यासी विवेकानन्द केशवचन्द्र के प्रतिवाद हैं। केशवचन्द्र ईसाई धर्म की ओर जो अत्यधिक झुक गये थे, विवेकानन्द घात-प्रतिघात की प्रतिक्रिया के परिणाम में अद्वैत वेदान्त के शिखर पर खड़े होकर उसका प्रतिषेध करने के लिए बाध्य हुए थे। ईसाईपन का जो मोह केशव तथा केशवपन्थियों पर भूत की तरह सवार था, बंगाल के अंग्रेजी शिक्षित तरुण नर-नारियों को लेकर वे जिस ईसाईपन का ढाँचा गढ़ना चाहते थे और जैसी कहावत है, वे शिवमूर्ति बनाते बनाते दैव-दुर्विपाक से एक अजीब जानवर बना बैठे—विवेकानन्द ने उसी का प्रतिवाद किया था। उन्होंने ईसाईपन के मोह तथा पाश्चात्य भोगवादी सभ्यता के मोह से जाति को सचेत कर देने की आवश्यकता का अनुभव किया था। इस

पाश्चात्य भोगवाद के विरुद्ध प्रतिवाद करने में ही उन्हें त्याग के कठिन मार्ग पर आचार्य शंकर के बाद निखिल विश्व में संन्यास का झण्डा फहराना पड़ा था, परन्तु पाश्चात्य देशों के जो शिव व शक्ति हैं, उन दोनों का ही उन्होंने खुले हाथ स्वागत कर लिया था। अपने आदर्श पर दृढ़ पद से स्थिर रहते हुए उन्होंने विश्व को व विश्वजनीन को हृदय में, बाहु में व मस्तिष्क में धारण कर लिया था।

राममोहन का कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत था। उनके विलायत जाने के करीब चालीस वर्ष पश्चात् केशवचन्द्र विलायत गये थे और केशवचन्द्र के विलायत जाने के करीब २२ वर्ष बाद पाश्चात्य देशों में विवेकानन्द का वेदान्त-प्रचार प्रारम्भ हुआ। १८३०, १८७१, १८९३ ई०—इन सब विभिन्न स्मरणीय वर्षों के बीच में से यदि केवल इतिहासकार की दृष्टि से भी देखा जाय तो ज्ञात होगा कि बंगाल में १८३० ई० से १८९३ ई० के बीच आधुनिक धर्मचिन्तन के इतिहास में क्या परिवर्तन तथा क्या प्रतिक्रिया हुई है। इनमें से एक पर दूसरे का प्रभाव रहना अनिवार्य है, परन्तु इनमें जो स्वातन्त्र्य है, वैशिष्ट्य है, उसे भला अन्धे के अतिरिक्त कौन अस्वीकृत करेगा ? परन्तु खेद की बात है, सभी समाजों में अन्ध व्यक्ति हैं और रहते है।

न्यूयार्क के प्रश्नोत्तर क्लास में स्वामीजी धारा-प्रवाह रूप से ज्ञानयोग व राजयोग पर भाषण देने लगे। कमरा बहुत बड़ा न था, उत्सुक छात्र व छात्राओं के लिए स्थान का अभाव था। परन्तु फिर भी वे कष्ट सहते हुए भारतीय प्रथा के अनुसार पैर समेटकर अपने प्रिय आचार्य को घेरकर बैठते थे। राजयोग के विषय पर उनके भाषणों को सुनकर कई लोगों का आग्रह इतना

बढ़ गया कि उन्होंने स्वामीजी से योग की शिक्षा ग्रहण करना प्रारम्भ किया और इस विषय में सफल होने के लिए योगशास्त्र के निर्देशानुसार ब्रह्मचर्य, सात्त्विक आहार इत्यादि नियमों का भी श्रद्धा के साथ पालन करने लगे। इस समय स्वामीजी ने भी योगी की तरह शारीरिक कठोरता का अवलम्बन किया, क्योंकि वे सदैव ही शिष्यों के सामने एक जीते जागते आदर्श के रूप में विराजमान रहते थे। इस प्रकार उनका न्यूयार्क का छोटासा निवासगृह संन्यासी व संयमशील व्यक्तियों की नवीन आध्यात्मिक अनुभूति-प्राप्ति की लगातार चेष्टा से मानो एक छोटा मठ ही बन गया।

स्वामीजी द्वारा राजयोग पर दिये गये भाषणों की ख्याति इतनी व्यापक बन गयी कि जिस दिन राजयोग के सम्बन्ध में भाषण होने का कार्यक्रम रहता था, उस दिन नगर के दार्शनिक, वैज्ञानिक व अध्यापकों के आगमन से उनका छोटासा कमरा भर जाता था और वे लोग बड़ी लगन के साथ उनकी योगशास्त्र की युक्तिपूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या सुनते थे। इस प्रकार जून मास के भीतर उनके भाषणों का संग्रहस्वरूप 'राजयोग' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। स्वामीजी ने उनके परिशिष्ट में पातंजल-दर्शन का एक विस्तृत व युक्तिपूर्ण भाष्य भी जोड़ दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तक ने उच्चतम मनस्तत्त्व के सूक्ष्म व युक्तिपूर्ण विश्लेषण की दृष्टि से मनीषी पाठकों के समाज में चिरकाल के लिए प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। इस पुस्तक का अध्ययन कर अमेरिका के विश्वविख्यात मनस्तत्त्वविद् प्रोफेसर जेम्स महोदय इतने मुग्ध हुए थे कि वे स्वयं स्वामीजी के निवासस्थान पर जाकर उनसे परिचित हुए और अन्त में उनके एक अकपट मित्र

वन गये। इस पुस्तक के प्रकाशित होने के कुछ ही सप्ताह के बीच में उसके तीन संस्करणों की आवश्यकता हुई थी। इसी से समझा जाता है कि अमेरिकानिवासी विद्वानों ने स्वामीजी की अलौकिक प्रतिभा से उत्पन्न इस प्रथम पुस्तक की सादर अभ्यर्थना करने में कोई कोर-कसर नहीं रखी थी।

इसी वीच स्वामीजी ने अनेक प्रतिष्ठित शिष्य तथा प्रचार-कार्य के लिए सभी तरह के सहायक मित्र प्राप्त कर लिये थे। उनमें से मैडम मेरी लुई (स्वामी अभयानन्द), डा० लैण्ड्स्बर्ग (स्वामी कृपानन्द), श्रीमती ओली वुल, डा० गलेन डी, कुमारी वाल्डो प्रोफेसर वर्मन ओ राइट, डा० स्ट्रीट तथा अनेक ईसाई मिशनरी व साधारण शिक्षित एवं मान्य व्यक्ति स्वामीजी की शिक्षा में विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। कुछ दिनों के वाद विख्यात गायिका मैडम कैल्वे ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। न्यूयार्क के धनी समाज के श्रीमान व श्रीमती फ्रान्सिस लीगेट और कुमारी जे. मैकलिऑड भी स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर विविध प्रकार से उनके प्रचार कार्य में सहायता करने लगे। 'डिक्सन सोसाइटी' के सदस्यों ने स्वामीजी का भाषण सुनकर गम्भीर श्रद्धा के साथ हिन्दू आदर्श पर जीवन को गठित करने के लिए उत्साह के साथ कार्यारम्भ कर दिया।

१८९५ ई० में स्वामीजी को जैसा कठोर परिश्रम करना पड़ता था, उसका अनुमान करने से ही वड़ा विस्मय होता है। अपरिचित विदेश में विलकुल नये प्रकार के सामाजिक रीतिनीति व आचार-व्यवहार के वीच तथा अनेक प्रकार की प्रतिकूल स्थिति के विरुद्ध त्यागपूत हिन्दू धर्म का प्रचार करना कितना कठिन है, यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है। अमेरिका के घोर

विलास के बीच उनकी अन्तरात्मा समय समय पर विद्रोही बन बैठती थी। उनकी अथक कर्म-शक्ति, प्रबल उत्साह, समय समय पर मानो रुक-से जाते थे। उस समय कभी कभी आजन्म त्यागी संन्यासी गहरे क्षोभ के साथ अपने जीवन के विगत दिनों की याद करते हुए कह उठते थे--

"I long--oh long for my rags, my shaven head, my sleep under the trees and my food from begging."

--अर्थात् "अरे! मैं अपने चिथड़े, मुण्डित मस्तक, वृक्षों तले निद्रा और भिक्षान्न के भोजन के लिए लालायित हूँ।"

लगातार उच्चतम दार्शनिक तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए भाषण देने तथा शिक्षादान के कार्य से थककर स्वामीजी ने कुछ दिन एकान्त मे विश्राम-लाभ की आवश्यकता का अनुभव किया। सेन्ट लौरेन्स नदी के बीच 'सहस्रद्वीपोद्यान' (Thousand Island Park) नामक द्वीप मे उनकी एक शिष्या की बड़ी सुन्दर कुटिया थी। उन्होंने विशेष आग्रह के साथ स्वामीजी से प्रार्थना की कि वे कृपया उसका उपयोग कर उसे पवित्र करे। स्वामीजी ने इस प्रस्ताव से सहमत होकर अपने कुछ अन्तरंग शिष्य व शिष्याओं के साथ इस स्थान की ओर यात्रा की। इस स्थान में सौभाग्य से जिन्हें स्वामीजी के पवित्र संग में निवास करने का अधिकार प्राप्त हुआ था, उनमें से अन्यतम कु. एस. ई. वाल्डो ने लिखा है—

"इस गन्धर्वराज्य में हमने आचार्यदेव के साथ सात सप्ताह दिव्य आनन्द से उनके अतीन्द्रिय राज्य के सन्देशों से युक्त अपूर्व वचनों को सुनने में व्यतीत किये थे--उस समय हम भी जगत् को भूल गये थे और जगत् भी हमें भूल गया था। उस समय प्रतिदिन सायंकाल का भोजन समाप्त कर हम सभी ऊपर के

वरामदे में जाकर आचार्यदेव के आने की प्रतीक्षा करते थे। वहुत देर तक प्रतीक्षा न करनी पड़ती थी, क्योंकि हमारे समवेत होने के साथ ही उनके कमरे का दरवाजा खुल जाता था और वे धीरे धीरे वाहर आकर अपने नियत आसन पर वैठ जाते थे। वे प्रति दिन हमारे साथ दो घण्टे और कभी कभी इससे भी अधिक समय विताया करते थे। एक अपूर्व सुन्दर रात्रि में (उस दिन निशानाथ प्रायः पूर्ण थे) वात करते करते चन्द्रास्त हो गया। जिस प्रकार हम समय वीत जाने के वारे में कुछ न जान सके, स्वामीजी भी उसी प्रकार न जान सके थे। उन सव भाषणों को लिख लेना सम्भव नहीं हुआ—पर हाँ, वे केवल श्रोताओं के हृदय में ही ग्रथित होकर रह गये हैं। इन सव दिव्य अवसरों में हम जिस गम्भीर धर्म की अनुभूतियाँ प्राप्त करते थे, उन्हें हममें से कोई भूल न सकेगा। उन अवसरों पर स्वामीजी अपने हृदय का द्वार खोल दिया करते थे। धर्म प्राप्त करने के लिए उन्हे जिन विघ्नवाधाओं को लाँघना पड़ा था, वे मानो फिर से हमारे नेत्रों के सामने प्रकट होते थे, मानो उनके गुरुदेव ही सूक्ष्म शरीर में उनके मुख के अवलम्वन से हमसे वात करते थे, हमारे सभी सन्देह मिटा देते थे, सभी प्रश्नों का उत्तर देते थे और सभी भय दूर कर देते थे। वहुधा मानो स्वामीजी हमारी उपस्थिति ही भूल जाते थे। कहीं हम उनके चिन्तन-प्रवाह में वाधा न डालें इस भय से कभी कभी हम साँस तक रोके रहते थे। वे आसन से उठकर वरामदे की संकीर्ण सीमा के बीच में टहलते हुए घूम घूमकर लगातार वोलते जाते थे। ऐसे अवसरों पर उनकी कोमल प्रकृति जैसी स्पष्ट होती थी तथा जिस प्रकार वे सभी का प्रेम आकर्पित करते थे, वैसा और कभी नही होता था। उनके

गुरुदेव जिस प्रकार अपने शिष्यों को शिक्षा देते थे, सम्भव है, यह बहुत कुछ उसी तरह का था—वे स्वयं ही अपनी आत्मा के साथ भावविभोर होकर बात करते जाते थे और शिष्यगण सुनते जाते थे।

"स्वामी विवेकानन्द जैसे व्यक्ति के साथ निवास करना ही लगातार उच्च अनुभूतियों को प्राप्त करना है। प्रातःकाल से रात्रि तक वही एक भाव—हम एक घनीभूत धर्मभाव के राज्य में निवास करते थे।

"स्वामीजी यद्यपि क्रीड़ाशील व कौतुकप्रिय थे और उल्लास के साथ परिहास करने में व बात का तुरन्त जबाब देने में अभ्यस्त थे तो भी कभी एक मुहूर्त के लिए भी वे अपने जीवन में मूल-मन्त्र से लक्ष्यभ्रष्ट न होते थे। प्रत्येक चीज से ही वे कुछ बोलने का या उदाहरण देने का विषय पा लेते थे और एक क्षण में ही वे हमें आकर्षक हिन्दू पौराणिक कथाओं से एकदम गम्भीर दर्शन के बीच ले जाते थे। स्वामीजी पौराणिक कथाओं का अशेष भण्डार थे और वास्तव में प्राचीन आर्यों से बढ़कर अन्य किसी भी जाति में इतनी अधिक पौराणिक कथाएँ नहीं है। वे हमें उन कहानियों को सुनाकर प्रसन्न होते थे और हम भी सुनना चाहते थे, क्योंकि वे कभी उन कहानियों की आड़ में जो सत्य निहित है, उसे दिखा देना तथा उनमें से मूल्यवान धर्मविषयक उपदेशों का आविष्कार करना न भूलते थे। किसी भाग्यवान छात्रमण्डली ने इस प्रकार प्रतिभाशाली आचार्य को प्राप्त कर अपने को धन्य मानने का ऐसा अवसर पाया था या नहीं इसमें सन्देह है।" *

---

* देववाणी—स्वामी विवेकानन्द, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित।

कु० एम. सी. फ्रान्की ने इस प्रसंग में लिखा है—

"मन ही मन दृढ़ संकल्प था कि किसी समय कहीं भी उनके साथ साक्षात्कार अवश्य ही करूँगी, यदि हमें इसके लिए सारी पृथ्वी लाँघनी पड़े, तो वह भी स्वीकार है। करीब दो वर्ष तक हमें उनका पता नहीं लगा और हमने सोचा कि शायद वे भारत लौट गये हों। परन्तु एक दिन तीसरे प्रहर एक मित्र ने हमें सूचित किया कि वे अभी इस देश में ही है और ग्रीष्म का अवकाश 'सहस्रद्वीपोद्यान' में बिता रहे हैं। उन्हें ढूंढ़ निकालकर उनसे शिक्षा प्राप्त करने के दृढ़ संकल्प को लेकर हमने दूसरे ही दिन प्रातःकाल यात्रा प्रारम्भ की।

"अन्त मे बड़ी खोज के बाद हमारा उनसे साक्षात्कार हुआ। वे जनकोलाहल से दूर आकर निवास कर रहे थे, ऐसी स्थिति में उनकी शान्ति को भंग करने का हमने दुःसाहस किया है, यह सोचकर हम बड़ी ही भयभीत हुई परन्तु उन्होंने हमारे प्राणों में एक ऐसी आग जला दी थी, जो बुझनेवाली न थी। इस अद्भुत व्यक्ति व उनके उपदेश के सम्बन्ध में हमें और भी जानना होगा। उस दिन अन्धकारमय रात्रि थी। मूसलाधार वर्षा हो रही थी परन्तु फिर भी हम उस लम्बे पथ पर चले ही जा रहे थे, उनका साक्षात्कार हुए बिना हमारे मन में शान्ति कहाँ!"

"क्या वे हमें शिष्य के रूप में ग्रहण कर लेगे? और कहीं यदि न करें तो फिर हम क्या करेंगे? हमें एकाएक यह ध्यान आया कि एक व्यक्ति, जो हमारे अस्तित्व तक को नही जानता है, उसे देखने के लिए हमारा कई सौ कोस चलकर आना सम्भवतः मूर्खता का कार्य हुआ है। * * * बाद में इस घटना के प्रसंग में आचार्यदेव हमारे बारे में कहा करते थे, 'मेरे दो शिष्य

सैकड़ों कोस लाँघकर मुझसे मिलने आये थे और इतना ही नहीं, रात की आँधी व वर्षा सिर पर उठाकर!' मैंने अपने मन में पहले से ही यह सोच रखा था कि मिलने पर उनसे क्या कहूँगी, परन्तु जब वास्तव मे उनका साक्षात्कार हुआ, तो उस समय हम अपने सप्रयत्न तैयार किये हुए उस भाषण को भूल गये और हममे से एक व्यक्ति किसी तरह बोल उठा, 'हम डिट्राइट से आ रहे है और श्रीमती ** ने हमे आपके पास भेजा है।' एक अन्य व्यक्ति ने कहा, 'यदि इस समय भगवान इस पृथ्वी पर मौजूद होते, तो हम उनके पास जिस रूप मे जाते व उपदेश की भिक्षा माँगते उसी रूप मे आपके पास आये है।' वे हमारी ओर अत्यन्त स्नेहभरी आँखों से देखते हुए मृदु स्वर से बोले, 'केवल यदि भगवान ईसा की तरह मुझमें तुम्हें इसी क्षण मुक्त कर देने की शक्ति होती!....' हम वहाँ पर बारह व्यक्ति थे और ऐसा लगता था, मानो उस ज्वालामयी शक्ति (Pentecostal Fire) ने उतरकर प्राचीनकाल के ईसा के शिष्यों की तरह आचार्यदेव को भी स्पर्श किया है। एक दिन तीसरे प्रहर त्याग की महिमा के प्रसंग में गैरिक वस्त्रधारी यतियों के आनन्द व स्वाधीनता का वर्णन करते हुए एकाएक वे उठ गये और थोड़े ही समय के बाद त्याग व वैराग्य की चरम सीमारूपी 'संन्यासी का गीत' (Song of the Sannyasin) शीर्षक कविता को उन्होंने लिख डाला। मै समझती हूँ उनकी असीम धीरता व कोमलता ने ही मुझे उस समय सबसे अधिक मुग्ध किया था। पिता अपनी सन्तान को जिस दृष्टि से देखते है, वे भी हमें उसी दृष्टि से देखते थे--यद्यपि हममें से अनेक व्यक्ति उनसे उम्र में काफी बड़े थे। प्रातःकाल की क्लास के वार्तालाप को सुनकर समय समय पर

हमें ऐसा लगता था, मानो उन्होंने हथेली पर रखे हुए आँवले की तरह ब्रह्म को प्रत्यक्ष कर लिया है। ऐसे समय वे बहुधा उस कमरे से बाहर निकल जाते थे और थोड़ी ही देर बाद लौटकर कहते थे,—'मैं अब आप लोगों के लिए रसोई बनाने जा रहा हूँ।' फिर कितनी धीरता के साथ वे चूल्हे के पास खड़े होकर हमारे लिए कुछ न कुछ भारतीय भोजन तैयार करते थे। डिट्राइट में अन्तिम बार भी उन्होंने हमारे लिए बड़ा ही स्वादिष्ट व्यंजन तैयार किया था। प्रतिभाशाली पण्डिताग्रगण्य विश्व-विख्यात विवेकानन्द शिष्यों के छोटे छोटे अभावों की पूर्ति अपने हाथों से कर दिया करते थे—शिष्यों के लिए क्या ही अपूर्व उदाहरण है! वैसे समय पर वे कितने कोमल, कैसे करुणस्वभाव बन जाते थे! और आज वह कोमलतामय पुण्यस्मृति ही तो वे हमें उत्तराधिकार के रूप मे दे गये हैं!" *

* * * *

बहुत दिनों के बाद स्वामीजी नगरी के कोलाहल, प्रतिद्वन्द्वियों के संघर्ष, व्याख्यान आदि के पंजे से छुटकारा पाकर निश्चिन्त होकर विश्राम कर सके। 'सहस्रद्वीपोद्यान' में आने से पूर्व उन्हें 'ग्रीनएकर कान्फरन्स' में भाषण देने के लिए बुलाया गया था, परन्तु उसे अस्वीकृत करने के लिए वे बाध्य हुए। विद्वान दार्श-निकों के सम्मुख भाषण देने की अपेक्षा भावी वेदान्तप्रचार-कार्य के सहयोगी के रूप में कुछ शिष्य गठित करना ही उन्होंने अधिक आवश्यक समझा। लगातार सात सप्ताह तक उन्होंने जो अमूल्य उपदेश दिये थे, उनका कुछ अंश किसी एक शिष्या ने लिपिबद्ध कर लिया था। बाद में वह 'Inspired Talks' नाम से पुस्तका-

---

* देववाणी (Inspired Talks)

कार में प्रकाशित हुआ। 'देववाणी' पुस्तक उसी का अनुवाद है। अस्तु, इसी स्थान में स्वामीजी ने पाँच व्यक्तियों को ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी और दो को संन्यास प्रदान किया। अन्त में फिर से नवीन उत्साह के साथ न्यूयार्क लौटकर वे वेदान्तप्रचार के कार्य में संलग्न हुए।

न्यूयार्क लौटकर ही आचार्यदेव इंग्लैण्ड जाने के लिए तैयार हुए। मई मास में स्वामीजी वेदान्त की अनुरागिणी कुमारी हेनरीएटा मुलर द्वारा इंग्लैण्ड बुलाये गये थे। अन्त में श्री. इ. टी. स्टर्डी महोदय स्वामीजी को लन्दन आने के लिए बार बार पत्र लिखने लगे। इसी बीच स्वामीजी के एक मित्र ने, जो न्यूयार्क के एक धनकुबेर थे, जब स्वयं स्वामीजी को साथ लेकर फ्रान्स व इंग्लैण्ड जाने का प्रस्ताव उपस्थित किया, तो स्वामीजी ने सहर्ष अपनी सम्मति दे दी। लगातार दो वर्ष के अविश्रान्त शारीरिक व मानसिक परिश्रम के बाद समुद्रयात्रा से उनके स्वास्थ्य की उन्नति होगी, इस आशा से गुरुगतप्राण शिष्यों ने भी कोई आपत्ति न की। अन्त में प्रचारकार्य का भार स्वामी अभयानन्द, कृपानन्द तथा भगिनी हरिदासी पर छोड़ स्वामीजी अगस्त मास के मध्य में न्यूयार्क से चलकर फ्रान्स के पैरिस नगर में पधारे। आधुनिक युरोपीय सभ्यता की जन्मभूमि पैरिस नगर के ऐतिहासिक द्रष्टव्य स्थानों का दर्शन कर स्वामीजी इंग्लैण्ड की ओर रवाना हुए।

अमेरिका छोड़ने के पूर्व स्वामीजी को यह समाचार मिला कि भारतीय मिशनरियों द्वारा संचालित किसी समाचारपत्र में उनकी निन्दा का प्रचार किया जा रहा है, उनके आहार आदि के सम्बन्ध में कुछ बातें सुनकर कई हिन्दू व्यक्ति भी उनके विरोधी

बन गये हैं और उनके आचार-व्यवहार आदि का निन्दनीय विवरण देकर छोटी छोटी पुस्तकें तथा हैण्डबिल आदि बाँटने लगे है। प्राचीनपन्थी हिन्दू सम्प्रदाय का मुखपत्र 'बंगवासी' इसी समय विवेकानन्द के निन्दाप्रचार को व्रत के रूप में धारण कर कार्य-क्षेत्र में उतर पड़ा। ईसाई मिशनरियों का क्रोधित होना अवश्य स्वाभाविक था, क्योंकि स्वामीजी ईसाइयों को हिन्दू भी बना रहे थे;—विशेषत: उनके स्वार्थ की दृष्टि से स्वामीजी यथेष्ट क्षति कर रहे थे। मिशनरी युरोप व अमेरिका जाकर नरमांस-भोजी, असभ्य, जंगली, बर्बर 'हिदनों' के पैशाचिक आचार-व्यवहारों का वर्णन कर उन्हें 'अन्धकार से आलोक में लाने के लिए' धनी व महान् व्यक्तियों से खूब पैसा पैदा करते हैं! परन्तु विवेकानन्द के व्याख्यानों से अनेक लोगों के मन में मिशनरियों द्वारा कथित कहानियों में अविश्वास उत्पन्न हो गया था। कहीं वे आगे हिदनों को प्रभु ईसा के स्वर्गराज्य में लाने के लिए आर्थिक सहायता न करें, इस भय से मिशनरीगण का चंचल हो उठना और विवेकानन्द की निन्दा का प्रचार करना स्वाभाविक ही था। यद्यपि वराहनगर के मठ में रहनेवाले उनके गुरुभाइयों ने इन सब कहानियों पर विश्वास नही किया, तथापि उनके मद्रासी तथा अन्य भारतीय शिष्यगण लगातार गुरुनिन्दा सुनकर विचलित हो उठे। दो वर्ष तक कापुरुष निन्दकों द्वारा नीचता-पूर्वक आक्रान्त होकर भी स्वामीजी ने प्रकट रूप में कोई प्रत्युत्तर नही दिया। पर अब शिष्यों के मनोभाव को जानकर पैरिस से इंग्लैण्ड यात्रा के पूर्व उन्होंने उनके पास एक पत्र लिखने की आवश्यकता समझी, क्योकि कोई कोई मिशनरी उन्हें राजनीतिक व्याख्याता मात्र कहकर प्रचार कर रहे थे।

त्याग व वैराग्य की महिमा का वर्णन करते हुए स्वामीजी कभी कभी भाव के आवेग में आकर पाश्चात्य सभ्यता की विलास-तृष्णा, परधनलोलुपता तथा स्वार्थपर आन्तर-राष्ट्रीय कानूनों पर तीव्र भाव से आक्रमण किया करते थे; इन्ही सब व्याख्यानों के अंशविशेष का उद्धरण देकर मिशनरी लोग उन्हें केवल राज-नीतिक वक्ता प्रमाणित करने की चेष्टा करने लगे। कलकत्ते की एक जनसभा मे रे० कालीमोहन बैनर्जी ने उन्हें राजनीतिक वक्ता कहा, जिसका प्रतिवाद करने के लिए स्वामीजी ने अपने शिष्यों को आदेश दिया और उक्त महोदय को समाचारपत्र में अपना मत समर्थन करने के लिए आह्वान देने को कहा। कई कारणों से स्वामीजी ने शिष्यवृन्द को सान्त्वना देने के लिए लिखा---

"मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुम लोग मिशनरियों द्वारा प्रचारित बेवकूफियों को सुनकर विचलित हुए हो। यदि कोई हिन्दू मुझे कट्टर हिन्दू की तरह खाद्यप्रणाली अवलम्बन करने के लिए अयाचित परामर्श देते हों, तो उन्हे कहो कि वे एक ब्राह्मण रसोइया और उसके साथ कुछ धन भेज दें! एक पैसे की सहायता करने की शक्ति नही---परन्तु विज्ञ व्यक्ति की तरह उपदेश देने की खूब योग्यता है, यह देखकर मै हँसी रोक नहीं सकता। दूसरी ओर, यदि मिशनरीगण ऐसा कहते हैं कि मैने 'काम-काचन' के त्यागरूपी संन्यास जीवन के महान् व्रत का भंग किया है, तो उनसे कह दो कि वे घोर मिथ्यावादी है। *** स्मरण रखो, मैं किसी के निर्देश पर चलने को तैयार नही हूँ। अपने जीवन का उद्देश्य मै भलीभाँति जानता हूँ। किसी प्रकार का हल्ला-गुल्ला तथा निन्दा आदि की मैं परवाह नही करता। क्या मैं किसी व्यक्तिविशेष या जातिविशेष का क्रीतदास हूँ?

• • • क्या तुम कहना चाहते हो कि मैंने कुसंस्काराच्छन्न, निष्ठुरप्रकृति, दुर्बलचित्त, नास्तिकभावापन्न तथाकथित शिक्षित व्यक्तियों के बीच निवास करने के लिए जन्म ग्रहण किया है ? मैं सभी प्रकार की कापुरुषता से घृणा करता हूँ। उन सब कापुरुषों व राजनीतिक मूर्खता के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर और सत्य ही मेरी एक मात्र राजनीति है।—शेष जो कुछ है, केवल कूड़ाकर्कट है।"

युगप्रयोजन से अवतीर्ण महापुरुषगण सत्य व लोकाचार के साथ मेल रखकर शान्त, सभ्य व सदाचारी सजकर समाज में चलने फिरने के लिए पैदा नहीं होते। उन्हें साधारण लोगों के साथ समान स्तर पर घसीटकर उतार लाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के लिए जो महाशक्ति विवेकानन्द में घनीभूत हुई थी, पृथ्वी को प्लावित कर देनेवाले उसके प्रवाह को रोकने के लिए कुछ मेरुदण्डविहीन ब्राह्म प्रचारकों के, जो प्रतिद्वन्द्वी के रूप में रास्ता रोकने के लिए अग्रसर हुए थे, नगण्य प्रयास का उल्लेख न करना ही अच्छा है !

भारतवर्ष इंग्लैण्ड के अधीन है। प्रभुत्व के अहंकार में फूले हुए साम्राज्यगर्वी अंग्रेज अर्धबर्बर पराधीन जाति के एक धर्मप्रचारक, संन्यासी को किस भाव से ग्रहण करेंगे, यही सोचते सोचते स्वामीजी दुविधासहित लन्दन पहुँचे। स्वदेशाभिमानी विवेकानन्द के चित्त में अंग्रेज जाति के प्रति प्रतिकूल धारणा रहना स्वाभाविक है। भारत में अंग्रेज शासक व वणिकगण भारतवासियों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया करते हैं, उससे इस प्रकार की धारणा उत्पन्न होना स्वाभाविक है, परन्तु थोड़े ही दिन में वह धारणा दूर हुई। इंग्लैण्ड के शिक्षित व उच्चवंशी

मध्यश्रेणी व साधारण श्रेणी के अंग्रेजों के साथ घनिष्ठ भाव से परिचित होकर उन्होंने अंग्रेज-चरित्र के महत्त्व का आविष्कार किया। "अंग्रेज जाति के प्रति मुझसे अधिक घृणा के भाव लेकर और किसी व्यक्ति ने ब्रिटिश भूमि पर पदार्पण नही किया है, * * * पर आज यहाँ पर ऐसा कोई व्यक्ति नही है, जो अंग्रेज जाति को मुझसे अधिक चाहता हो।" अंग्रेज-चरित्र की क्षत्रियोचित शूरता तथा आत्मसंयम, उसका निर्भीक उद्यम, अध्यवसाय, लघुभावावेगहीन गाम्भीर्य की स्वामीजी ने बहुत ही प्रशंसा की है। व्यक्ति-स्वाधीनता को अक्षुण्ण रखते हुए भी इंग्लैण्ड की नियमानुर्वतिता, तीव्र आत्मसम्मान-ज्ञान के साथ ही विनीत आनुगत्य को देख वे मुग्ध हुए थे। अंग्रेज सहज में किसी भाव में विगलित नही हो पड़ते, परन्तु जिसे वे एक बार सत्य जान लेते हैं, उस पर फिर प्राणपण से डटे भी रहते है। इंग्लैण्ड ने स्वामीजी को अमेरिका से भी अधिक आकृष्ट किया।

"Cyclonic Hindoo" ने (आचार्यदेव जहाँ भी जाते थे, वहीं जनसाधारण के बीच तुमुल आन्दोलन उपस्थित हो जाता था, इसलिए पाश्चात्यनिवासियों ने उन्हें 'आँधी पैदा करनेवाला हिन्दू' नाम दिया था) लन्दन को भी हिला दिया। प्रतिदिन प्रातःकाल प्रश्नोत्तर तथा तीसरे प्रहर भाषणों द्वारा स्वामीजी का प्रचार-कार्य चलने लगा। न्यूयार्क की तरह लन्दन में भी स्वामीजी को घेरकर जनता की भीड़ उमड़ने लगी। स्वामीजी उत्साह के साथ ब्रिटिश साम्राज्य की केन्द्रभूमि में भारत के सन्देश का प्रचार करने लगे। उनका विश्वास था, "अनेक दोष-त्रुटियों के होने पर भी ब्रिटिश साम्राज्य की तरह भावप्रचार का यन्त्र इससे पूर्व और कोई नही हुआ। इस यन्त्र के केन्द्र में मै अपनी भावधारा

को डाल देना चाहता हूँ, तभी वह सारे संसार में फैल जायगी। * * * आध्यात्मिक आदर्श निपीड़ित जातियों (यहूदी व ग्रीक) से ही आया है।"

एक दिन स्वामीजी ने 'पिकैडली प्रिन्सेस हॉल' में हजार से अधिक श्रोताओं के सम्मुख आत्मज्ञान के विषय पर गम्भीर दार्शनिक तत्त्वों से पूर्ण एक भाषण दिया। पाश्चात्यों के बहिर्मुख दर्शन, विज्ञान तथा समाज-जीवन की युक्तिपूर्ण समालोचना की ओर समाचारपत्रों तथा विद्वद्वृन्द की दृष्टि आकृष्ट हुई। उनकी भाषणपटुता तथा पाण्डित्य से मुग्ध होकर अनेक शिक्षित स्त्री तथा पुरुषों के दल के दल उनका उपदेश सुनने के लिए आने लगे। उनका पूर्वोक्त भाषण इतना उच्च कोटि का था कि दूसरे दिन प्रमुख समाचारपत्रों में उसका विस्तारित विवरण व समालोचना प्रकाशित हुई। 'दि स्टैण्डर्ड' पत्रिका ने लिखा—

"राममोहन के बाद एक मात्र केशवचन्द्र को छोड़कर प्रिन्सेस हॉल में इस हिन्दू वक्ता की तरह और कोई भी शक्तिशाली भारतीय व्यक्ति इंग्लैण्ड के व्याख्यान-मंच पर अवतीर्ण नहीं हुआ। * * * व्याख्यान के सिलसिले में उन्होंने हमारे कारखाने, इंजिन, वैज्ञानिक आविष्कार तथा पुस्तकों द्वारा मनुष्य जाति का सचमुच कितना कल्याण हुआ है, इसकी बुद्ध व ईसा मसीह की कुछ वाणियों के साथ तुलना करते हुए अत्यन्त निर्भीक भाव से तीव्र व उपेक्षापूर्ण आलोचना की। व्याख्यान देते समय उन्होंने कागज पर लिखे हुए किसी प्रकार के स्मरण-संकेत की सहायता नही ली, उनका सुन्दर कण्ठस्वर स्पष्ट तथा द्विधाहीन था।"

'दि लण्डन डेली क्रानिकल' ने लिखा,—"लोकप्रिय हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द के अंग-प्रत्यंगों में बुद्धदेव के चिरपरिचित

मुख (The classic face of Buddha) का सादृश्य अत्यन्त स्पष्ट है। वाणिज्य द्वारा प्राप्त हमारी समृद्धि, हमारे रक्तपिपासापूर्ण युद्ध तथा धर्ममत आदि के विषय मे हमारी असहिष्णुता की तीव्र समालोचना कर उन्होंने कहा, 'इस मूल्य में बेचारे हिन्दूगण तुम्हारी खोखली, आडम्बरपूर्ण सभ्यता के अनुरागी न बनेंगे।"

इसके अतिरिक्त 'वेस्ट मिन्स्टर गजट' नामक विख्यात पत्रिका के एक प्रतिनिधि ने स्वामीजी के साथ साक्षात्कार करके इस पत्रिका मे 'लन्दन में भारतीय योगी' शीर्षक स्वामीजी के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों से पूर्ण एक लेख लिखा था। इन प्रतिनिधि के साथ वार्तालाप के सिलसिले में स्वामीजी ने कहा कि उनके गुरु श्रीरामकृष्णदेव से उन्हें जो सन्देश प्राप्त हुआ है, जगत् मे उसका प्रचार करना ही उनका उद्देश्य है—किसी नवीन सम्प्रदाय की स्थापना करना उनका अभिप्राय नही है, किसी विशेष धर्ममत के भी वे प्रचारक नही है। उनका विश्वास है कि वेदान्त के उदार ज्ञान को सभी धर्म-सम्प्रदाय अपनी अपनी धर्मसम्बन्धी स्वतन्त्रता को कायम रखते हुए भी ग्रहण कर सकते है।

उन्होने बार बार कहा है, यदि द्रुत उन्नतिशील तथा आपात-मनोरम पाश्चात्य सभ्यता को वेदान्त के त्याग, विवेक व वैराग्य की नीव पर प्रतिष्ठित न किया जायगा, तो उसका नाश अवश्यम्भावी है। सम्भव है, अपनी गम्भीर दूरदृष्टि के बल से भावी शताब्दि के भयावह ध्वंस का विकराल दृश्य देखते हुए ही आचार्यदेव ने दृढ़ता के साथ कहा था, "सावधान! मै दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ, सारा पाश्चात्य जगत् एक ज्वालामुखी पर स्थित है। वह किसी भी समय पर आग उगलकर पाश्चात्य जगत् का ध्वंस कर सकता है। अभी भी यदि तुम सावधान न हो जाओगे,

तो आगामी पचास वर्षों में तुम्हारा नाश अवश्यम्भावी है।"

लगभग एक महीने के अवसर में ही स्वामीजी ने लन्दन में यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर ली थी। इस समय एक भाषणसभा में कुमारी मार्गारेट इ. नोबल (भगिनी निवेदिता) का स्वामीजी से परिचय हुआ। ये असाधारण विदुषी महिला एक स्कूल की अध्यापिका थीं और आसपास के विद्वत्समाज में उनकी यथेष्ट ख्याति व प्रतिष्ठा थी। कुमारी नोबल ने स्वामीजी के प्रति यथेष्ट श्रद्धा रखते हुए भी सहसा उन्हें आचार्य कहकर सम्बोधित नहीं किया था। प्रतिदिन वे स्वामीजी के भाषण व प्रश्नोत्तर कक्षाओं में नियमित रूप-से आती थी। स्वामीजी के पवित्र निःस्वार्थ चरित्र की मधुरता से मुग्ध होकर अन्त में कुमारी नोबल ने उनका शिष्यत्व ग्रहण करने का संकल्प किया; परन्तु अपने मनोभाव को प्रकट न करती हुई वे चुपचाप इस अद्भुत-कर्मा संन्यासी का विविध प्रकार-से पर्यवेक्षण करने लगी।

स्वामीजी ने अमेरिका की तरह इंग्लैण्ड मे भी प्रचारकार्य में यथेष्ट सफलता प्राप्त की। इंग्लैण्ड छोड़कर अमेरिका जाने से पूर्व उन्होंने अपने एक शिष्य को लिखा था, "इंग्लैण्ड में मेरे प्रचारकार्य को आशातीत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है और यह सुनकर कि अगले सप्ताह में मै फिर अमेरिका जाऊँगा, कई व्यक्ति बड़े दुःखी हुए है। कई लोग तो इस प्रकार की आशंका प्रकट कर रहे हैं कि मेरे चले जाते ही, जो कार्य हुआ है उसका परिणाम अनेकांश मैं नष्ट हो जायगा, परन्तु मैं ऐसा नहीं समझता। मै मनुष्य या किसी चीज पर निर्भर नहीं रहता,—प्रभु ही मेरी एकमात्र शरण है। वे ही मुझे यन्त्र बनाकर कर्म करा रहे हैं।"

१८ जनवरी सन् १८९६ को 'इण्डियन मिरर' नामक पत्रिका ने स्वामीजी के प्रचार-कार्य के सम्बन्ध मे लिखा था,—"हमें यह लिखते हुए बड़ा आनन्द होता है कि स्वामी विवेकानन्द ने लन्दन के अनेक विशिष्ट भद्रपुरुष व महिलाओं की दृष्टि आकर्षित की है। उनकी हिन्दू दर्शन व योगसम्बन्धी कक्षाओं में अनेक उत्साही व श्रद्धायुक्त श्रोतागण उपस्थित होते हैं। लन्दन के किसी संवाददाता ने लिखा है,—'लन्दन नगर की कुछ ऐश्वर्यशालिनी, विलासिनी, उच्च घरानों की महिलाएँ, कुर्सियों के अभाव में फर्श पर पैर मोड़कर बैठ, गुरुभक्त भारतीय शिष्यों की तरह भक्ति के साथ स्वामीजी का उपदेश सुन रही है—ये वास्तव मे ही विरले दृश्य है।' हमने सुना है, कैन्नस, विल्बर फोर्स, हेज् आदि विशिष्ट धर्मप्रचारकों ने भी उन्हे बड़े सम्मान के साथ ग्रहण किया है। प्रथमोक्त महोदय के निवास-स्थान पर स्वामीजी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए एक पारिवारिक सभा बुलायी गयी थी, जिसमें लन्दन के अनेक प्रतिष्ठित भद्रमहोदय व महिलाएँ उपस्थित थी। * * * लन्दन के इन्ही संवाददाता ने और भी सूचित किया है कि 'स्वामीजी ने अंग्रेजीभाषी जनता के हृदय मे भारतवर्ष के प्रति जिस प्रेम व सहानुभूति को जाग्रत किया है, वह अवश्य ही भारतवर्ष की उन्नति की सहायक शक्तियों में शीर्षस्थान प्राप्त करेगी'।"

जब स्वामीजी इंग्लैण्ड में अपने प्रचारकार्य मे व्यस्त थे तभी उनके पास अमेरिका से बार बार शिष्यों तथा भक्तों के, लौटने के लिए अनुरोध-पत्र आने लगे। अमेरिका मे प्रचारकार्य के विस्तार के कारण सभी उनकी शीघ्र उपस्थिति की कामना करने लगे। इधर उनके मित्र तथा शिष्यगण लन्दन में ही रह जाने के

लिए उनसे अनुरोध करने लगे। अतएव ग्रीष्मकाल में फिर लन्दन लौट आने का आश्वासन देकर उन्होंने अमेरिका जाना ही उचित समझा। इसी बीच बोस्टन की एक धनी महिला ने स्वामीजी के प्रचारकार्य का सारा व्यय स्वयं उठाने का वचन देकर उन्हें एक पत्र लिखा, जिसे प्रभु की ही लीला मानकर स्वामीजी अमेरिका जाने के लिए तैयार हुए। इंग्लैण्ड की शिष्य-मण्डली को एक समिति का रूप देकर उन्हें श्रीमद्भगवद्गीता तथा दूसरे हिन्दू शास्त्रों की नियमित चर्चा करने का उपदेश उन्होंने दे दिया।

लगभग तीन महीने के अवसर मे ही स्वामीजी ने लन्दन में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, वह केवल उनकी अपूर्व भाषणशक्ति के बल पर ही न थी, वरन् वह इसीलिए सम्भव हो सकी थी कि उनका असाधारण कर्मजीवन, वाणी व कर्म में सामंजस्य, एवं चरित्रगत निर्मल सम्मोहिनी शक्ति सभी व्यक्तियों को आकृष्ट कर लेती थी। जिस किसी चिन्तनशील व्यक्ति ने थोड़ेसे भी समय के लिए उनके साथ वार्तालाप किया है, उसे चिन्तन करने योग्य कितने ही नवीन तत्त्व, नवीन नीति तथा नवीन आदर्श प्राप्त हुए---इसकी सीमा-संख्या नहीं है। प्रत्येक जिज्ञासु ने श्रद्धामुग्ध हृदय से यही अनुभव किया है कि ईश्वर के दूत के रूप में यह महापुरुष दुर्बल व संकीर्ण चित्तवाले मानव की कल्याण-कामना से उदार धर्म का सन्देश लाये है।

अमेरिका के प्रसिद्ध वक्ता श्री राबर्ट इंगरसोल जैसे स्वातन्त्र्य-परायण व्यक्ति भी स्वामीजी के विश्वस्त मित्र बन गये थे---इसी से अनुमान किया जा सकता है कि उनके व्यक्तिगत चरित्र का कैसा असाधारण प्रभाव था।

दर्शन व साहित्य में प्रवीण होते हुए भी श्री इंगरसोल सन्देह-वादी व भोगवादी थे। धर्म, ईश्वर, उपासना आदि विषयों की वे सदैव ही उपहास के साथ उपेक्षा करते थे—परन्तु वे इतने लोकप्रिय वक्ता थे कि एकमात्र भाषण देकर ही लाखों रुपये कमा लेते थे। उधर दूसरी ओर स्वामी विवेकानन्द कठोर संयमी संन्यासी, प्रत्येक धर्म के समर्थक वेदान्तदर्शन के प्रचारक थे। इन दोनों में मेल-मिलाप वास्तव में आश्चर्यजनक था। एक दिन किसी दार्शनिक तत्त्व की चर्चा करते करते इंगरसोल बोल उठे, "यह जगत् एक सन्तरे की तरह है, जितना हो सके इसे निचोड़ कर इसका रस पीना चाहिए। जब इस बात का कोई प्रमाण नही प्राप्त हो रहा है कि परलोक नाम का कुछ है भी, तो इस जीवन को भी एक झूठी आशा के आधार पर सांसारिक सुख से वंचित रखने मे क्या लाभ है? कौन जाने कब मौत होगी—अतः जहाँ तक सम्भव हो तत्परता के साथ इस जगत् का उपभोग करना चाहिए।"

स्वामीजी ने मृदु हास्य के साथ उसी समय उत्तर दिया "परन्तु जगत्‌रूपी सन्तरे का रस निकालने का उपाय मै तुमसे अधिक अच्छी तरह जानता हूँ और इसलिए तुमसे अधिक रस पाता हूँ। मै जानता हूँ, मेरी मृत्यु नही है। अतः तुम्हारी तरह मेरी जल्दबाजी नही है। मुझे जगत् से किसी प्रकार के भय का कोई कारण नही है, स्त्री-पुत्र, परिवार, सम्पत्ति आदि का कोई बन्धन नही है,—मेरी दृष्टि में जगत् के सभी स्त्रीपुरुष समान रूप से प्रेम के पात्र हैं,—सभी मेरी दृष्टि मे ईश्वरस्वरूप है। सोचो तो, मनुष्य को भगवानरूप देखकर मुझे कितना आनन्द होता है! मै निश्चिन्त होकर रस पान कर रहा हूँ। तुम भी

मेरी प्रणाली के अनुसार इस जगत्‌रूपी सन्तरे को निचोड़ना प्रारम्भ कर दो—तब देखोगे हजार गुना अधिक रस मिलेगा। एक बूंद भी बाकी न रहेगा।" स्वामीजी के इस प्रकार के स्पष्ट, सरल परन्तु स्नेहपूर्ण उत्तरों ने ही इंगरसोल के दृढ़ हृदय पर विजय प्राप्त कर ली थी। मतों की विभिन्नता होते हुए भी उस समय के अमेरिका के दो प्रसिद्ध वक्ताओं की मित्रता का यह दृश्य वास्तव में बड़ा मधुर था!

कभी कभी ऐसा भी हुआ है कि कई लोग स्वामीजी के निर्भीक स्पष्ट उत्तर से आहत होकर सभास्थल छोड़कर चले गये। स्वजाति या स्वदेश की निन्दा वे कभी भी सहन नहीं कर सकते थे। स्वधर्म या स्वजाति का पक्ष समर्थन कर दृप्त सिंह की तरह जब वे ग्रीवा उठाकर खड़े होते थे तो उन्हें देखकर ऐसा लगता था, मानो वे अभिमानशून्य उदासीन संन्यासी नही, बल्कि मध्य-युग के कोई गर्वित जात्यभिमानी अहंकारी राजपूत वीर हैं।

लन्दन में इस प्रकार की घटनाएँ अक्सर होती थीं, क्योंकि अनेक अंग्रेज विद्वान भारतवर्ष के सम्बन्ध में मिशनरियों का अद्भुत विवरण पढ़कर, अज्ञ होकर भी विज्ञ समालोचक का आसन ग्रहण करने में संकुचित न होते थे। एक दिन सभा के बीच में स्वामीजी भारत के गौरव का वर्णन कर रहे थे, इसी समय इस प्रकार के एक समालोचक ने प्रश्न किया, "भारत के हिन्दुओं ने क्या किया है?—वे आज तक किसी जाति पर विजय प्राप्त नहीं कर सके।"

"नही कर सके नहीं—कहिये कि उन्होंने की नही। और यही हिन्दू जाति का गौरव है कि उसने कभी दूसरी जाति के रक्त से पृथ्वी को रंजित नहीं किया। वे दूसरों के देश पर अधिकार क्यों

करेंगे ? तुच्छ धन की लालसा से ? भगवान ने हमेशा से भारत को दाता के महिममय आसन पर प्रतिष्ठित किया है। भारतवासी जगत् के धर्मगुरु रहे है। वे दूसरों के धन को लूटनेवाले रक्तपिपासु दस्यु न थे। और इसीलिए मैं अपने पूर्वजों के गौरव से गर्व का अनुभव करता हूँ।"

फिर किसी दूसरे व्यक्ति ने प्रश्न किया, "आपके पूर्वज यदि मानव-समाज को धर्मदान देने के लिए इतने व्यग्र थे तो वे इस देश में धर्मप्रचार करने के लिए क्यों न आये ?" मृदु हास्य के साथ स्वामीजी ने उत्तर दिया, "उस समय तुम्हारे पूर्वज तो जंगली बर्बर थे, पत्तों के हरे रंग से अपने उलंग देहों को रंजित करके पर्वतों की गुफाओं में निवास करते थे,—क्या वे अरण्य में धर्मप्रचार करने आते ?"

इसी प्रकार कोई कोई ईसा मसीह या ईसाई धर्म के सम्बन्ध में स्वामीजी का मन्तव्य सुनकर मन ही मन बहुत असन्तुष्ट होते थे और इसे उनकी अनधिकार चर्चा मानकर पूछा करते थे, "स्वामीजी, आप जब ईसाई नही है, तो ईसाई धर्म के आदर्श को कैसे समझेंगे ?"

उसी समय जवाब आता था, "वे प्राच्य देशीय तथा सर्वत्यागी संन्यासी थे, मै भी प्राच्य देशीय संन्यासी हूँ। मै समझता हूं, पाश्चात्य जगत् अभी उन्हें पहचान नहीं सका है, उनके प्रचारित धर्म को भलीभाँति समझ नही सका है। क्या उन्होंने यह नहीं कहा था, 'जाओ, तुम अपना सब कुछ बाँट दो और उसके बाद आओ, मेरा अनुसरण करो।' तुम्हारे देश के कितने विलासी लोग, 'धनी व्यक्ति के स्वर्गराज्य में प्रवेश पाने की तुलना में ऊँट का सुई के छेद से निकलना अधिक सरल है'—इस ईसा की

उक्ति को सत्य मानकर सर्वत्यागी हुए है ?" प्रश्न पूछनेवाले लोग नीरव होकर स्वामीजी के कठोर सत्य के मर्म का चिन्तन करते हुए घर लौट जाते थे।

इस प्रकार छोटी-बड़ी सैकड़ों घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है, जिनकी आलोचना करने पर यह स्पष्ट ही समझ में आ जाता है कि केन्द्रीभूत गुरुशक्तिस्वरूप इस महापुरुष ने पाश्चात्य देश में अपने सन्देश का किस निर्भीकता एवं दृढ़ता से प्रचार किया।

स्वामीजी की अनुपस्थिति के समय में अमेरिका में स्वामी कृपानन्द, अभयानन्द तथा भगिनी हरिदासी (कु० वाल्डो) ने उत्साह से प्रचारकार्य को चलाया था। वे लोग जिस नगर में जाते थे, वही सैकड़ों उत्सुक श्रोता श्रद्धा से हिन्दू धर्म की व्याख्या सुनने के लिए आया करते थे। न्यूयार्क के अतिरिक्त स्वामीजी के शिष्यों ने बाफोला व डिट्राइट नगर में दो प्रचार-केन्द्रों की स्थापना की थी। ६ दिसम्बर को स्वामीजी ने न्यूयार्क में पदार्पण कर फिर से प्रचारकार्य प्रारम्भ किया। बोस्टननिवासिनी पूर्वोक्त महिला की सहायता से २९ नं० स्ट्रीट में दो बड़े बड़े कमरे किराये पर लिये गये। आचार्यदेव अपने शिष्य स्वामी कृपानन्द के साथ वहाँ पर निवास करने लगे। दोनों कमरों में १५० से अधिक छात्रों का स्थान होता था। इस स्थान में स्वामीजी ने कर्मयोग के सम्बन्ध मे क्रम से अनेक व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों को एकत्रित करके ही स्वामीजी की 'कर्मयोग' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। 'कर्मयोग' के अंतिरिक्त स्वामीजी ने और भी कई भाषण दिये। 'सार्वभौमिक धर्म का आदर्श' नामक प्रसिद्ध भाषण भी इसी समय दिया गया था।

स्वामीजी के शिष्यगण उनके भाषणो को लिपिबद्ध करने के लिए बहुत दिनों से उत्सुक थे, परन्तु योग्य व्यक्ति के अभाव से इतने दिनो तक उसकी कोई व्यवस्था नही हो सकी थी। इससे पूर्व कुछ संकेत-लेखक अवश्य नियुक्त हुए थे, परन्तु वे अनेक स्थानों मे स्वामीजी का अनुसरण नही कर सकते थे। भगवान की इच्छा से इस समय इंग्लैण्ड से श्री जे: जे. गुडविन नामक एक जानकार सांकेतिक लिपिविद् न्यूयार्क में आये। स्वामीजी के शिष्यों ने उन्हें इस कार्य मे नियुक्त कर आशातीत सुफल प्राप्त किया। श्री गुडविन को प्राय. अपना अधिकांश समय स्वामीजी के साथ ही बिताना पड़ता था और इसके परिणाम में वे थोड़े ही दिनों मे उनके स्वयं के भाव पूर्ण रूप से परिवर्तित हो-गये और उन्होंने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। साधु-हृदय गुड़विन की अथक गुरुसेवा को देखकर सचमुच विस्मित हो जाना पड़ता था। स्वामीजी उन्हे 'विश्वस्त गुडविन' कहकर पुकारते थे। स्वामीजी के जो अमूल्य व्याख्यान हमें पुस्तकों के रूप मे प्राप्त हुए है, उनमे से प्राय: सभी श्री गुडविन की अथक चेष्टा का फल है। केवल 'राजयोग' पुस्तक को ही स्वामीजी ने विशेष रूप से सोच विचार कर अपने एक शिष्य के द्वारा लिखवाया था। यह पुस्तक और कुछ छोटे निबन्ध छोड़कर शेष सभी उनके भाषण है। इन भाषणों के लेखनकार्य को श्री गुडविन जैसे विश्वस्त व दक्ष लेखक ने अपने ऊपर लिया। उसी के फलस्वरूप आज हमे स्वामीजी के अधिकांश भाषण वर्तमान रूप मे प्राप्त हुए है।

बडे दिनों के पर्व (एक्समस) के उपलक्ष्य मे श्रीमती ओली बुल द्वारा आमन्त्रित होकर स्वामीजी बोस्टन गये। केम्ब्रिज की

महिलाओं द्वारा आमन्त्रित होकर स्वामीजी ने 'भारतीय नारी जाति का आदर्श' के सम्बन्ध मे एक सुन्दर तथ्यपूर्ण भाषण दिया। उसे सुनकर वहाँ का विदुषी नारी-समाज ऐसा मुग्ध हुआ कि स्वामीजी के बिना जाने ही उन्होंने उनकी माता को धन्यवाद देकर एक पत्र लिखने का विचार किया। व्हर्जिन मेरी की गोद में स्थित बालक ईसा के एक मनोरम चित्र के साथ पत्र में उन्होंने लिखा---

"जगत् के कल्याण की जननी मेरी के दानस्वरूप ईसा मसीह के आविर्भाव का दिन हम आज उत्सव के आनन्द में बिता रही हैं। साथ ही साथ स्मृति जाग उठती है। अपने बीच में आपके पुत्र को पाकर आज हम आपका श्रद्धा के साथ अभिवादन कर रही हैं। आपके श्रीचरणों के आशीर्वाद से उस दिन 'भारत में मातृत्व के आदर्श' के सम्बन्ध में भाषण देकर उन्होंने हमारे नर-नारी व बच्चों का महान् उपकार किया है। उनकी मातृपूजा श्रोताओं के हृदय में शक्ति-समुन्नति की उच्चाकांक्षा जगा देगी।

"आपकी इस सन्तान में आपके जीवन व कार्य का जो प्रभाव प्रकट हुआ है, उसकी सम्यक् रूप से उपलब्धि करती हुई हम आपकी सेवा में अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट कर रही हैं। भ्रातृत्व व एकता के जो नियन्ता हैं, उस ईश्वर का मंगल आशीर्वाद समग्र पृथ्वी भर फैल जाये---हृदय में इस वास्तव आकांक्षा को लेकर आपका जीता-जागता आदर्श उन्हें कार्यक्षेत्र में सदा अनुप्राणित करे, इस बात के स्मरण के साथ ही हमारी कृतज्ञता के इस साधारण निदर्शन को आप स्वीकार करें।"

बोस्टन से लौटकर स्वामीजी न्यूयार्क के 'हर्डीमैन होम' में प्रति रविवार को निःशुल्क व्याख्यान देने लगे। 'ब्रुकलिन मेटे-

फिजिकल सोसायटी' व 'न्यूयार्क पीपल्स चर्च' में दिये हुए उनके भाषणों को सुनने के लिए प्रतिदिन दल के दल स्त्रीपुरुष आने लगे। व्याख्यान देने के अतिरिक्त भी वे प्रतिदिन दो बार प्रश्नोत्तर-कक्षा में उपस्थित रहकर सभी जिज्ञासुओं की धार्मिक समस्याओं का बडे स्नेह से समाधान कर दिया करते थे तथा राजयोग या किसी विशेष साधन-प्रणाली की शिक्षा भी व्यक्ति-विशेष को यत्नपूर्वक देते थे।

फरवरी मास में उन्होंने 'मैविसन स्क्वेअर गार्डन' नामक विशाल हॉल मे 'भक्तियोग' पर भाषण देना प्रारम्भ किया। वे भाषण इतने सुन्दर व आकर्षक होते थे कि प्रतिदिन लगभग दो हजार श्रोता लगातार दो घण्टे तक कष्ट सहकर भी खड़े खड़े मन्त्रमुग्ध हो उन्हे सुना करते थे। इसी मास में 'हार्डफोर्ड मेटॅफिजिकल सोसायटी' मे आमन्त्रित होकर 'आत्मा व ईश्वर' के विषय पर उन्होंने एक भाषण दिया। 'ब्रुकलिन नैतिक सभा' में भी उन्होंने कई उच्च कोटि के दार्शनिक भाषण दिये। इस सम्बन्ध में हेलेन हण्टिंग्टन नामक ब्रुकलिन के किसी विद्वान व प्रतिष्ठित व्यक्ति ने 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में लिखा था—

"ईश्वर की यह महान् कृपा है कि उसने हमारे बीच में एक ऐसे धर्मगुरु अथवा शिक्षक को भेजा है, जिसका उन्नततर दार्शनिक मतवाद धीरे धीरे परन्तु निश्चित रूप से इस देश के नैतिक जीवन में प्रविष्ट होता जा रहा है। इस असाधारण शक्तिसम्पन्न व पवित्रचरित्र पुरुष ने एक समुन्नत आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रणाली एवं सार्वभौमिक धर्म, अयाचित दया, आत्म-त्याग तथा मानवबुद्धि द्वारा समझने योग्य पवित्र भावों की व्याख्या की है। स्वामी विवेकानन्द ने हमारे बीच में एक ऐसे

धर्म का प्रचार किया है, जो सम्प्रदाय व मतवाद के बन्धनों से सम्पूर्ण रूप से मुक्त है, उन्नति, पवित्रता व स्वर्गीय आनन्द को देनेवाला है; तथा सभी तरह से निष्कलंक है—और जो ईश्वर व मानव के प्रति प्रेम व अनन्त दया पर स्थापित है। * * *

"स्वामी विवेकानन्द ने अपने शिष्य व अनुचरों के अतिरिक्त अनेक मित्र प्राप्त किये है। मित्रता व भ्रातृभाव की समता की सहायता से उन्होंने समाज के सभी स्तरों में भ्रमण किया है। उनके वार्तालाप व भाषण सुनने के लिए हमारे नगर के श्रेष्ठ प्रतिभाशाली एव विद्वान व्यक्तिगण सम्मिलित होते है और इसी बीच मे उनका प्रभाव गम्भीर भाव से फैल गया है तथा एक आध्यात्मिक जागृति का प्रवल स्रोत अप्रत्यक्ष रूप से वह रहा है। कोई भी प्रशंसा या निन्दा उन्हे किसी बात का अनुमोदन या प्रतिवाद करने के लिए उत्तेजित नहीं कर सकी, धन तथा सम्मान भी उन पर प्रभाव न डाल सका और न उन्हें किसी भी विषय में पक्षपाती बना सका। अनुचित अनुग्रह की प्रत्याशा का निश्चित प्रमाण पाने पर वे उस प्रकार के अज्ञान की प्रेरणा से आगे बढनेवाले व्यक्तियों को अपने अप्रतिहत व्यक्तित्व के प्रभाव द्वारा रोककर सदा ही धर्मप्रचारक के योग्य अनासक्ति के भाव को अक्षुण्ण रखते थे। कुकर्मी व असद्-चिन्ताकारी व्यक्तियों को छोड़कर वे अन्य किसी के भी दोषों का प्रदर्शन न करते थे, परन्तु दूसरी ओर पवित्रता तथा उन्नत जीवन व्यतीत करने के नियमों का अवलम्बन करने के लिए उत्साह देते रहते थे। तात्पर्य यह है कि वे एक ऐसे व्यक्ति है, जिनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने मे राजा लोग भी अपने को कृतार्थ समझेगे।"

स्वामीजी की धर्मव्याख्या से आकृष्ट होकर अनेक स्त्री-पुरुष

उनका शिष्यत्व ग्रहण करने लगे। डा० स्ट्रीट नामक एक भक्तिमान शिष्य के संसार छोड़ने का संकल्प करने पर स्वामीजी ने उन्हें संन्यास देकर स्वामी योगानन्द नाम दिया। इस प्रकार एक वर्ष के भीतर तीन उच्चवंशीय विद्वान शिष्यों को संन्यास के व्रत मे दीक्षा देकर स्वामीजी उनकी सहायता से वेदान्त व योग की कक्षाओं को चलाने लगे। धीरे धीरे सैकड़ों स्त्रीपुरुष स्वामीजी के शिष्य बनकर अपने को वैदान्तिक कहकर प्रचारित करने लगे। स्वामीजी की अन्यतम शिष्या अमेरिका की श्रेष्ठ कवयित्री व लेखिका श्रीमती एग्ना व्हीलर विलकाक्स ने २९ मई सन् १९०७ को 'न्यूयार्क अमेरिकन' नामक एक प्रमुख पत्रिका में स्वामीजी की चर्चा करते हुए जो एक सुदीर्घ लेख लिखा था, उसे पढ़कर नि:सन्देह समझा जाता है कि जो भी चिन्ताशील व्यक्ति उनकी व्याख्यानकक्षाओ में आया है, उसी ने मुग्ध होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया––अथवा उन्नततर शान्तिप्रद जीवन गठित करने के लिए प्रचुर उपादान प्राप्त कर लिया। श्रीमती विलकाक्स ने लिखा है––

"आज से बारह वर्ष पूर्व संयोगवश एक दिन शाम को मैंने सुना कि भारतवर्ष से विवेकानन्द नामक कोई दर्शनशास्त्र के अध्यापक न्यूयार्क मे आये है और मेरे मकान से कुछ ही मकानों की दूरी पर एक स्थान में नियमित रूप से भाषण दे रहे है। हम (मै और मेरे पति) कौतुहलवश उनका भाषण सुनने गये और दस मिनट बीतने के पहले ही अनुभव करने लगे कि हम एक सूक्ष्म जीवनदायक रहस्यपूर्ण भावराज्य मे ले जाये जा रहे है। हमने मन्त्रमुग्ध की तरह साँस रोककर अन्त तक पूरा भाषण सुना।

"भाषण का अन्त होने पर हम नवीन साहस, नवीन आशा, नवीन शक्ति व नवीन विश्वास लेकर जीवन के दैनन्दिन विचित्रताओं के बीच आ पड़े। मेरे पति ने कहा, 'यही दर्शनशास्त्र है, यही ईश्वर की धारणा है, मैं अनेक दिनों से जिसका अन्वेषण कर रहा हूँ, यह वही धर्म है।' इसके बाद कुछ महीनों तक वे मुझे साथ लेकर स्वामी विवेकानन्द की प्राचीन धर्मव्याख्या सुनने के लिए और उनके असाधारण मन के सत्य-रत्नों का, शक्ति व सहायतासम्बन्धी चिन्ताओं का संग्रह करने के लिए जाया करते थे। कभी कभी कई रातें विरक्ति व उत्कण्ठा से अनिद्रा में बिताकर वे स्वामीजी का भाषण सुनने को जाते थे और भाषण के बाद बाहर आकर हिममलिन राजपथ पर घूमते हुए हँसकर कहते थे, 'अब मैं स्वस्थ हुआ हूँ। अब विरक्ति का कोई कारण नहीं रहा। मानवात्मा के सम्बन्ध में उदार व विस्तृत धारणा लेकर हम अब कर्तव्यकर्म व आनन्द के बीच में सम्मिलित होंगे।"

दिसम्बर मास के प्रथम भाग में वे फिर न्यूयार्क लौट गये। वहाँ से संयुक्त राज्यों के विभिन्न स्थानों में भ्रमण कर डिट्राइट पहुँचे। डिट्राइट में उनके प्रचारकार्य का वर्णन कर उनकी अन्यतम शिष्या श्रीमती एम. सी. फन्की ने लिखा है—

"१८९६ ई० के प्रथम भाग में वे दो सप्ताह के लिए डिट्राइट में आये थे। साथ थे उनके संकेत-लेखक विश्वस्त गुडविन। उन्होंने 'रिशलु' में कुछ कमरे किराये पर लिये थे। रिशलु एक छोटासा पारिवारिक होटल है—वहाँ पर कई लोग सपरिवार निवास करते थे। वहाँ के बृहत् बैठक-घर का वे क्लास की बैठक व भाषण के लिए व्यवहार कर सकते थे। परन्तु वह इतना बड़ा न था कि उसमें बहुत से लोग आ सकते और खेद की बात यह

है कि अनेक लोगों को निराश होकर लौट जाना पड़ता था। बैठक-घर, बरामदा, सीढ़ी व लाइब्रेरी सब इतने भर जाते थे कि वहाँ एक आदमी के लिए भी बैठने को गुंजाइश नहीं रह जाती थी। उस समय वे भक्ति से ओतप्रोत रहते थे। भगवत्प्रेम ही उनकी भूख-प्यास थी, मानो वे एक प्रकार से ऐश्वरिक उन्माद-ग्रस्त हो गये थे। प्रेममय जगज्जननी के लिए तीव्र आकांक्षा से मानो उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था। डिट्राइट में जनसाधारण के समक्ष उनकी अन्तिम उपस्थिति 'बेथेल' मन्दिर में हुई। राबी लुइस ग्रोसमैन नामक एक अनुरागी भक्त वहाँ पर याजक के पद पर अधिष्ठित थे। उस दिन रविवार था। सायंकाल को जनता की इतनी अधिक भीड़ थी कि हमे भय हो रहा था कि लोग बेचैन होकर कुछ कर न बैठें। रास्ते पर भी काफी दूर तक भारी भीड़ थी और सैकड़ों व्यक्ति लौट गये थे। स्वामीजी ने उस बृहत् श्रोतृसंघ को मन्त्रमुग्ध कर दिया। उनके भाषण का विषय था—'पाश्चात्य जगत् मे भारत का सन्देश,' और 'सार्वजनीन धर्म का आदर्श'। उनका भाषण बहुत ही उत्तम व विद्वत्तापूर्ण हुआ था। उस रात्रि मे आचार्यदेव को जिस प्रकार देखा है, वैसे और कभी नही देखा था। उनके सौन्दर्य में ऐसा कुछ था, जो इस पृथ्वी का नही था। ऐसा लगता था, मानो आत्मारूपी पक्षी देहरूपी पिंजरे को तोड़ने का यत्न कर रहा है, और उसी समय पहलेपहल मुझे उनके आसन्न देहावसान का पूर्वाभास प्राप्त हुआ था। अनेक वर्षो के अधिक परिश्रम के कारण वे बहुत ही श्रान्त हो गये थे और उसी समय ऐसा ख्याल हो गया था कि शायद वे अधिक दिन इस पृथ्वी पर नही रहेगे। इस भय को मिथ्या प्रमाणित करने के लिए मैंने अपने मन को समझाने की चेष्टा तो की,

परन्तु अन्तरात्मा ने इस आशंका की सत्यता की उपलब्धि की। उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी, परन्तु वे भीतर से समझ रहे थे कि उन्हें कार्य करते ही रहना होगा।"

कट्टर ईसाई मिशनरी स्वामीजी पर आक्रमण करते हुए अनेक प्रकार से उनकी निन्दा का प्रचार करने लगे, जनसाधारण को उनका भाषण सुनने की मनाही करने लगे। धर्मयाजक रावी लुइस ग्रोसमैन स्वामीजी के सम्बन्ध में मिथ्या धारणाओं का प्रतिवाद करते हुए संकीर्णहृदय मिशनरियों की करतूतों की निन्दा करने लगे। अस्तु, यथेष्ट बाधाओं के होते हुए भी प्रतिदिन स्वामीजी का भाषण प्रारम्भ होने से पहले ही निर्दिष्ट स्थान श्रोताओं से भर जाता था और सैकड़ों व्यक्ति स्थानाभाव के कारण निराश होकर लौट जाते थे। हिन्दू धर्म ग्रहण करने के इच्छुक कुछ व्यक्तियों को दीक्षा देकर स्वामीजी डिट्राइट से बोस्टन गये। स्वामी कृपानन्द डिट्राइट का प्रचार कार्य चलाने लगे।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय की ओर से श्री फॉक्स ने दर्शनशास्त्र के ग्रॅज्युएट छात्रों के सम्मुख वेदान्त-दर्शन के विषय पर भाषण देने के लिए स्वामीजी को आमन्त्रित किया। स्वामीजी हर्षपूर्वक सहमत हो गये। विभिन्न दर्शनशास्त्र के विद्वान अध्यापक व सैकड़ों ग्रॅज्युएट छात्रों के सम्मुख स्वामीजी ने २५ मार्च को वेदान्तदर्शन के सम्बन्ध में एक गम्भीर तत्त्वसमन्वित भाषण दिया। छात्रों के आग्रह से उस भाषण को पुस्तक के रूप में मुद्रित किया गया। अध्यापक रे० एवरेट् (Rev. C. C. Everett, L D., LL. D.) महोदय ने बड़े हर्ष से उसकी भूमिका लिखी थी। इस विस्तृत भूमिका में उन्होंने लिखा है—

"स्वामी विवेकानन्द ने अपने व्यक्तित्व तथा कार्य के सम्बन्ध में बहुत ही कौतूहल उत्पन्न किया है। हिन्दू-चिन्ताप्रणाली से बढ़कर अधिक हृदयग्राही विषय और कोई भी नहीं है। हीगेल का कहना है कि स्पिनोजा का मतवाद ही सभी दार्शनिक तत्त्वों की जड़ है। वेदान्तदर्शन के विषय में भी यही मत प्रकट किया जा सकता है। विवेकानन्द ने जिस सफलता से हमें यह शिक्षा दी है, उसके लिए हम उनके बड़े आभारी हैं।"

न्यूयार्क में लौटकर स्वामीजी ने वेदान्त की चर्चा व योग की शिक्षा के लिए एक स्थायी केन्द्र बनाने का निश्चय किया। इधर इंग्लैण्ड से बार बार आमन्त्रण आने लगा। यह पहले से ही निश्चित था कि स्वामीजी इंग्लैण्ड से भारत लौटेंगे। तदनुसार शिष्य व भक्तों के साथ परामर्श करके स्वामीजी ने स्थायी रूप से न्यूयार्क में एक 'वेदान्त सोसाइटी' की स्थापना की। प्रसिद्ध धनी श्री फ्रान्सिस एच. लिगेट महोदय गुरुदेव की सम्मति व इच्छा के अनुसार इस सोसाइटी के सभापति बने। भगिनी हरिदासी को स्वामीजी ने शक्ति व आशीर्वाद देकर योग की शिक्षिका नियुक्त किया। स्वामी कृपानन्द, अभयानन्द, योगानन्द तथा कुछ ब्रह्मचारी वेदान्त के प्रचारक नियुक्त हुए। असाधारण दानशील कु० मेरी फिलिप, श्रीमती आर्थर स्मिथ, श्री व श्रीमती वाल्टर गुडइअर तथा प्रसिद्ध गायिका कुमारी एमा थर्सब्री आदि न्यूयार्क के नामी शिष्य व शिष्या उत्साह से समिति का कार्य चलाने लगे। शिष्यवर्ग की सम्मति व अनुरोध से स्वामीजी ने अपने गुरुभाई स्वामी सारदानन्दजी को शीघ्र इग्लैण्ड की ओर यात्रा करने के लिए पत्र लिखा। इंग्लैण्ड से इन स्वामीजी को न्यूयार्क में भेजने का वचन देकर आचार्यदेव ने १५ अप्रैल सन्

१८९६ ई० को फिर से लन्दन की ओर प्रस्थान किया।

लगभग तीन वर्ष तक अमेरिका में उनके प्रचारकार्य के गौरव-मय इतिहास का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने पर किसी अविश्वासी का भी भक्ति, विस्मय व सम्मान से मस्तक अवनत हो जाता है। स्वजाति, स्वदेश व स्वधर्म की महिमा को अक्षुण्ण रखते हुए उन्होंने जिस प्रकार से भारतीय धर्ममत का प्रचार किया है, वह चिरकाल तक संसार के इतिहास में एक श्रद्धापूर्वक आलोचना करने योग्य अध्याय के रूप में विराजमान रहेगा। शिकागो-विदुषीसमाज की अन्यतम नेत्री श्रीमती लिगेट ने सत्य ही कहा है—"He (Vivekananda) was a Grand Seignior. There were but two celebrated personages whom I have met, that could make one feel perfectly at ease without themselves for an instant losing their own dignity,—one was the German Emperor, the other, Swami Vivekananda." अर्थात् "वे (विवेकानन्द) वास्तव में महानुभाव थे। अपने जीवन मे मुझे ऐसे दो ही विख्यात व्यक्तियों का साक्षात्कार हुआ है, जो व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को किसी भी स्थिति मे चोट न पहुँचाते हुए बिना किसी आडम्बर के प्रत्येक को उसका अनुभव करा सकते हैं—एक है जर्मन सम्राट् और दूसरे स्वामी विवेकानन्द।"

अमेरिका से आचार्यदेव का पत्र पाकर स्वामी सारदानन्द बिना विलम्ब इंग्लैण्ड मे उपस्थित हो गये थे और अप्रैल मास के प्रारम्भ से स्टर्डी साहब के अतिथि के रूप मे निवास करते हुए पूर्व स्थापित आलोचना समिति में धर्म का उपदेश दे रहे थे। आचार्यदेव अप्रत्याशित रूप में उन्हें स्टर्डी साहब के मकान पर देख आनन्दविभोर हो उठे। कहना न होगा कि सारदानन्दजी भी

बहुत समय से 'लापता नेता' नरेन्द्रनाथ को देखकर बहुत ही आनन्दित हुए। आचार्यदेव उत्सुकता से उनके इस आलमबाजार मठ व दूसरे श्रीरामकृष्ण-भक्तों का कुशल समाचार जानकर निश्चिन्त हुए।

सारदानन्द और स्वामीजी ने लन्दन के सेन्ट जार्जस लेन मे कु० मुलर व श्री स्टर्डी के अतिथि के रूप मे रहते हुए पूर्ण उद्यम व उत्साह से प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। इग्लैण्ड मे स्वामी विवेकानन्द के फिर वापस आ जाने का शुभ समाचार सुनते ही सैकडों स्त्री-पुरुष उनका दर्शन करने तथा उनके उपदेश सुनने के लिए आने लगे। समाचारपत्रो मे उनकी कार्यप्रणाली की विस्तृत समालोचनाएँ प्रकाशित होने लगी। मई मास के प्रारम्भ से स्वामीजी नियमित रूप से शिक्षादान व प्रश्नोत्तर-कक्षाओं को चलाने लगे और 'ज्ञानयोग' पर भाषण देने लगे। मई मास के अन्त मे उन्होने भक्ति, कर्म और योग के सम्बन्ध मे कुछ उत्कृष्ट भाषण दिये। क्लब, सभा-समिति, ड्राइग-रूम इत्यादि मे भाषण देने के लिए वे प्रतिदिन बुलाये जाने लगे। श्रीमती एनी बेसेन्ट द्वारा आमन्त्रित होकर स्वामीजी ने उनके 'अविनु रोड' स्थित भवन मे 'भक्ति' पर भाषण दिया। उस दिन वहाँ पर कर्नल आलकाट भी उपस्थित थे।

स्वामी सारदानन्द ने ६ जून को 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका मे लिखा था--"स्वामी विवेकानन्द का प्रचारकार्य यहाँ पर सुन्दर रूप से प्रारम्भ हुआ है। प्रतिदिन सैकड़ों स्त्रीपुरुष उनके भाषण-कक्षा में नियमित रूप से उपस्थित हो रहे है, उनके भाषण भी वास्तव में कौतूहल-उत्पादक है। उस दिन 'ऐंग्लिकन चर्च' के विद्वान नेता श्री कैनन हाइविस (Haweis) उनका भाषण सुनकर बड़े मुग्ध

हुए। आप शिकागो महामेला में ही स्वामीजी से परिचित हुए थे और उस समय से ही उनका स्वामीजी से स्नेह था। मंगलवार को स्वामीजी ने सीसेम क्लब (Sesame Club) में 'शिक्षा' पर एक भाषण दिया। स्त्री-शिक्षा के विस्तार के लिए महिलाओं ने इस अत्यावश्यक समिति की स्थापना की है। इस भाषण में उन्होंने भारतीय प्राचीन शिक्षापद्धति के साथ आधुनिक प्रथा की तुलना करते हुए प्रदर्शित किया है कि मनुष्य गढ़ना ही शिक्षा का उद्देश्य है,—अनेक प्रकार के तथ्यों से मस्तिष्क को पूर्ण करना नही। उन्होने युक्तियों द्वारा समझा दिया कि मनुष्य का मन ही अनन्त ज्ञान की खान है। भूत, भविष्य, वर्तमान के सभी ज्ञान उसमें व्यक्त या अव्यक्त रूप में मौजूद हैं। मानव के अन्तर्निहित उस ज्ञान को प्रकट करने में सहायता करना ही प्रत्येक प्रकार की शिक्षाप्रणाली का उद्देश्य होना चाहिए। उन्होने उदाहरण दिया कि गुरुत्वाकर्षण शक्तिसम्बन्धी ज्ञान असल में पहले से ही मनुष्य के मन मे विद्यमान था। सेव का गिरना न्यूटन के लिए उस ज्ञान के विकास में सहायक मात्र हुआ।"

श्रीमती मार्टिन नामक एक धनी विदुषी ने एक दिन अपने घर पर स्वामीजी को भाषण देने के लिए बुलाया। उन्होंने 'आत्मा के सम्बन्ध में हिन्दू की धारणा' विषय पर एक भाषण दिया। १४ जून के 'दि लण्डन अमेरिकन' नामक पत्रिका ने इस भाषण का विस्तृत वर्णन कर जो एक सुदीर्घ प्रबन्ध लिखा था, उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

"स्वामीजी ने हिन्दू धर्म को केवल जड़ या अन्ध पौत्तलिकता के अपवाद से ही मुक्त नहीं किया, बल्कि उसे ऐसे एक समुन्नत व समुज्ज्वल भाव पर प्रतिष्ठित कर दिया है कि उसके प्रति

मानव जाति की श्रद्धा हुए बिना नहीं रह सकती। *** बुधवार के दिन वर्षा आदि के होते हुए भी काफी संख्या में भद्र पुरुष व महिलाएँ श्रीमती मार्टिन का आतिथ्य ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुई थीं, यहाँ तक कि राज-परिवार के भी कुछ व्यक्ति गुप्त रूप से इस सभा में उपस्थित थे।"

विशेष रूप से आमन्त्रित होकर स्वामीजी ने आक्सफोर्ड में जाकर २८ मई को विश्वविख्यात प्रोफेसर मैक्स मूलर के साथ साक्षात्कार किया। प्रो० मैक्स मूलर ने इससे पहले 'नाइन्टिन्थ सेन्चुरी' नामक पत्रिका मे श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में 'प्रकृत महात्मा' शीर्षक जो निबन्ध लिखा था उसे पढ़कर स्वामीजी ने पहले से ही इनसे साक्षात्कार करने का निश्चय किया था। वार्तालाप के सिलसिले मे मैक्स मूलर साहब ने कहा, "श्रीराम-कृष्ण के सम्पर्क में आकर केशवचन्द्र के धर्ममत के एकाएक परिवर्तन से ही पहले पहल उनकी ओर मेरी दृष्टि आकृष्ट हुई। उस समय से ही उस महात्मा की जीवनी व उपदेश के सम्बन्ध में जहाँ पर जो कुछ मिला, उसका मै श्रद्धा तथा भक्ति से पाठ करता आ रहा हूँ।" स्वामीजी से श्रीरामकृष्ण के पवित्र चरित्र व उपदेशों का श्रवण कर प्रोफेसर महोदय ने कहा, "यदि आप मुझे आवश्यक साधनों का संग्रह कर दे सकें तो मैं श्रीरामकृष्ण की एक जीवनी लिखने के लिए तैयार हूँ।" कहना न होगा, स्वामीजी बड़े हर्षपूर्वक सहमत हो गये। कुछ दिनों के बाद प्रो० मैक्स मूलर द्वारा रचित 'श्रीरामकृष्ण की जीवनी व उपदेश' नामक विख्यात ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उसके द्वारा स्वामीजी के पाश्चात्य देशों में प्रचारकार्य की यथेष्ट सहायता हुई थी।

श्रीरामकृष्ण के प्रसंग मे अन्त में स्वामीजी ने जब कहा,

"श्रीरामकृष्ण इस समय हजारों, लाखों व्यक्तियों द्वारा पूजित हो रहे हैं"—तो प्रो० मैक्स मूलर ने उसी समय उत्तर दिया, "यदि इस प्रकार के महापुरुष की पूजा न हो तो फिर किसकी पूजा होगी?" स्वामीजी के मुँह से श्रीरामकृष्ण की वात सुनकर प्रोफेसर महोदय उत्साह के साथ वोल उठे, "जगत् को उनका परिचय प्राप्त कराने के लिए आप लोग क्या कर रहे हैं?" वात वात में स्वामीजी के प्रचार-कार्य की वात उठी। प्रोफेसर महोदय ने स्वामीजी के वेदान्तप्रचार-कार्य के साथ सम्पूर्ण सहानुभूति प्रकट की। भोजन के वाद प्रोफेसर महोदय स्वामीजी व उनके शिष्य स्टर्डी साहव को लेकर नगरभ्रमण के लिए चले गये। उन्होंने उन्हें आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय तथा Bodleian लायब्रेरी दिखलायी। भारतवर्ष के सम्वन्ध में प्रो० मैक्स मूलर के असीम ज्ञान का परिचय पाकर स्वामीजी वड़े विस्मित हुए। भारतवर्ष के प्रति प्रोफेसर महोदय के इस असीम प्रेम ने स्वदेशप्रेमी संन्यासी को मुग्ध कर दिया। स्वामीजी ने उल्लसित होकर पूछा, "आप कव भारत जायँगे? जिन्होने हमारे पूर्वपुरुषों के चिन्तनसमूह की श्रद्धा से चर्चा की है, उनकी अभ्यर्थना करने के लिए सभी लोग आनन्द से तैयार होंगे, इसमें सन्देह नहीं है।" प्रोफेसर महोदय का प्रशान्त मुखमण्डल समधिक उज्ज्वल हो उठा और आँखों में आँसू लिये वे एक प्रकार अनजान में ही वोल उठे, "तो फिर सम्भव है मैं वहाँ जाकर फिर वापस नहीं लौटूंगा। मेरे शरीर का अन्तिम संस्कार आप लोगों को वहीं पर करना पड़ेगा। * * *" रात को जिस समय स्वामीजी स्टेशन पर गाड़ी के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे, उस समय आँधी व वर्षा के होते हुए भी वृद्ध प्रोफेसर स्वामीजी को विदाई का

अभिनन्दन देने के लिए स्टेशन पर आ उपस्थित हुए। स्वामीजी लज्जित होकर ससम्भ्रम बोल उठे, "मुझे विदा देने के लिए इतना कष्ट सहन कर आपके आने की क्या आवश्यकता थी?" प्रेम से उज्ज्वल आँखों से प्रोफेसर महोदय ने उत्तर दिया, "श्रीरामकृष्ण के योग्यतम शिष्य के दर्शन का सौभाग्य प्रतिदिन प्राप्त नही होता।" इस दर्शन से ही इन प्रोफेसर महोदय के साथ स्वामीजी की प्रगाढ मित्रता का सूत्रपात हुआ। स्वामीजी आजीवन प्रो० मैक्स मूलर के प्रति श्रद्धा प्रकट करते थे। यद्यपि इसके बाद कभी दोनों के साक्षात्कार का अवसर नहीं आया, तो भी वे नियमित रूप से पत्रों द्वारा एक दूसरे का कुशल समाचार जान लिया करते थे।

जिन अंग्रेज शिष्य व शिष्याओ ने स्वामीजी के कार्य मे आत्मजीवन उत्सर्गित किया था उनमे से कुमारी मुलर, कुमारी नोबल (निवेदिता), श्री गुडविन, श्री स्टर्डी आदि का उल्लेख हम पहले ही कर चुके है। दूसरी बार इंग्लैण्ड में आकर स्वामीजी ने कॅप्टन सेविअर तथा श्रीमती सेविअर को शिष्य रूप में प्राप्त किया। ये धर्मप्राण सेविअर-दम्पति उनके भारतीय कार्य के लिए आत्मोत्सर्ग करने के लिए तैयार हो गये। श्रीमती सेविअर शिष्या बनकर भी स्वामीजी की मातृस्थानीया थी। स्वामीजी उन्हें 'माँ' कहकर पुकारते थे।

इस बीच में सेविअर-दम्पति व कुमारी मुलर ने स्वामीजी को लेकर स्विट्जरलैण्ड का भ्रमण करने का निश्चय किया। वे आनन्द के साथ उनके प्रस्ताव से सहमत हुए। कई महीनों के कठिन परिश्रम के बाद उन्हें विश्राम करने की बहुत आवश्यकता प्रतीत हुई।

जुलाई मास के अन्तिम भाग में शिष्य व मित्रों के साथ लन्दन से यात्रा कर स्वामीजी जेनेवा शहर पहुँचे। उस समय जेनेवा में एक शिल्प-प्रदर्शनी हो रही थी। स्वामीजी स्विट्जरलैण्ड के शिल्प-जात द्रव्य-समूह का दर्शन कर विशेष सन्तुष्ट हुए और उत्साह से दिन भर प्रदर्शित चीजों का पर्यवेक्षण करते हुए घूमते रहे। अन्त में एक बेलून देखकर वे बेलून में उड़ने के लिए अधीर भाव से आग्रह प्रकट करने लगे। पर यह जानकर कि सूर्यास्त से पूर्व बेलून आकाश में नहीं उड़ेगा, स्वामीजी बालक की तरह अधीर होकर साथियों से पूछने लगे, "क्या अभी समय नहीं हुआ ?" श्रीमती सेविअर आकाश-भ्रमण को निरापद न मानकर आपत्ति प्रकट करने लगीं। स्वामीजी ने उनकी किसी भी आपत्ति को नहीं माना, बल्कि उन्हें भी बेलून में उड़ने के लिए बाध्य किया। उस दिन आकाश साफ सुथरा था। ऊपर सूर्यास्त की मनोहर शोभा को देख स्वामीजी बहुत ही प्रसन्न हुए। बेलून से उतरकर एक ग्रूप फोटो लिया गया और वे प्रफुल्ल चित्त से होटल में लौट आये।

जेनेवा से स्वामीजी ने अपने साथियों को लेकर कैसल आफ चिलो (Castle of Chillon) देखने के लिए यात्रा की। वहाँ पर तीन दिन रहकर मॉण्ट ब्लैन्क (Mont Blanc) की ओर प्रस्थान किया। स्विट्जरलैण्ड के सरोवरों द्वारा सुशोभित मनोरम पार्वत्य अंचलों में भ्रमण करते हुए स्वामीजी के मन में परिव्राजक-जीवन की मधुर स्मृतियाँ जाग उठीं। हिमालय की शान्तिशीतल गोद में आश्रम बनाकर अवशिष्ट जीवन बिताने का एक प्रबल आग्रह उनमें बहुत दिनों से था। साथियों के समीप हिमालय की सुन्दरता का वर्णन करते हुए स्वामीजी बोले, "मैं चाहता हूँ,

हिमालय मे एक मठ स्थापित कर शेष जीवन ध्यान व तपस्या मे बिता दूँ। इस मठ में मेरे भारतीय व पाश्चात्य शिष्यगण रहेंगे। मै उन्हें 'कर्मी' रूप मे तैयार कर दूंगा। पहले दल के शिष्यगण पाश्चात्य देशों में वेदान्त के प्रचारकार्य मे संलग्न होंगे और दूसरा दल भारत की उन्नति के लिए आत्मोत्सर्ग करेगा।" स्वामीजी के शिष्यगण उनका संकल्प जानकर उत्साह से बोले, "अवश्य स्वामीजी! भविष्य कार्य के लिए हमे इस प्रकार का एक मठ अवश्य चाहिए।" आल्प्स पर्वत के शिखर पर बैठे स्वामीजी ने शिष्यों के साथ जो चर्चा की थी, वह वाद में ईश्वर की कृपा से कार्यरूप में परिणत हुई।

इसके वाद कुछ स्थानों का दर्शन कर वे दो सप्ताह के लिए एक पहाड़ी गाँव मे निवास करने लगे। चारों ओर तुषारावृत आल्प्स पर्वत की शृगमाला द्वारा वेष्टित सुनसान गाँव मे जाकर स्वामीजी मानो जगत् का कर्म, कोलाहल, अपना प्रचारकार्य, दार्शनिक विचार आदि सम्पूर्ण रूप से भूल बैठे। उनकी सभी चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुख हो उठी! स्वामीजी का अभिप्राय समझकर कोई उनकी शान्ति भंग न करता था। वे अधिकांश समय चुपचाप ध्यानमग्न रहा करते थे। दो सप्ताह के पूर्ण विश्राम से ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो स्वामीजी की गत तीन वर्षो की सारी क्लान्ति दूर हो गयी।

इसी बीच जर्मनी की कील नगरी के विश्वविद्यालय के विख्यात संस्कृतज्ञ विद्वान प्रोफेसर पॉल डॉयसन ने स्वामीजी को आमन्त्रित कर एक पत्र लिखा। वह पत्र लन्दन से स्वामीजी के पते पर भेजा गया था। पत्र पाकर स्वामीजी जर्मनी जाने के लिए तैयार हुए। रास्ते में जर्मनी के कुछ इतिहासविख्यात नगर

व राजधानियो को देखकर वे कील नगरी में पहुँचे। स्वामीजी के आने का समाचार पाते ही प्रो० डॉयसन ने उन्हें प्रातर्भोजन के लिए निमन्त्रण भेजा। साथ ही वे सेविअर दम्पति को भी निमन्त्रित करना न भूले थे। दूसरे दिन प्रातःकाल दस वजे उनके पधारते ही प्रोफेसर तथा उनकी पत्नी ने आदर के साथ उनकी अभ्यर्थना की। स्वामीजी के प्रचारकार्य व उद्देश्य के सम्बन्ध में दो चार प्रश्न पूछने के बाद ही प्रोफेसर वेद व उपनिषद् के सम्बन्ध में स्वरचित एक ग्रन्थ से कुछ अंश पढ़कर स्वामीजी को सुनाने लगे। प्रोफेसर ने कहा, "वेद-वेदान्त की मधुर मोहिनी-शक्ति क्षण भर मे ही बाह्य जगत् को भला देती है। उसका अध्ययन प्रारम्भ करते ही मन एक उन्नत आध्यात्मिक भावराज्य में चला जाता है।" अध्यापक की राय में मनुष्य के मस्तिष्क ने सत्य की खोज मे रत होकर जिन सब विषयों का आविष्कार किया है, उनमे उपनिषद्, वेदान्तदर्शन व शांकरभाष्य सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। वेदान्त की चर्चा ही इन प्रोफेसर के जीवन का एक मात्र व्रत था। इनके साथ वेदान्त व उपनिषद् की चर्चा कर स्वामीजी प्रसन्न हुए। प्रो० डॉयसन ने वेदान्त या उपनिषद् को केवल सूक्ष्म दर्शनशास्त्र न कहकर उच्चतम व पवित्रतम नैतिक जीवन व्यतीत करने का एक मात्र अवलम्बन बताया। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा में १८८३ ई० में उन्होंने वेदान्त के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, उसके उपसंहार का निम्नोद्धृत अंश स्वामीजी को पढ़कर सुनाया—"And so the Vedanta in its unfalsified form is the strongest support of pure morality, is the greatest consolation in the sufferings of life and death. Indians! Keep to it."

अर्थात् "अविकृत वेदान्तदर्शन पवित्र नीतियों की सुदृढ़ नींव है और जीवन व मृत्यु के दु.खसमूह के लिए परम सान्त्वना का स्थल है। हे भारतवासियो ! इसे कभी न छोडना।"

स्वामीजी ने उन्हें अपनी उपलब्धि से उपनिषद् के कुछ कठिन व दुर्बोध मन्त्रों की व्याख्या करके सुनायी। प्रातर्भोजन के बाद भी प्रोफेसर ने उन्हें न छोड़ा, यहाँ तक कि मध्याह्न भोजन के लिए भी वे अनुरोध करने लगे। उस दिन प्रोफेसर की एक कन्या का जन्मदिन था। अत: वे अपने श्रद्धेय अतिथि को विदा न दे सके। प्रोफेसर व उनकी धर्मपत्नी अपने भारत-भ्रमण की कहानी सुनाने लगे। कुछ घण्टों मे ही स्वामीजी ने अपने मधुर व्यवहार द्वारा अध्यापक के हृदय पर विजय प्राप्त कर ली।

भिन्न भिन्न विषयों पर चर्चा चल रही थी कि इसी बीच प्रोफेसर महोदय किसी दूसरे काम से उठकर चले गये। थोड़ी देर वाद उन्होंने लौटकर देखा कि स्वामीजी कविता की एक पुस्तक के पन्ने उलट रहे है। इस कार्य में वे इतने तन्मय थे कि प्रोफेसर के आने की आवाज तक उनके कान में न पहुँची। पुस्तक समाप्त कर स्वामीजी अध्यापक की ओर देखते ही समझ गये कि वे काफी देर से प्रतीक्षा कर रहे है। उन्होंने क्षमा प्रार्थना करते हुए कहा, "पुस्तक पढ रहा था। सम्भव है कि आप वहुत देर से आये हों। क्षमा कीजियेगा।" उत्तर सुनकर प्रोफेसर ने उनकी बात पर विश्वास नही किया, इस बात की झलक उनके चेहरे पर ही स्पष्ट प्रतीत होती थी। स्वामीजी यह जानकर वार्तालाप के सिलसिले में उस पुस्तक से पढ़ी हुई कुछ कविताएँ ज्यों की त्यों सुनाने लगे। विस्मय के साथ प्रोफेसर बोल उठे, "इससे पहले आपने अवश्य ही इस पुस्तक का अवलोकन किया

होगा, वरना केवल एक सरसरी निगाह से ही चार सौ पृष्ठ की किसी पुस्तक को आधे घण्टे में याद कर लेना केवल दुःसाध्य क्या, असम्भव है!"

स्वामीजी ने हँसते हुए उत्तर दिया, "संयतमना योगी के लिए यह असम्भव नहीं है। मेरा विश्वास है, यह शक्ति सभी प्राप्त कर सकते हैं। आप जानते हैं, मैं कामकांचनत्यागी संन्यासी हूँ। आजन्म अखण्ड ब्रह्मचर्य के परिणाम में यह शक्ति स्वयं ही मुझमें आ गयी है। पाश्चात्य देश में अनेक लोग इस पर विश्वास नहीं भी कर सकते हैं, परन्तु भारत में ब्रह्मचर्य के बल पर इस प्रकार की स्मृतिशक्ति के अधिकारी आज कम होने पर भी अदृश्य नहीं हुए है।"

प्रोफेसर महोदय स्वामीजी की युक्ति सुनकर सन्तुष्ट हुए। श्री शंकर व श्री चैतन्य की अद्भुत स्मृतिशक्ति की बात हम जानते हैं। बाल्यकाल में स्वामीजी की प्रखर प्रतिभा व अपरिमित स्मृतिशक्ति का परिचय अवश्य प्राप्त हुआ है, परन्तु वह इस प्रकार की अलौकिक या अद्भुत स्मृतिशक्ति न थी। खेतरी में व्याकरण पढ़ते समय उन्होंने जिस प्रतिभा व स्मृतिशक्ति का परिचय दिया था, वह दैवी शक्ति नहीं थी। अनेक वर्षों के अटूट संयम व कठोर साधना द्वारा उनका ब्रह्मचर्य सुप्रतिष्ठित हुआ था। ब्रह्मचर्य के प्रत्येक व्रत को वे श्रद्धा के साथ देखते थे। विवाह या उससे सम्बन्धित किसी प्रकार की घटना की स्मृति तक जिससे उनके मन में न आ सके, यही उनका आदर्श था। शिष्यवर्ग को, यहाँ तक कि अपने तक को, उस प्रकार की आशंका से दूर रखने की वे सदैव ही चेष्टा किया करते थे। ब्रह्मचर्यरूपी महान् व्रत की वर्तमान शोचनीय दुरवस्था

देख वे उक्त आदर्श को फिर से प्रतिष्ठित करने के लिए प्राणपण से चेष्टा कर गये है। उन्होंने समझा था और वे कहते थे कि शरीर व मन की उच्चतम शक्तियों के विकास के लिए ब्रह्मचर्य ज्वलन्त अग्नि की तरह नस नस में प्रवाहित होना चाहिए। निर्जनवास, संयम तथा चित्त की गम्भीर एकाग्रता––इन तीनों के सम्मेलन से गठित छात्रजीवन ही ब्रह्मचर्य का आदर्श है। स्वामीजी अक्सर बालक व युवकवृन्द को ब्रह्मचर्य के पालन में प्रोत्साहित करते हुए भाव के आवेग में दृढता के साथ कहा करते थे, "यदि तुम काम-क्रोध आदि सैकड़ों प्रलोभनों मे भी अविचल रहकर चौदह वर्ष तक सत्य की सेवा कर सको, तो ऐसे एक स्वर्गीय तेज द्वारा तुम्हारा हृदय परिपूर्ण हो जायगा कि तुम जिसे झूठ समझोगे, उस बात को कोई साधारण व्यक्ति तुम्हारे पास प्रकट करने का साहस तक न करेगा। इस प्रकार तुम स्वदेश व समाज के उपकार के साथ ही साथ अपनी भी उन्नति कर सकोगे।" यहाँ तक कि केवल अविवाहित रहना भी उनकी दृष्टि में एक आध्यात्मिक नीति मानी जाती थी।

धर्म के लिए अथवा अन्य किसी महान् आदर्श में अनुप्राणित होकर अविवाहित जीवन बिताने को कई व्यक्ति विज्ञ की तरह प्राकृतिक नियम का व्यभिचार बताते है तथा उनका मत है कि विवाह करना व सन्तान उत्पन्न करना ही भगवान का एकमात्र अभिप्रेत कार्य है––और वे इस बात को 'Common Sense' (साधारण बुद्धि) की सहायता से तर्क व युक्ति द्वारा प्रमाणित करने के लिए अग्रसर होते है। विवाहित जीवन के उच्च आदर्श के प्रति अवश्य ही स्वामीजी की कभी अश्रद्धा नही थी। वे गार्हस्थ्य व संन्यास दोनों ही आश्रमों को समान दृष्टि से देखा

करते थे। भगवान श्रीरामकृष्ण विवाहित जीवन के एक महान् आदर्श का प्रदर्शन कर गये हैं, यह सत्य है परन्तु फिर भी वे संन्यासी थे। आजन्म संन्यासी होकर भी विवाह करके उन्होंने गार्हस्थ्य व संन्यास के बीच में अपूर्व समन्वय प्रस्थापित किया था। मानव समाज मे आदर्श गृही व आदर्श संन्यासी दोनों की ही आवश्यकता है। भगवान श्रीरामकृष्ण के जीवन में ये दोनों ही आदर्श पूर्ण मात्रा में प्रकट हुए थे। स्थूल-दृष्टि मानव के लिए उन्हें एक ही साथ गृही व संन्यासी के रूप में देखना असम्भव व दु:साध्य है। इसीलिए उनकी सर्वश्रेष्ठ देन है, स्वामी विवेकानन्द व नाग महाशय। एक आदर्श संन्यासी तो दूसरा आदर्श गृही!

क्या विवाह कर लेने पर धर्म का आचरण या अन्य कोई महान् कार्य नहीं किया जा सकता? क्यों नही---मोक्ष पर केवल संन्यासियों का ही एकाधिकार नहीं है। परन्तु, जनक ऋषि ने गृही होकर भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया था, यह उदाहरण देकर जो लोग जनक ऋषि बनने की चेष्टा करते है, उनमे से अधिकांश कुछ अभागे बच्चों के जनक मात्र है---ऋषि जनक नहीं! कहते है घर में रहकर धर्म का आचरण करना, योग व भोग दोनों को ही घर रखते हुए मोक्ष प्राप्त करना ही विशेष बहादुरी है! परन्तु साथ ही साथ अनेक व्यक्ति यह भूल जाते है कि बहादुरी कर दिखाना ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। और यह भी ठीक है कि यदि सभी व्यक्ति बहादुरी दिखाने में व्यस्त रहें तो फिर मानव जीवन के उच्चतम सभी व्रत नि:सन्देह लुप्त हो जायँगे।

अविवाहित जीवन व्यतीत करने की सामयिक आवश्यकता की उपलब्धि कर स्वामीजी ने बड़े ही दु:ख व अभिमान के साथ

लन्दन से लिखा था, "***लन्दन का कार्य दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। जितने दिन बीत रहे है, क्लास में लोगों का समागम भी उतना ही अधिक हो रहा है। मुझे इसमें जरा भी सन्देह नही है कि श्रोताओं की संख्या धीरे धीरे बढती रहेगी। अंग्रेज बड़े ही दृढ़ प्रकृतिवाले तथा निष्ठावान होते है। अवश्य मेरे चले जाते ही, जितना कार्य हुआ है उसका अधिकांश नष्ट हो जायगा। परन्तु सम्भव है, उसके बाद कोई असम्भव घटना हो जाय, सम्भव है कोई दृढ़चित्त व्यक्ति आकर इस कार्य का भार ग्रहण कर ले; प्रभु ही जानते है, किससे भला होगा। अमेरिका में वेदान्त व योग की शिक्षा देने के लिए बीस प्रचारकों का स्थान हो सकता है, परन्तु कहाॅ से ये प्रचारक मिलेंगे? उन्हें वहाँ पर भेजने के लिए धन कहाँ से प्राप्त होगा? यदि कुछ दृढ़ चित्तवाले सच्चे मनुष्य मिले तो दस वर्ष में संयुक्त राज्य का अर्धभाग जीत लिया जा सकता है। पर कहाॅ है ऐसे व्यक्ति?

"हम लोग तो मूर्खो का एक दल जैसे है---स्वार्थपर, कापुरुष! बस सिर्फ जबान से स्वदेश के कल्याण की कुछ व्यर्थ की बातें रट रहे हैं और अपने महाधार्मिकपन के अभिमान में हम फूले नही समाते। मद्रासी लोग दूसरो की तुलना मे अधिक तेज है तथा दृढता के साथ वे किसी काम मे डटे भी रह सकते है, परन्तु सभी अभागे विवाहित है। विवाह! विवाह!! विवाह!!! मानो पाखण्डियों ने उस एक ही कर्मेन्द्रिय को लेकर जन्म ग्रहण किया है---योनिकीट---इधर फिर अपने को धार्मिक व सनातन धर्मावलम्बी कहते है। अनासक्त गृहस्थ होना बहुत ही अच्छी बात है, परन्तु इस समय उसकी इतनी आवश्यकता नही है। अब चाहिए अविवाहित जीवन! खैर, वेश्यालय मे जाने पर

लोगों के मन में इन्द्रियों की आसक्ति का जितना बन्धन उपस्थित होता है, आजकल विवाह-प्रथा द्वारा लड़कों का उस विषय में प्राय: उसी प्रकार का बन्धन उपस्थित होता है। मैंने यह बहुत ही कड़ी बात कही है, परन्तु वत्स, मुझे ऐसे कर्मी चाहिए—जिनकी पेशियाँ लोहे की तरह दृढ़ हों और स्नायु मानो इस्पात के बने हों; और उनके शरीर के भीतर एक ऐसा मन रहे जो वज्र के उपादान से गठित हो। वीर्य, मनुष्यत्व—क्षात्रवीर्य, ब्राह्मतेज! हमारे सुन्दर लड़के—जिन पर सब कुछ आशा की जा सकती है, उनमें सभी गुण, सभी शक्तियाँ हैं—केवल यदि इन लाखों लड़कों की विवाह नामक पशुत्व की बलिवेदी पर हत्या न की जाती। हे प्रभो, मेरे कातर क्रन्दन को सुन लो! मद्रास तभी जागेगा जब उसके हृदय के रक्तस्वरूप कम से कम सौ शिक्षित युवक संसार से सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होकर कमर कस लेंगे और देश-देश में सत्य के लिए युद्ध करने को तैयार हो जायँगे। भारत के बाहर एक आघात किया जाय तो वह उसके भीतर के हजारों आघात के समान है। अस्तु, यदि प्रभु की इच्छा होगी तो सब होगा।"

वर्षों से भारतीय युवक विवेकानन्द की यह प्राणमय पुकार सुनते आ रहे है। विवेकानन्द जितना बनाकर आये थे, वह बिगड गया है या नही, 'दृढ़ चित्तवाले सच्चे मनुष्य' के अभाव में भारतीय संन्यासी की आशा व आकांक्षाएँ अपूर्ण ही रहीं या नही—इस पर क्या भारतीय युवक एक बार सोच-विचार न करेंगे?

यह सुनकर कि स्वामीजी शीघ्र ही लन्दन की ओर प्रस्थान करेंगे, प्रोफेसर महोदय उन्हें और कुछ दिन वहाँ रहने के लिए अनुरोध करने लगे। स्वामीजी बोले कि वे शीघ्र ही भारत

लौटेंगे, अतः यात्रा से पूर्व इंग्लैण्ड के प्रचार-कार्य की व्यवस्था कर देना विशेष आवश्यक है। स्वामीजी का उद्देश्य समझकर प्रोफेसर भी उनके साथ इंग्लैण्ड जाने के लिए तैयार हुए। वे स्वामीजी के साथ वेदान्त की चर्चा कर इतने मुग्ध हुए थे कि केवल इसी उद्देश्य से कि स्वामीजी के साथ कुछ दिन और बिता सकेंगे, वे उनके साथ लन्दन चले आये।

जून मास के अन्त में स्वामीजी ने सारदानन्दजी को अमेरिका भेज दिया। इधर भारत से अभेदानन्दजी आकर लन्दन के कार्य मे स्वामीजी की सहायता करने लगे। स्वामीजी की अनुपस्थिति में अभेदानन्दजी को ही प्रचारकार्य की सारी जिम्मेदारी लेनी होगी, इसलिए स्वामीजी उन्हें आवश्यकता के अनुसार शिक्षा व उपदेश लेने लगे।

अक्टूबर-नवम्बर मास में स्वामीजी ने अद्वैतवाद'के श्रेष्ठतम सिद्धान्तों का विश्लेषण कर कुछ वक्तृताएँ दी। 'ज्ञानयोग' का मनोनिवेशपूर्वक अध्ययन करने से भलीभाँति समझा जा सकता है कि इस कठिन कार्य मे वे आशातीत रूप में सफलकाम हुए थे। उनके 'ज्ञानयोग' के भाषणों का पाठ करने पर स्वतः ही प्रश्न उपस्थित होता है—क्या यह केवल पाण्डित्य है अथवा और कुछ ? 'व्यावहारिक जीवन में वेदान्त का प्रयोग' शीर्षक व्याख्यानों में उन्होंने भावी प्राच्य व पाश्चात्य को एक महान् आदर्श के अनुगामी होने का इशारा किया है। राजनीतिक व सामाजिक स्थिति के अनेक परिवर्तनों मे से यूरोप जिस आदर्श पर पहुँचने की चेष्टा कर रहा है, उसे कार्यरूप में परिणत करना हो तो हिन्दू धर्म के अद्वैतवाद व वेदान्त को ग्रहण करना होगा। अन्ध की तरह जड़विज्ञान का अनुसरण कर वर्तमान यूरोप जो

विक्षुब्ध हो उठा है, एक मात्र प्राच्य की प्राचीन सभ्यता, धर्म तथा अखण्ड अपूर्व अद्वैततत्त्व ही उसकी उस ज्वालामयी विश्वशोषी तृष्णा को शान्त कर सकता है। इसीलिए स्वामीजी ने यूरोप निवासियों के सम्मुख खड़े होकर उच्च स्वर से घोषित किया था कि उन्होंने आकाक्षा व अतृप्ति के ज्वालामुखी के ऊपर जिस चमकीली, दिखावटी बाह्य सम्पदशाली सभ्यता की सुवर्ण-नगरी का निर्माण किया है वह किसी भी समय धातुओं के प्रवाह द्वारा सम्पूर्ण विनष्ट हो सकती है। उन्होने और भी भविष्यवाणी की थी, "यदि तुम इस अभिनव सन्देश को अस्वीकृत करोगे तो अगले पचास वर्षो में तुम्हारा ध्वंस अवश्यम्भावी है !"

अक्टूबर मास के मध्य से ही स्वामीजी भारत में लौटने की इच्छा प्रकट करने लगे। अमेरिका मे स्वामी सारदानन्द को तथा इंग्लैण्ड में स्वामी अभेदानन्द को वेदान्त क्लास के छात्रो द्वारा सादर गृहीत होते देख स्वामीजी प्रचारकार्य के सम्बन्ध में निश्चिन्त हुए। स्वामीजी के भारत लौटने का समाचार पाकर श्रीमती ओली वुल ने उन्हें सूचित किया कि वे भारतीय कार्य के लिए आवश्यकतानुसार धन देने को तैयार हैं। विशेष रूप से स्वामीजी ने रामकृष्ण संन्यासीसंघ के लिए जो एक स्थायी मठ की स्थापना करने का संकल्प किया है, उसमें उनकी सम्पूर्ण सहानुभूति है––स्वामीजी जब चाहें, आवश्यकतानुसार उनसे धन ले सकते हैं। स्वामीजी श्रीमती वुल का पत्र पाकर प्रसन्न हुए। आडम्बर के साथ किसी भी कार्य का प्रारम्भ करना उन्हें पसन्द न था। मद्रास, कलकत्ता व हिमालय में तीनों केन्द्रों की स्थापना कर धीर भाव से कार्य का प्रारम्भ करना ही उन्होंने उचित समझा। श्रीमती वुल के पत्र के उत्तर में अपनी राय सूचित कर

उन्होंने लिखा कि वे भारत में जाकर उन्हें विस्तारपूर्वक लिखेंगे ——अभी वे किसी प्रकार धन लेना नहीं चाहते हैं।

यह जानकर कि आचार्यदेव दिसम्बर मास के मध्य भाग में भारत की ओर यात्रा करेंगे, उनके इंग्लैण्ड के मित्र व शिष्यों ने उन्हें विदाई का अभिनन्दन देने के लिए १३ दिसम्बर रविवार को 'Royal Society of Painters' (रॉयल सोसायटी आफ पेन्टर्स) समिति की पिकाडिली के बृहत् हॉल में एक सभा बुलायी। विराट् जनसमूह ने नीरव रहकर विषादगम्भीर भाव से आचार्य-देव को विदाई का अभिनन्दन दिया। कई व्यक्ति भाव की अधिकता के कारण बातचीत न कर सके, शत शत आँखें आँसू से भर उठी। इस दृश्य को देखते हुए आचार्यदेव का कोमल हृदय विचलित हो उठा; आत्मविस्मृत ऋषि——करुणाकातर संन्यासी ने सहसा कह डाला——

"सम्भव है कि मै कल्याण समझकर इस देह-बन्धन को छिन्न कर दूं——इसे फटे वस्त्र की तरह त्याग दूं——परन्तु जब तक जगत् का प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम सत्य की उपलब्धि न कर सकेगा, तब तक मै मानवजाति के कल्याण की कामना से धर्म का प्रचार बन्द न करूँगा।"

इसके कुछ दिन बाद एक व्यक्ति ने उनसे पूछा कि अवतार व मुक्त पुरुष में क्या अन्तर है? स्वामीजी ने प्रत्यक्ष रूप से इसका कोई उत्तर न देते हुए कहा "मुझे लगता है, 'विदेह मुक्ति ही सर्वोच्च स्थिति है। अपनी साधनावस्था मे जब मैं भारत का भ्रमण कर रहा था, उस समय मैंने दिन-पर-दिन निर्जन पर्वत-कन्दराओं मे ध्यान करते हुए बिताये है। समय समय पर मुक्ति प्राप्त करने के सम्बन्ध में निराश होकर मैंने अनशन से

शरीर त्यागने का संकल्प भी किया है; परन्तु अब मुझे मुक्ति प्राप्त करने की लेश मात्र भी इच्छा नहीं है। जब तक एक भी व्यक्ति माया से आबद्ध रहेगा, तब तक मैं मुक्ति नहीं चाहता।"

प्रसिद्ध वक्ता व जननायक श्री० बिपिनचन्द्र पाल ने १५ फरवरी सन् १८९६ ई० को लन्दन से लिखा था—

"भारत में कुछ लोगों की धारणा है कि इंग्लैण्ड में विवेकानन्द के भाषणों का कोई विशेष फल नहीं हुआ, और उनके मित्र व समर्थकों ने एक मामूली से कार्य को ही अतिरंजित करके व्यक्त किया है; परन्तु मैं यहाँ आकर सभी जगह उनका असाधारण प्रभाव देख रहा हूँ। इंग्लैण्ड के अनेकानेक स्थानों में मैंने कितने ही व्यक्तियों के साथ वार्तालाप किया है. जो वास्तव में विवेकानन्द के प्रति गम्भीर श्रद्धा व भक्ति रखते है। यद्यपि मैं उनके समाज का नहीं हूँ और यह भी सत्य है कि उनके साथ मेरा मतभेद भी है, फिर भी मै यह कहने के लिए बाध्य हूँ कि उन्होंने सचमुच ही अनेक लोगों की आँखें खोल दी हैं और उनके हृदय को उदार तथा प्रशस्त कर दिया है। उनके प्रचारकार्य के परिणाम मे आजकल अधिकांश लोगों का यह विश्वास हो गया है कि प्राचीन हिन्दू शास्त्रों में अनेक आध्यात्मिक सत्य छिपे हुए है। उन्होंने स्थानीय जनसाधारण के मन में केवल इन भावों का ही संचार नही किया, अपितु वे भारत व इंग्लैण्ड को एक सुवर्णमय संयोगसूत्र द्वारा दृढ़ रूप से बाँधने में सफल हुए है। इससे पूर्व मैने श्री० हाउइस (Howeis) द्वारा लिखित 'The Dead Pulpit' नामक लेख से विवेकानन्दवाद (Vivekanandism) के सम्बन्ध में जिस अंश का उद्धरण किया है, उसी से आप जान गये है कि विवेकानन्द द्वारा प्रचारित मतवाद के विस्तार के

कारण शत शत व्यक्तियों ने प्रकट रूप से ईसाई चर्चों के बन्धन को तोड़ डाला है। *** इसके अतिरिक्त मैंने ऐसे अनेक शिक्षित अंग्रेज भद्र सज्जनों को देखा है, जिन्होंने भारत को श्रद्धा की दृष्टि से देखना सीखा है और जो भारतीय धर्ममत व आध्यात्मिक तत्त्वों को सुनने के लिए सदा ही आग्रह प्रकट किया करते हैं।"

स्वामीजी अपने पाश्चात्य देशों में जाने तथा प्रचारकार्य की सफलता के बारे में स्वयं सम्यक् रूप से सचेत न थे। उन्हें प्रति सप्ताह बारह, चौदह और कभी कभी इससे भी अधिक भाषण देने पड़ते थे। कभी कभी वे यह सोचकर कि अब मैं अपने भाषणों मे नयी चीज क्या कहूँगा, चिन्तित हो जाते थे। परन्तु जो उन्हें पाश्चात्य देशों में ले गये थे, मानो वे ही सब कुछ उनके लिए जुटा देते थे। वे अनुभव करते थे कि श्रीरामकृष्ण उनके संचालक के रूप में उनमें शक्ति का संचार करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है कि गम्भीर रात्रि में उन्होंने कई बार सुना है कि दूसरे दिन जो भाषण होगा, न जाने कौन बेरोकटोक वही कहता जा रहा है! नवीन तत्त्व व नवीन भाव से पूर्ण यह वाणी जो श्रीरामकृष्ण की थी, इसमे उनका तनिक भी सन्देह न था। वार्तावाही यन्त्र की तरह वे केवल उन्हीं की वाणी का प्रचार करते थे। इस समय उनमे ईश्वरी शक्ति का अद्भुत विकास हुआ था। देखते ही वे लोगों के मन की सारी गुप्त बातें जान सकते थे। स्पर्शमात्र से वे दूसरों के भीतर शक्तिसंचार कर सकते थे। परन्तु योग द्वारा प्राप्त इन शक्तियों का प्रयोग स्वामीजी क्वचित् ही करते थे।

पाश्चात्य देश के सहस्र सहस्र स्त्रीपुरुष केवल उनके चित्त को

उन्मत्त बनानेवाले भाषणों की मोहिनीशक्ति द्वारा ही आकर्षित नहीं हुए थे, वरन् सत्य व प्रेम की निष्कपट व अमोघ शक्ति ने ही उन्हें जनप्रिय बनाया था।

भगिनी निवेदिता ने लिखा है, "परम पूजनीय आचार्यदेव अपने अन्तरंग भक्तों के हृदय में अमूल्य स्मृतियों का जो भण्डार छोड़ गये है, मैं निःसंकोच कह सकती हूँ कि उसमें मनुष्यजाति के प्रति उनका प्रेम ही उज्ज्वलतम रत्न है।" कैसी गम्भीर अनुकम्पा व प्रेम से परिपूर्ण है वह हृदय—जो सदा सभी स्थितियों में सभी व्यक्तियों को आशा की वाणी सुनाने के लिए उदार आग्रह के साथ सदैव तत्पर रहा। उत्पीड़ित व अपमानित होकर भी उनकी जिह्वा ने कभी आशीर्वाद को छोड़ अभिशाप का उच्चारण नही किया। वे कभी छोटे से छोटे साधारण व्यक्ति के पक्ष का भी समर्थन करने से विरत नहीं होते थे। दुर्बल, पतित जातियों के गुणों का शतमुख से वर्णन करते थे,—दोषों को प्रकट कर उन्हें और भी दुर्बल बना देना उनका काम न था। जिनका पक्ष समर्थन करनेवाला कोई नही होता था, उनका पक्ष स्वामीजी स्वयं लेते थे और जो कुछ कहना होता था, कह डालते थे। नाटयसम्राट गिरीशचन्द्र घोष महाशय ने सत्य ही कहा है, 'तुम्हारे स्वामीजी को अद्‌भुत प्रतिभाशाली वेदान्त का पण्डित जानकर मै उनसे स्नेह नही करता, वरन् करुणा से सदा पिघलने वाले उनके हृदय के लिए ही मै उन्हें प्यार करता हूँ।'

१८९६ ई० की ६ जुलाई को उन्होंने लन्दन से किसी शिष्य को लिखा था, "*** तुम यह सुनकर प्रसन्न होगे, कि सहानुभूति व धैर्य के साथ मै प्रतिदिन नयी नयी शिक्षा प्राप्त कर रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि उद्धतप्रकृति 'ऐंग्लो इण्डियनों' में भी

मैं देवत्व की उपलब्धि करने लगा हूँ। ऐसा समझ रहा हूँ कि मै धीरे धीरे एक ऐसी स्थिति में पहुँच रहा हूँ कि जहाँ 'शैतान' नाम का यदि कोई हो भी, तो उसे भी मैं प्यार कर सकूँगा।

"बीस वर्ष की उम्र मे मै इतना हठी व कट्टर था कि किसी के साथ सहानुभूति प्रकट नही कर सकता था। कलकत्ते के जिन सब रास्तो पर थिएटर थे, उन थिएटरों के सामनेवाले फुटपाथ पर से चलता न था, और अब तैतीस वर्ष की उम्र में वेश्याओं के साथ एक ही मकान मे रह सकता हूँ, एक क्षण के लिए भी उनकी निन्दा करने की बात मेरे मन मे न आयेगी। क्या मै दिन पर दिन खराब होता जा रहा हूँ ? अथवा मै धीरे धीरे विश्व-प्रेम की ओर अग्रसर हो रहा हूँ—जो स्वयं प्रभु का स्वरूप है ? मैंने सुना था, जो अपने चारों ओर की बुराइयों को नहीं देख सकता, वह कभी अच्छा काम नही कर सकता। पर मै तो ऐसा नही समझ रहा हूँ, बल्कि मै तो देख रहा हूँ कि मेरी कार्य करने की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। किसी किसी दिन जब मेरी भावसमाधि हो जाती है, उस समय मै चाहता हूँ कि सभी वस्तुओं को आशीर्वाद दूं, प्रेम करूँ, उनका आलिगन करूँ। मैं वास्तव में देख रहा हूँ, बुराई के नाम से हम जो समझते है, वह भ्रान्ति मात्र है।"

बाल्यकाल से बने हुए संस्कार से मुक्त होना सरल नहीं है। पतित नारियों के प्रति उनके मन का विरुद्ध भाव किस प्रकार दूर हुआ था, इसकी एक कहानी स्वामीजी प्रायः कहा करते थे। अमेरिका की यात्रा से पूर्व स्वामीजी खेतरी से जयपुर आये थे। गुरुदेव को विदा करने लिए खेतरी के महाराजा स्वयं जयपुर तक आये थे। एक दिन सन्ध्या समय बैठक के अवसर पर

महाराजा ने एक नर्तकी को बुलाया। बैठकघर में नृत्य-गीत का आयोजन हुआ। महाराजा ने स्वामीजी के पास एक आदमी को भेजकर अनुरोध किया कि कृपया वे भी गाना सुनने के लिए उनके साथ सम्मिलित हों। स्वामीजी ने उत्तर दिया,—"संन्यासी के लिए नर्तकी के नृत्य-गीत की सभा में सम्मिलित होना अनुचित है।" इस बात को सुनकर नर्तकी बहुत ही दुःखी हुई और सोचने लगी कि महाराजा के गुरुजी ने उससे घृणा की है, क्या वह इतनी घृणा की पात्र है? नारीसुलभ अभिमान में उसकी अन्तरात्मा रो उठी। समस्त मनप्राण लगाकर क्रन्दन-कम्पित कण्ठ से उसने गाया,—

"प्रभु, मेरो अवगुन चित न धरो,
समदरसी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो।"

यह अकृत्रिम हृदयस्पर्शी आर्त विनती पासवाले कमरे में बैठे हुए संन्यासी के कानों में प्रवेश करने लगी—

"एक लोहा पूजा में राखत
एक रहत व्याध घर परो,
पारस के मन द्विधा नही है,
दुहुँ एक कांचन करो।
इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो
जब मिल दोनों एक वरण भयो, सुरसरि नाम परो;
इक माया इक ब्रह्म कहावत, सूरदास झगरो।
अज्ञान से भेद होवे, ज्ञानी काहे भेद करो॥"

गणिका के कण्ठ से उच्चारित श्रेष्ठ साधक सूरदास की वाणी ने संन्यासी के चित्त को व्याकुल बना दिया,—"ज्ञानी काहे भेद करो। हा! मैं अद्वैत-वेदान्तवादी संन्यासी हूँ, फिर भी मेरी

भेदबुद्धि ऐसी है कि मैंने उसे वेश्या कहकर देखा तक नहीं ! मेरी आँखो के सामने से मानो पर्दा हट गया। अनुतप्त चित्त से उस नर्तकी के पास जाकर दुर्व्यवहार के लिए लज्जा प्रकट की।"

अज्ञ, उत्पीड़ित निर्धन पतितों की बात ही नहीं—समाज में चिरकाल से घृणित वेश्या तक को वे करुणा के साथ आशीर्वाद दे गये है। एक दिन अमेरिका की एक प्रश्नोत्तर-सभा मे एक व्यक्ति ने सहसा प्रश्न किया, "स्वामीजी, अपवित्रता की घनीभूत मूर्तिरूपी वेश्याओं के द्वारा समाज मे अमंगल के अतिरिक्त क्या और भी कुछ हो सकता है ?" स्वामीजी ने उसी समय उनकी ओर देखकर करुणार्द्र कण्ठ से कहा, "पथ पर उन्हें देखकर घृणा से नाक-भौ न सिकोड़ो। वे ही ढाल की तरह खड़ी रहकर शत शत सतियो की लम्पटों के अन्याय-अत्याचार से रक्षा कर रही है; इसलिए उन्हें धन्यवाद दो ! उनसे घृणा न करो।"

इस प्रसंग में एक बात का स्मरण हुआ। जब आचार्य मैक्स मूलर ने श्रीरामकृष्ण की जीवनी प्रकाशित की, उस समय रेवरण्ड मजुमदार ने अनेक प्रकार के विरोध प्रकट कर जो पत्र लिखा था उसमें यह भी उल्लेख किया था, "श्रीरामकृष्ण का नैतिक चरित्र उतना उन्नत न था क्योंकि वे वेश्याओं से घृणा नही करते थे।" अवश्य इस पण्डितम्मन्य के अद्भुत नीति-तत्त्व को समझने में असमर्थ होकर मैक्स मूलर ने उत्तर में नरम गरम दो चार बाते सुना दी थीं।

इसी प्रकार के कुछ आदर्श नीतिवादियो की ओर से किसी भद्र महोदय ने स्वामीजी के पास एक पत्र लिखा। उत्तर में स्वामीजी ने अपने एक गुरुभाई को लिखा था, "आज रा—बाबू का पत्र मिला। उन्होने लिखा है कि दक्षिणेश्वर के महोत्सव में अनेक

वेश्याएँ जाती हैं, इसलिए अनेक भद्र लोगों की वहाँ पर जाने की इच्छा कम हो रही है। *** इस विषय में मेरा विचार यह है;—

(१) "वेश्याएँ यदि दक्षिणेश्वर के महातीर्थ में न जा सकें तो कहाँ जायँगी? पापियो के लिए प्रभु का विशेष प्रकाश है, पुण्यात्माओं के लिए उतना नही!

* * * *

(५) "जो लोग ठाकुर-घर में जाकर भी वह वेश्या है, वह नीच जाति है, वह गरीव है, वह छोटा है इस प्रकार सोचते हैं, उनकी (जिन्हें तुम लोग भद्र पुरुष कहते हो) संख्या जितनी कम हो उतना ही कल्याण है। जो लोग भक्त की जाति या योनि या व्यवसाय देखते हैं, वे हमारे श्रीरामकृष्ण को क्या समझेंगे? मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि शत शत वेश्याएँ आयें उनके पैरों-तले सिर झुकाने के लिए, वल्कि एक भी भद्र पुरुष यदि न आये तो न आये। वेश्याएँ आयें—शरावी आयें, चोर-डाकू आयें, उनका द्वार खुला है।"

१६ दिसम्वर को स्वामीजी शिष्य व शिष्याओं से विदा लेकर सेवियर दम्पति के साथ लन्दन से चल दिये। श्री गुडविन ने नेपल्स में स्वामीजी से सम्मिलित होने के लिए सौदम्प्टन से इटली की ओर यात्रा की। विश्वविजयी आचार्यदेव के कर्ममय जीवन के एक और गौरवमय अंक का अभिनय समाप्त हुआ। वे भारत लौटने के लिए वालक की तरह अधीर हो उठे। लन्दन छोड़ने से ठीक पहले एक अंग्रेज मित्र ने उनसे पूछा था, "स्वामीजी, चार वर्ष तक विलास की लीलाभूमि, गौरव की सिरताज, महाशक्तिशाली पाश्चात्यभूमि में भ्रमण करने के बाद आपकी

मातृभूमि आपको कैसी लगेगी ?" स्वदेशप्रेमी संन्यासी ने उत्तर दिया, "पाश्चात्यभूमि मे आने से पूर्व मै भारत से प्यार करता था; इस समय भारत का धूलिकण तक मेरे लिए पवित्र है, भारत की वायु अब मेरी दृष्टि में पवित्रता की प्रतिमूर्ति है—भारत इस समय मेरे लिए तीर्थ जैसा है !"

फ्रांस के बीच से होकर, आल्प्स पर्वतश्रेणी को लाँघकर, मीलन व पीसा नगरी का दर्शन करते हुए स्वामीजी सेविअर दम्पति के साथ फ्लोरेन्स नगरी में उपस्थित हुए। इटली की चारुकला-विद्या के केन्द्ररूपी फ्लोरेन्स नगरी की चित्रशाला व दर्शनीय ऐतिहासिक स्थानों को देखकर स्वामीजी एक पार्क में टहल रहे थे। इसी समय दैवयोग से शिकागो के श्रीमान व श्रीमती हेल से उनकी भेंट हुई। अप्रत्याशित रूप से स्वामीजी का दर्शन पा वे विशेष आनन्दित हुए। पाठकों को स्मरण होगा, शिकागो महा-मेला के ठीक पहले श्रीमती हेल ने ही उन्हें आश्रय देकर अनेक प्रकार से उनकी सहायता की थी। ये दम्पति स्वामीजी पर पुत्रवत् स्नेह करते थे। स्वामीजी प्रचारकार्य के उपलक्ष्य में जितनी बार शिकागो गये, इन दम्पति ने उन्हें कभी होटल में ठहरने नही दिया।

फ्लोरेन्स से उन्होंने इतिहास-प्रसिद्ध प्राचीन रोमन जाति की कीर्ति द्वारा गौरवमण्डित श्मशानभूमि महानगरी रोम मे प्रवेश किया। श्रीमती सेविअर ने पहले से ही स्वामीजी की अमेरिकन शिष्या कु. मैक्लिऔड द्वारा रोमनगरी के अंग्रेज समाज में विख्यात कु. एडवर्ड्स का पता जान लिया था। कु. मैक्लिऔड की भतीजी कु. एलबर्टा स्टार्गिस भी उनके साथ रोम मे निवास कर रही थी। ये दोनों थोड़े ही समय मे स्वामीजी की भक्त बन

गयीं। जो एक सप्ताह वे रोम में रहे, वे प्रतिदिन उन्हें साथ लेकर इतिहास-प्रसिद्ध स्थानों का दर्शन करने जाती थीं। रोम से स्वामीजी नेपल्स आये। बन्दरगाह में जहाज के आने में विलम्ब जानकर इस बीच में उन्होंने वेसुविअस ज्वालामुखी पर्वत तथा पम्पाई नगरी को देखा। तब तक सौदम्प्टन से भारत जानेवाला जहाज आ पहुँचा। उसमे श्री गुडविन को देख स्वामीजी आनन्दित हुए। अन्त में ३० दिसम्बर को उन्होंने अपने संगी-साथियों के साथ भारत की ओर यात्रा की।

षष्ठ अध्याय

युगप्रवर्तक विवेकानन्द

(१८९७-१८९९)

"अब भारत ही केन्द्र है।"—विवेकानन्द

चार वर्षों का अविराम भ्रमण समाप्त हुआ। विवेकानन्द जहाज में बैठे हिसाब करने लगे, क्या दिया और क्या ले चला! प्राच्य और पाश्चात्यों की श्रेष्ठ विचारधारा तथा आध्यात्मिक भावों के आदान-प्रदान द्वारा आपस में दोनों का समन्वय व सामंजस्य करना एक जीवन का कार्य नही है। पाश्चात्य की शक्ति, साहस, प्रतिभा व वैज्ञानिक आविष्कारों को देख स्वामीजी जिस प्रकार मुग्ध हुए थे, उसी प्रकार राजनीति के नाम पर अपरिमित घूस देकर वोट लेना तथा बैलट की सहायता से आधिपत्य प्राप्त करना, बनियों का धनलोभ तथा साम्राज्यवादियों की साम्राज्य की आकांक्षा आदि को देख वे क्षुब्ध भी हुए थे। विशेष रूप से भारतविजयी इंग्लैण्ड को उन्होंने उसके अपने स्वरूप मे देखा था!—"संसारसमुद्र के सर्वविजयी वैश्य शक्ति के अभ्युत्थानरूपी महातरंग के शीर्ष पर शुभ्र फेन-राशि के बीच इग्लैण्ड का सिंहासन स्थापित है। * * * ईसामसीह, बाइबिल, राजप्रासाद, सैनिक शक्ति का भूकम्पकारी पदविक्षेप, तूर्य-भेरी का निनाद, राजसिंहासन का विशाल आडम्बर,—इन सभी के पीछे वास्तव इंग्लैण्ड बसा हुआ है, जिस इंग्लैण्ड की ध्वजा है कारखानों की चिमनियाँ, सेना है पण्यवाही जहाज, युद्धक्षेत्र है जगत् का बाजार और सम्राज्ञी है स्वयं सुवर्णांगिनी

लक्ष्मी !"

सुदूर सम्प्रसारित दूर दृष्टि से स्वामीजी ने देखा था, वणिक या वैश्यों द्वारा शासित इस यूरोप की छाती पर शूद्रों के विद्रोह का पूर्वाभास। "समष्टि के जीवन में व्यष्टि का जीवन है, समष्टि के जीवन में व्यष्टि का सुख है। समष्टि को छोड़ व्यष्टि का अस्तित्व ही असम्भव है, यह अनन्त सत्य है, जगत् की मूल नींव है। * * * प्रकृति की आँखों में धूल झोंकने की शक्ति किसमें है? समाज की आँखों में अनेक दिन तक धूल झोंकी नहीं जा सकती! * * * सब कुछ सहनेवाली धरती की तरह समाज बहुत कुछ सह लेता है, परन्तु एक न एक दिन वह जाग उठता है और उस जागरण की प्रचण्डता से युगयुगान्तरो की संचित मलिनता व स्वार्थपरता धुल जाती है।" परन्तु वह स्वर्ण-दिवस अभी दूर है। अद्वैत-वेदान्तवाद के प्रचार के अतिरिक्त भी उनका जो उद्देश्य था वह सिद्ध न हुआ। उन्होंने अनुभव किया, क्षुधित, भोगलोलुप स्वार्थी पाश्चात्यों से दीन, निर्धन भारतीयों के लिए जिस सहायता की उन्होंने आशा की थी, वह उन्हें प्राप्त नहीं हुई। अमित ऐश्वर्यवान पाश्चात्य देशों में भीख माँगकर उन्हें जो कुछ प्राप्त हुआ, वह मुष्टिभिक्षा मात्र था। परन्तु निर्धनता से पीड़ित एवं कुंसस्कार से आच्छन्न भारतवर्ष के भ्रष्ट जीवन के प्रनष्ट गौरव के उद्धार का व्रत ही उन्होंने ग्रहण किया है। यूरोप भूल गया है कि भारत की चिन्तारूपी सम्पत्ति से उसका दर्शन व साहित्य परिपुष्ट हुआ है, भारत के ऐश्वर्य से वह ऐश्वर्यशाली बना है, पर इस सबके लिए कृतज्ञ होना उनके लिए बड़ी दूर की बात है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्वामीजी के पाश्चात्य देशों में जाने का प्रधान उद्देश्य विशेष सफल नहीं

हुआ। परन्तु वे क्षुब्ध होने पर भी निराश नहीं हुए। भारत में नये सिरे से कार्य करना होगा,—भारत के जातीय जीवन में पुनर्गठन की आवश्यकता है। धर्म को जीता जागता और समाज को गतिशील बनाकर सत्साहसी व वीर्यवान मनुष्यों को पैदा करना होगा। "मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, जिससे 'मनुष्य' तैयार होता है।"—स्वदेशप्रेमी संन्यासी ने इसीलिए स्थिर किया—"अब भारत ही केन्द्र है।"

१५ जनवरी को सूर्योदय के साथ ही साथ सीलोन की श्यामल तटभूमि दृष्टिगोचर हुई। पीली बालू से पूर्ण समुद्रतट की सुवर्णोज्ज्वल प्रभा—वायु के झकोरों से हिलनेवाले नारियल वृक्षों के शीर्षों का गहरा हरा रंग देख स्वामी विवेकानन्द आनन्द से प्रफुल्लित हो उठे। जहाज धीरे-धीरे कोलम्बो बन्दरगाह में प्रविष्ट होकर खड़ा हुआ। तरंगों की उच्च कल्लोलध्वनि के साथ जहाज की गम्भीर वंशीध्वनि ने सम्मिलित होकर विवेकानन्द की आगमन-वार्ता घोषित की!

स्वामीजी स्वदेश लौट रहे है, इस समाचार का प्रचार होते ही भारतवर्ष की जनता उनकी सादर अभ्यर्थना के लिए प्रस्तुत हो गयी। सीलोन व मद्रास प्रेसिडेन्सी से प्रधान-प्रधान नगरों की प्रमुख जनता ने अपने यहाँ स्वागत-समितियाँ तैयार कीं। यह समाचार पाकर कि स्वामीजी कोलम्बो नगर में उतरेंगे, उनके दो गुरुभाई तथा कुछ मद्रासी शिष्य पहले से ही वहाँ पर पहुँच गये। कोलम्बो का हिन्दू समाज स्वामीजी की प्रथम अभ्यर्थना करने का गौरवमय अधिकार पाकर उत्साह के साथ तैयारी करने लगा। परन्तु जिनके लिए यह सब था, उन स्वामीजी को इस बात का अनुमान ही न था कि किस उत्सुकता से देश उनकी

प्रतीक्षा कर रहा है। जिस समय उनकी मातृभूमि नवीन उत्साह के उच्छ्वास से मुखरित हो उठी थी—उस समय वे जहाज के छोटेसे कमरे में चुपचाप बैठे भारत की वर्तमान व भविष्य की समस्याओं के समाधान में लगे हुए थे। नवीन भारत के पुनरुत्थान के लिए वे जिस सन्देश का प्रचार करने के लिए स्थिर संकल्प किये बैठे हैं, जिस शिक्षादीक्षा के द्वारा राष्ट्रीय जीवन को फिर से रसमय, जाग्रत व महिमामय बना देने का उन्होंने संकल्प किया है, उसे जनसाधारण स्वीकार करेगा अथवा नहीं—यही सारी चिन्ता करते हुए वे सन्दिग्ध चित्त से कोलम्बो बन्दरगाह में उतरे।

उनके गैरिक पगड़ी द्वारा मण्डित मस्तक को देखते ही समुद्र-तट पर एकत्रित विराट् जनसमूह आनन्द से जयध्वनि कर उठा। उस समय सन्ध्या नहीं हुई थी—अस्ताचलगामी सूर्य की पीताभ रक्तिम रश्मियों से दीप्त संन्यासी विस्मयविमूढ़ की तरह खड़े रहे। जिस समय कोलम्बो के हिन्दू समाज के प्रतिनिधि के रूप में माननीय कुमारस्वामी महोदय ने कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ आगे बढ़कर उन्हें मनोहर पुष्पमाल्य से विभूषित किया—तब उन्होंने समझा कि उस विराट् अभ्यर्थना का आयोजन उन्ही के लिए है। स्वामीजी ने दो घोड़ों की गाड़ी पर बैठ नगर में प्रवेश किया। फूल, पत्ते व पल्लवों द्वारा सुशोभित फाटकों को लाँघकर जुलूस धीरे धीरे सजे हुए राजपथ पर से होता हुआ 'दारुचीनी' उद्यान के सामने एक विराट् मण्डप के नीचे आ पहुँचा। स्वामीजी के गाड़ी से उतरने के साथ ही सैकड़ों व्यक्ति उनकी पदधूलि लेने लगे। माननीय कुमारस्वामी ने उनके सामने प्रणत होकर अभिनन्दन-पत्र समर्पण किया।

उपस्थित जनता के उत्साहपूर्ण आनन्द व कोलाहल के बीच स्वामीजी अभिनन्दन-पत्र का उत्तर देने के लिए खड़े हुए। प्रसंगवश उन्होंने कहा, "मैं कोई महाराजा अथवा धनकुबेर या प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ नहीं हूँ—निर्धन भिक्षाजीवी संन्यासी मात्र हूँ। आप लोगों ने मेरी जो सादर अभ्यर्थना की है, इससे मैं समझ रहा हूँ कि हिन्दू जाति अभी तक अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को खो नही चुकी है, नहीं तो एक संन्यासी के प्रति वह इतनी श्रद्धाभक्ति का प्रदर्शन क्यों करती ? अतः हे हिन्दुओ, अपनी जातीय जीवन की इस विशेषता को न खोओ। नाना प्रकार की विरुद्ध स्थिति के बीच भी धर्म के आदर्श पर दृढ़ता के साथ डटे रहो।"

इसके बाद स्वामीजी को विश्रामगृह में ले जाया गया। थोड़ी देर बाद उन्होंने देखा कि जो लोग स्थानाभाव के कारण मण्डप में उनका दर्शन नही कर सके थे, वे गृहद्वार पर आकर एकत्रित हुए हैं। स्वामीजी ने बरामदे में उनके सम्मुख खड़े होकर मृदु हास्य से नमस्कार किया। सभी लोग आग्रह और भक्ति से उनकी पदधूलि लेने लगे। स्वामीजी ने 'नारायण' कहकर सबको आशीर्वाद दिया।

१६ जनवरी को तीसरे प्रहर उन्होंने फ्लोरल हॉल में एक भाषण दिया। पाश्चात्य देश से लौटने के बाद यही उनका सर्वप्रथम भाषण हुआ। भाषण का विषय था—"पुण्यभूमि भारतवर्ष"।

स्वामीजी के प्रियतम शिष्य श्री गुडविन के, जो संकेतलिपि लिखने में प्रवीण थे, अथक परिश्रम से ही हमने आचार्यदेव के व्याख्यानों को पुस्तक के रूप में प्राप्त किया है। श्री गुडविन सदैव छाया की तरह श्री गुरुदेव के साथ रहा करते थे—स्वामीजी

के भाषणों को पढ़ते समय उनकी पुण्य-स्मृति से हृदय स्वतः ही कृतज्ञता से परिपूर्ण हो उठता है। श्रीरामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित 'भारत में विवेकानन्द'* नामक पुस्तक में स्वामीजी के इस देश में दिये हुए भाषणों को लोगों ने पढ़ा ही है। अतः हम केवल आवश्यकतानुसार स्थान स्थान पर उसका उल्लेख मात्र करेंगे।

दूसरे दिन का अधिकांश समय आचार्य गुरुदेव ने दर्शकों के साथ धर्मचर्चा में बिता दिया। तीसरे प्रहर वे स्थानीय शिव-मन्दिर का दर्शन करने गये। रास्ते में अगणित व्यक्ति उन्हें फूल, फल, माला आदि का उपहार देने लगे। ऊँचे मकानों की अट्टालिकाओं से नारीवृन्द पुष्प व गुलाबजल की वर्षा करने लगे। मन्दिर के दरवाजे पर उपस्थित होने के साथ ही 'जय महादेव' की ध्वनि के साथ एकत्रित जनता ने उनकी अभ्यर्थना की। श्री-मन्दिर के दर्शन व प्रदक्षिणा के पश्चात् पुरोहितों के साथ थोड़ी देर वार्तालाप करके वे अपने निवासस्थान पर लौट आये। कुछ शास्त्रज्ञ ब्राह्मण पण्डित उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। रात्रि के करीब ढाई बजे तक स्वामीजी ने उनके साथ शास्त्रचर्चा की और दूसरे दिन प्रातःकाल कोलम्बो के पब्लिक हॉल में वेदान्त-दर्शन पर उन्होने एक विस्तृत भाषण दिया। इस सभा में कुछ भारतवासी यूरोपीय पोशाक पहनकर आये थे। चाल-चलन व भावभंगी में भी उन्हें अंग्रेजों का अनुकरण करते देख स्वामीजी ने दुःखी होकर उन्हें मूढ़ की तरह दूसरों के अनुकरण की प्रवृत्ति को छोड़ अपनी जातीयता को अपनाने तथा बनाये रखने का उपदेश दिया।

---

* यह पुस्तक श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित हुई है।

१९ जनवरी को उन्होंने कोलम्बो से स्पेशल ट्रेन द्वारा काण्डी की ओर यात्रा की। इससे पूर्व स्वामीजी का विचार कोलम्बो से जहाज द्वारा मद्रास पहुँचने का था, परन्तु सीलोन व दक्षिण के अनेक स्थानों से लगातार इतने आग्रहपूर्ण तार आने लगे कि उन्होंने उक्त विचार छोड़ दिया और अन्त में रेल द्वारा ही उन्होने मद्रास जाने का निश्चय किया।

काण्डी में हिन्दू समाज की ओर से दिये गये अभिनन्दनपत्र का संक्षेप में उत्तर देकर स्वामीजी जाफना की ओर चले। बौद्ध युग की प्राचीन कीर्ति के लिए विख्यात नगरी अनुराधापुरम् में स्वामीजी ने वहाँ के निवासियों के अनुरोध से 'उपासना' के सम्बन्ध में एक भाषण दिया। बुद्धगया के बोधिद्रुम की शाखा से उत्पन्न महान् प्राचीन वट-वृक्ष के नीचे सभा का आयोजन हुआ था। अनुराधापुरम् से जाफना १२० मील है। स्वामीजी अपने साथियों के साथ बैलगाड़ी पर सवार होकर धीरे-धीरे जाने लगे। प्रतिदिन रास्ते में गाँवों के सैकड़ों हिन्दू व बौद्ध उनके दर्शन के लिए खड़े रहते थे। स्वामीजी को आश्चर्य हुआ कि उनके शिकागो-भाषण की सफलता का समाचार सीलोन के गाँवों में रहनेवाले किसानों तक को ज्ञात है।

सन्ध्या के समय स्वामीजी जाफना पहुँचे। खूब सजे सजाये राजपथ के बीच में से धीरे धीरे जुलूस आगे बढ़ा। वहाँ के हिन्दू कालेज के प्रांगण में एक सुन्दर मण्डप तैयार किया गया था। स्वामीजी को वहाँ पर ले जाया गया। करीब पन्द्रह हजार व्यक्ति जुलूस में सम्मिलित हुए थे। नागरिकों का आनन्द व उत्साह अपार था। जाफना में अभिनन्दन-पत्र का सक्षिप्त उत्तर देकर दूसरे दिन आचार्यदेव ने वेदान्त के सम्बन्ध में भाषण दिया।

सीलोन का भ्रमण समाप्त हुआ। जाफना से एक स्टीमर किराये पर लेकर स्वामीजी ने अपने शिष्यगण व गुरुभाई स्वामी निरंजनानन्दजी के साथ भारतवर्ष की ओर यात्रा की। पहले से ही समाचार पाकर रामनद के राजा भास्करवर्मा बहादुर समस्त जनता के साथ पाम्बन में उपस्थित हुए। विराट जनसमूह समुद्रतट पर अधीर होकर स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगा। स्टीमर से किनारे पर उतरकर स्वामीजी राजा बहादुर की सुसज्जित 'बोट' पर चढ़े।

'प्रचारशील हिन्दू' धर्म के सर्वप्रथम प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द के भारतीय भूमि पर शुभ पदार्पण करने के साथ ही सम्मिलित समस्त जनमूह एक ध्वनि से उनकी जय-जयकार कर उठा। रामनद के नरेश भूमि पर लोटकर स्वामीजी के श्रीचरणों में नतमस्तक हुए और उनके साथ ही अन्य सहस्त्र-सहस्त्र मस्तक भूमि को स्पर्श करने लगे। सन्ध्या के लाल व धूसर आकाश के नीचे सहस्त्र-सहस्त्र व्यक्तियों की स्वाभाविक उत्कट भक्ति से पूर्ण यह महिमामय दृश्य भारत के इतिहास में अपना अपूर्व स्थान रखता है। आचार्यदेव ने राजाजी तथा आसपास के अन्य सज्जनों को भूमि से उठाकर आशीर्वाद दिया। समुद्रतट पर सुन्दर शामियाने के नीचे नागलिंगम् पिल्ले महोदय ने पाम्बन के अधिवासियों की ओर से स्वामीजी को एक अभिनन्दन पत्र दिया। रामनद नरेश व एम. के. नायर महोदय के भावपूर्ण भाषणों के बाद स्वामीजीने पाम्बन-निवासियों को धन्यवाद देकर मर्मस्पर्शी भाषा में एक छोटासा भाषण दिया। अन्त में उन्होंने कहा, "रामानद नरेश ने मुझसे जो स्नेह दिखाया है, इसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता भाषा द्वारा प्रकट करने मे मै असमर्थ हूँ और यदि

मेरे द्वारा थोड़ा भी सत्कार्य हुआ है तो इसके लिए भारतवर्ष इस महापुरुष का ऋणी है, क्योंकि मुझे शिकागो भेजने की कल्पना इन्हीं के मन में पहलेपहल उठी थी। उन्होंने ही मेरे मस्तिष्क में यह भावना प्रविष्ट की थी और उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए मुझे बारम्बार उत्तेजित भी किया था। इस समय वे मेरे पास खड़े होकर अपने स्वाभाविक उत्साह के साथ और भी अधिक कार्य की आशा कर रहे हैं। यदि इनकी तरह और कुछ नरेश हमारी प्यारी मातृभूमि के कल्याण के लिए आगे बढ़कर राष्ट्रीय उन्नति की चेष्टा करें तो बहुत ही अच्छा है।

सभा समाप्त होने पर स्वामीजी को उनके लिए निश्चित निवासस्थान पर ले जाया गया। राजाजी के आदेशानुसार गाड़ी से घोड़ों को खोल दिया गया और उपस्थित व्यक्तिगण, यहाँ तक कि स्वयं राजा बहादुर भी उस गाड़ी को खीचकर ले जाने लगे। दूसरे दिन स्वामीजी प्रसिद्ध श्रीरामेश्वर मन्दिर का दर्शन करने गये। कोई पाँच वर्ष पूर्व इसी स्थान पर स्वामीजी ने अपने परिव्राजकव्रत का उद्यापन किया था। उस समय वे एक अपरिचित संन्यासी मात्र थे। गाड़ी जब मन्दिर के सामने पहुँची तो हाथी, ऊँट, घोड़े तथा मन्दिरों के चिह्न से युक्त झण्डों व संगीतमण्डली के साथ एक विराट् जुलूस ने स्वामीजी की अभ्यर्थना की। उन्होंने मन्दिर में प्रवेश कर सहस्र स्तम्भों से सुशोभित विराट् भवन व विशाल मन्दिर के अपूर्व कारुकार्य-समूह का दर्शन किया। देवदर्शन समाप्त होने पर स्वामीजी को मन्दिर के बहुमूल्य मणि, मुक्ता, हीरक आदि दिखाये गये। अन्त में उनसे भाषण देने के लिए प्रार्थना की गयी। स्वामीजी ने अंग्रेजी भाषा मे भाषण दिया। उसके बाद श्री नागलिंगम् ने

तमिल भाषा में उसका अनुवाद करके जनसाधारण को समझा दिया। स्वामीजी ने भारत के अन्यतम पवित्र धाम के मन्दिर के प्रांगण में खड़े होकर घोषित किया—"यत्र जीव तत्र शिव।" इस महामन्त्र में अनुप्राणित होकर प्रत्येक नर-नारी की सेवा में अग्रसर होना ही वास्तव में शिवभक्ति है। जो व्यक्ति केवल बैठे बैठे उनके अंगप्रत्यंग, आँख, कान, नाक आदि की अपूर्व सुन्दरता की प्रशंसा करते हुए स्तोत्रों का पाठ करके केवल प्रतिमा की ही सेवा में लगे रहते हैं, वे प्रवर्तक मात्र हैं, उनकी भक्ति परिपक्व नहीं हुई है।

उस दिन स्वामीजी के शुभागमन के उपलक्ष्य में हजारों दरिद्र-नारायणों को बड़े आनन्द से भोजन कराया गया। वस्त्र व धन बाँटे गये। भारतीय भूमि के जिस स्थान पर स्वामीजी ने पहले पहल चरण रखे थे, उस पुण्यभूमि पर भक्तिमान रामनद-नरेश ने चालीस फीट ऊँचा एक स्मृतिस्तम्भ बनवा दिया। उस स्तम्भ पर लिखा है—

"Satyameva Jayate—This monument erected by Bhaskara Sethupathi, Raja of Ramnad, marks the sacred spot, where His Most Holiness Swami Vivekananda's blessed feet first trod on Indian soil together with the Swamiji's English disciples on His Holiness' return from the Western hemisphere where glorious and unprecedented success attended His Holiness' philanthropic labours to spread the religion of Vedanta, on the 27th January 1897."

"सत्यमेव जयते—जिस स्थान पर महात्मा स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य जगत् मे वैदान्तिक धर्म की विजय-वैजयन्ती को प्रोत्थित कर अद्वितीय दिग्विजय के बाद अपने अंग्रेज शिष्यों के

साथ भारतीय भूमि पर अपने पवित्र पदपंकजों को पहलेपहल रखा था, उस पुण्य स्थान को चिह्नित करने के उद्देश्य से यह स्मृतिस्तम्भ रामनद नरेश राजा भास्कर सेतुपति द्वारा २७ जनवरी सन् १८९७ ई० को निर्मित किया गया।"

यहाँ से स्वामीजी ने रामनद की ओर यात्रा की। राजा बहादुर की व्यवस्था के अनुसार रामनद के निवासियों ने पहले से ही यथायोग्य अभ्यर्थना के लिए तैयारी की थी। स्वामीजी के बोट से सरोवर के तट पर उतरते ही उनके सम्मान के लिए राजभवन से तोपों की ध्वनि होने लगी। नगर के सुसज्जित राजपथ से होकर राजा बहादुर की गाड़ी पर चढ़े हुए स्वामीजी धीरे धीरे जाने लगे। राजा बहादुर, राजभ्राता तथा अन्य विशिष्ट कर्मचारीगण उनके पीछे पीछे पैदल चलने लगे। अंग्रेजी व देशी बाजे एक तान से बजने लगे। उनके पहुँचने के पहले से ही अभ्यर्थना-मण्डप भक्तों तथा दर्शकों से भर चुका था। भक्तों के साथ स्वामीजी को आते देख दर्शकगण ने जयध्वनि के साथ उनका स्वागत किया। यथोचित भाषण देकर राजा बहादुर ने सभा का उद्‌घाटन किया। उसके बाद राजा बहादुर के आदेशानुसार उनके भाई राजा दिनकर वर्मा सेतुपति ने अभिनन्दनपत्र पढ़कर सुनाया। अभिनन्दनपत्र के उत्तर में स्वामीजी ने एक विस्तृत भाषण दिया। राजा बहादुर ने प्रस्ताव किया कि स्वामीजी के शुभागमन के उपलक्ष्य मे मद्रास दुर्भिक्ष-भण्डार के लिए जनसाधारण से चन्दा इकट्‌ठा कर भेजा जाय। प्रस्ताव बड़े हर्ष के साथ सर्व सम्मति से स्वीकृत हुआ और उसके बाद सभा विसर्जित हुई।

परमकुड़ी, मानमदुरा, मदुरा, त्रिचनापल्ली व तंजोर आदि

नगरों में अनेक प्रकार से अभिनन्दित होकर स्वामीजी ने कुम्भ-कोणम् में पदार्पण किया। कुम्भकोणम्निवासी हिन्दुओं ने भी स्वामीजी को दो अभिनन्दन पत्र दिये। अभिनन्दन के उत्तर में स्वामीजी ने वेदान्त पर एक विचारपरिप्लुत भाषण दिया। इस विचार से कि मद्रास में जाकर उन्हें बहुत ही अधिक परिश्रम करना पड़ेगा, उन्होंने कुम्भकोणम् मे तीन दिन विश्राम किया और उसके बाद वे मद्रास की ओर रवाना हुए।

विवेकानन्द मद्रास आ रहे हैं, यह समाचार पाकर मद्रास के निवासी उनकी सादर अभ्यर्थना के लिए पहले से ही तैयार हो गये। माननीय न्यायमूर्ति सुब्रह्मण्य अय्यर महोदय के नेतृत्व में अभ्यर्थनासमिति संगठित हुई। प्रत्येक भवन के शिखर पर रंगबिरंगे झण्डे फहरने लगे, राजपथों को बड़े बड़े तोरणों से सुसज्जित किया गया तथा सारी मद्रास नगरी अपूर्व रूप से सुशोभित होकर स्वामीजी की सादर अभ्यर्थना के लिए उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगी। ६ फरवरी को प्रातःकाल होते ही नगर-निवासी दल के दल रेलवे स्टेशन की ओर चल पड़े। प्लेटफार्म पर ट्रेन के आते ही सहस्र सहस्र कण्ठों से निकली हुई जय-ध्वनि ने आकाश को विदीर्ण कर दिया। पुण्यमूर्ति विवेकानन्द के गाड़ी से उतरते ही अभ्यर्थनासमिति के सदस्यों ने आगे बढ़कर उन्हें पुष्पमालाओ से विभूषित किया। स्वामीजी कुछ मिनिट उपस्थित मान्य व्यक्तियों के साथ वार्तालाप करने के बाद गाड़ी पर चढ़े। न्यायमूर्ति सुब्रह्मण्य अय्यर, स्वामी निरंजनानन्द व स्वामी शिवानन्द उसी गाड़ी में स्वामीजी के साथ बैठे और गाड़ी धीरे धीरे अटर्नी बिलीग्रामी अयंगर महोदय के 'कैसल कर्नान' नामक प्रासादोपम भवन की ओर बढ़ी। थोड़ी दूर बढ़ने पर अनेक

उत्साही युवकों ने गाड़ी से घोड़ों को अलग कर दिया और उसे स्वयं खीचकर ले जाने लगे। रास्ते में स्वामीजी के ऊपर लगातार फूलो की वर्षा होती रही। सैकड़ों स्त्रीपुरुष बड़ी श्रद्धा से उन्हें नारियल तथा अन्य फलो का उपहार देने लगे। कोई कोई भद्र महिलाएँ राजपथ पर खड़ी होकर पंचप्रदीपों से उनकी आरती उतारने लगीं तथा श्रद्धा व भक्ति से पुष्प व चन्दन द्वारा उन्हे अर्घ्यदान देने लगी। इस अपूर्व अभ्यर्थना के बीच एक बड़ा मधुर दृश्य हुआ—एक उच्च वंश की वृद्ध महिला कम्पित पद से जनता को चीरती हुई गाड़ी के पास आ पहुँची। स्वामीजी का दर्शन करते ही वह भाव से गद्‌गद हो गयी, उसकी दोनों आँखों से आनन्द के आँसू निकल पड़े, क्योंकि उसका स्थिर विश्वास था कि स्वामीजी साक्षात् शिवजी के अवतार है, अत: उनके दर्शन करने के साथ ही उसके सभी पाप व मलिनताएँ लुप्त हो गयीं—अब इसमे सन्देह नहीं कि अन्त में वह शिवलोक को प्राप्त होगी। इस पवित्र दृश्य को देखकर सभी उपस्थित व्यक्ति विस्मित हो गये।

स्वामीजी के मद्रास में शुभागमन के उपलक्ष्य मे हिन्दुओं में जो उत्साह व उमंग देखा गया था, उसके सम्बन्ध मे विख्यात 'हिन्दू' पत्र ने लिखा था,—

"आज रेलवे स्टेशन पर स्वामी विवेकानन्द की अभ्यर्थना के लिए उपस्थित विराट् जनसमूह के उत्साह व धर्मानुराग का उचित रूप से वर्णन करना असम्भव है। मद्रास के प्रमुख व्यक्तियों ने उपस्थित होकर विश्वविख्यात संन्यासी का जो गौरवपूर्ण स्वागत किया है, इससे इस महादेश की अन्तर्निहित धार्मिक शक्ति स्पष्ट रूप से प्रकट हो गयी है। भारत मे धर्म-

संस्कारों को चिरकाल से ही इसी प्रकार की अभ्यर्थनाएँ प्राप्त हुई हैं। कट्टरपन ही हिन्दू जाति के चरित्र की विशेषता नहीं है और यह भी नहीं है कि वर्तमान आचार व्यवहारों का परिवर्तन अवांछनीय है—यदि किसी पुरानी प्रथा को दूर कर किसी नये नियम का प्रचार करना हो तो स्वामी विवेकानन्द जैसे व्यक्ति को ही अधिकारी बनकर उसे सम्पन्न करना चाहिए। जब कोई धीरहृदय पवित्र-आत्मा तथा सच्चा संस्कारक निष्काम होकर व्यक्तिगत उद्देश्यसिद्धि की इच्छा को छोड़कर जनकल्याण के उद्देश्य से दृढ़ता के साथ अग्रसर होता है, तो आचार-नियम शून्य में लुप्त हो जाते हैं, चिरकाल की धारणाएँ व आदर्श आवश्यकतानुसार दूर फेंक दिये जाते हैं तथा बद्धमूल रूढ़ियाँ, रीतिनीति व मतवाद विलुप्त हो जाते हैं। स्वामीजी के प्रचार-कार्य की सफलता का यही एक रहस्य है। समुद्र लाँघकर वे विदेशों में वेदान्त का झण्डा उठाकर ले गये थे, इसलिए हम चिराचरित प्रथा के अनुसार उनकी सादर अभ्यर्थना कर रहे हैं। उनके प्रति हमारी सादर श्रद्धा के साथ हमारा विश्वास है कि पाश्चात्य देशों में उनके द्वारा जिस प्रकार वहाँ की जनता का कल्याण हुआ है, उसी प्रकार उनके द्वारा इस देश में भी जनसाधारण का विशेष कल्याण होगा।"

दूसरे दिन रविवार को प्रथा के अनुसार अभ्यर्थनासमिति की ओर से स्वामीजी को अभिनन्दनपत्र दिया गया। खेतरी महाराजा द्वारा भेजा हुआ अभिनन्दनपत्र समर्पित होने के बाद क्रम से विभिन्न सम्प्रदाय, सभा व समितियों की ओर से दिये हुए संस्कृत, तामिल, तेलगु आदि भाषाओं में कोई बीस अभिनन्दनपत्र पढ़े गये। सभास्थान में दस हजार से भी अधिक व्यक्ति एकत्रित

हुए थे, जिनमें से अधिकांश हॉल में स्थान न पाकर बाहर ही प्रतीक्षा कर रहे थे। अतः जनता के अनुरोध से स्वामीजी बाहर आकर एक गाड़ी के कोच बाक्स पर खड़े हो गये। उस समय लोगों को भगवान श्रीकृष्ण के रथ पर आरूढ़ होकर गीता का उपदेश देने का दृश्य स्मरण आ रहा था। ईश्वर की इच्छा से स्वामीजी यद्यपि इस ढंग से भाषण देने का अवसर पाकर आनन्दित हुए, परन्तु श्रोताओं की जयध्वनि व आनन्दपूर्ण कोलाहल के कारण उनके लिए भलीभाँति भाषण देना असम्भव हो गया। अन्त में लाचार होकर स्वामीजी ने भाषण देने की चेष्टा न करते हुए संक्षेप मे यही कहा कि वे जनसमूह के इस अपूर्व उत्साह को देख बड़े आनन्दित हुए हैं, परन्तु इस उत्साह को मिटने न देना चाहिए। भविष्य में स्वदेश के लिए अनेक बड़े बड़े कार्यों में इसी प्रकार की प्रज्वलित उत्साहाग्नि की आवश्यकता होगी।

दूसरे दिन मद्रास के विक्टोरिया हॉल में पाँच हजार श्रोताओं के सम्मुख उन्होंने 'मेरी समर-नीति' शीर्षक प्रसिद्ध भाषण दिया। इसके बाद क्रम से 'भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रयोग' 'भारतीय महापुरुषगण,' 'हमारा वर्तमान कर्तव्य' तथा 'भारत का भविष्य' शीर्षक चार भाषण दिये। स्वामीजी ने मद्रास में शिष्य व भक्त मण्डली के साथ नौ दिन आनन्द के साथ व्यतीत किये। इसी समय एक दिन एक बहुत बड़े विद्वान स्वामीजी के साथ वेदान्त के सम्बन्ध में चर्चा करने के लिए आये। स्वामीजी का कथन सुनकर उन्होंने कहा, "स्वामीजी, वेदान्त के अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि सभी प्रकार के मतवाद सत्य हैं, तथा ये चरम उपलब्धि के पथ में भिन्नभिन्न सीढ़ियाँ है—यह

बात तो पूर्वाचार्यों में से किसी ने नही कही।" आचार्यदेव ने मृदु हास्य के साथ उत्तर दिया, "यह कार्य मेरे ही लिए नियत था, इसीलिए मैंने जन्म ग्रहण किया है।"

आचार्यदेव जिस समय पाश्चात्य देशों में धर्म-प्रचार के कार्य में नियुक्त थे, उस समय वीरहृदय मद्रासी युवकों ने नाना प्रकार की निन्दा, व्यंग व विरोधिता सुनकर भी अविचलित रहकर श्रीगुरुदेव द्वारा प्रदर्शित पद्धति से वेदान्त के प्रचारकार्य में आत्मनियोग किया था। ये साहसी, लगनशील तथा पवित्रहृदय युवकगण धन्य है, जिन्होंने भस्माच्छादित अग्निस्वरूप स्वामीजी को सबसे पहले जगद्गुरु के रूप मे पहचान लिया था! आज चार वर्ष के बाद उनके आराध्यदेव के स्वदेश लौटने के उपलक्ष्य में मद्रास नगरी नौ दिन के विराट् महोत्सव का आयोजन कर रही है, यह देख उनके आनन्द की सीमा न रही। शिष्यगण मद्रास में स्थायी रूप से एक प्रचारकेन्द्र की स्थापना करने की बात सोचने लगे। मद्रास के प्रतिष्ठित व्यक्ति व जनसाधारण द्वारा आग्रह के साथ यह प्रस्ताव अनुमोदित होने पर उन्होंने स्वामीजी के पास अपनी प्रार्थना निवेदित की और अनुरोध किया कि उस प्रचारकेन्द्र की स्थापना के लिए वे मद्रास मे कुछ दिन और ठहरें। प्रचारकेन्द्र की स्थापना के संकल्प का स्वामीजी ने बड़े आनन्द के साथ अनुमोदन किया और वचन दिया कि इस कार्य के लिए वे शीघ्र ही एक सुयोग्य गुरुभाई को मद्रास भेज देंगे। तदनुसार थोड़े ही दिनों के बाद स्वामी रामकृष्णानन्द ने आकर मद्रास का कार्यभार ग्रहण किया। इसी बीच इधर कलकत्ते से आग्रहपूर्वक आमन्त्रण आने लगे। विशेष रूप से श्रीरामकृष्ण-देव का जन्मोत्सव भी निकट जानकर, गुरु को प्राणस्वरूप जानने-

वाले शिष्यों तथा स्वामीजी के मित्रों ने दुःख के साथ उन्हें कलकत्ता जाने के लिए विदा दी।

बहुत दिनों तक भारत के गाँव गाँव तथा नगर नगर मे भ्रमण कर स्वामीजी ने जनसाधारण की सामाजिक व अर्थनैतिक दुर्गति का गम्भीर सहानुभूति से निरीक्षण किया था और जैसा हम पहले ही कह चुके है, स्वामीजी का इस बात में विश्वास नष्ट हो चुका था कि उन्नति के लिए राजा-महाराजा, धनी व उच्च-वंशियों द्वारा किसी प्रकार से स्थायी रूप मे कोई सहायता मिल सकेगी। स्वामीजी का विश्वास था कि दाता के आसन पर बैठकर केवल दूर से ही पाश्चात्य लोकहितवाद के आदर्श पर स्कूल, कालेज व अस्पतालों की स्थापना कर देने से ही जनसाधारण की उन्नति नहीं होगी और दाता या उद्धारकर्ता के रूप मे नहीं बल्कि सेवक के रूप में अन्नवस्त्र, विद्या व ज्ञान लेकर जनसाधारण के बीच में श्रद्धा के साथ कर्म करने के लिए दृढ़हृदय कर्मियों की आवश्यकता है—स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रचारित सेवाधर्म की उत्पत्ति उन्हीं तत्त्वों से हुई है। इसी चिन्तन से उन्होंने भारतवर्ष की सेवा के लिए चरित्रवान, हृदयवान व बुद्धिवान युवकों का आह्वान किया—"भारत के निर्धन, भारत के पतित, भारत के पापियों की सहायता करनेवाला कोई मित्र नही है। * * * राक्षस की तरह निर्दयी समाज उन पर लगातार जो आघात करता आ रहा है, उसकी वेदना का अनुभव वे भलीभाँति कर रहे है, परन्तु वे नही जानते कि कहाँ से वह आघात आ रहा है। वे यह भी भूल गये है कि वे मनुष्य है, और इसका परिणाम है—दासत्व व पशुत्व।"

समाज की इसी हीन अवस्था के प्रतीकार के लिए वे चाहते

थे,--"लाखों नर-नारी पवित्रता के अग्निमन्त्र में दीक्षित होकर, भगवान में दृढ़ विश्वासरूपी कवच को धारण कर निर्धन पतित व पददलितों के प्रति सहानुभूति से उत्पन्न सिंहविक्रम के साथ कमर कसकर समस्त भारत का भ्रमण करें तथा मुक्ति, सेवा और समाज की उन्नति व समता के मंगलमय सन्देश का घर घर प्रचार करें।"

आचार्यदेव ने इस महान् व्रत के लिए जिन्हें बुलाया, उन्हें विशेष रूप से यह स्मरण रखने के लिए कहा, "प्रतिष्ठित उच्च-पदस्थ अथवा धनियों पर कोई भरोसा न रखो। भरोसा तुम्हारे ही ऊपर है,—पदमर्यादाहीन निर्धन किन्तु विश्वासी तुम्हीं लोगों पर भरोसा है। * * * मैं बारह वर्ष तक हृदय में इस भार को और मस्तिष्क में इस चिन्ता को लेकर घूमा हूँ। मैं तथाकथित अनेक धनी व बड़े आदमियों के घर घर गया हूँ। उन्होंने मुझे जुआचोर समझा है।"

पाश्चात्य देशों में उन्होंने विश्वमानव के कल्याण के लिए सार्वभौमिक धर्म के शाश्वत सत्य का प्रचार किया था और भारत में लौटकर उन्होंने हमारी जराजीर्ण सभ्यता, समाज व प्राणहीन धर्माचरण की गतानुगतिकता पर अति निर्मम आघात किया। उनके कोलम्बो से लेकर मद्रास तक के भाषणों में नवीन तत्त्व, नवीन भाव तथा नवीन कर्मशैली का परिचय पाकर देश के चिन्तनशील व हृदयवान व्यक्तियों ने समझा, नवयुग का प्रारम्भ करने योग्य अनुपम प्रतिभा व असाधारण हृदय लेकर ही यह संन्यासी स्वदेश के कर्मक्षेत्र में लौट आये हैं। जो किसी जाति की गतानुगतिक विचार व कर्मप्रणाली को तोड़ सकते हैं, तथा तोडकर उसका पुनर्निर्माण कर सकते हैं—उन युगप्रवर्तक

आचार्यदेव ने स्पष्ट भाषा में कहा—

"लगभग एक शताब्दि से हमारा देश, समाजसंस्कारकों तथा उनके तरह तरह के समाजसंस्कारसम्बन्धी प्रस्तावों द्वारा आच्छन्न होता रहा है। परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि इस सौ वर्ष के संस्कार आन्दोलन द्वारा समग्र देश का कोई भी स्थायी कल्याण सिद्ध नही हुआ है। *** गत शताब्दि में जिन सब संस्कारों के लिए आन्दोलन हुआ है, उनमें से अधिकांश दिखावे के ही थे। संस्कार की वे चेष्टाएँ केवल प्रथम दो वर्णों से सम्बन्धित थीं, अन्य वर्णों से नही। संस्कार करना हो तो ऊपर ऊपर देखने से काम न बनेगा। भीतर प्रवेश करना होगा, जड़ तक जाना होगा। *** दस वर्षो से भारतवर्ष के अनेक स्थानों में घूम फिरकर मैंने देखा कि समाजसुधार के लिए सभाओं तथा समितियों से देश छा गया है, परन्तु असल मे जिनका रक्त खींचकर 'भद्र' कहलानेवाले व्यक्तिगण 'भद्र' पुरुष बने बैठे हैं तथा बन रहे है, उन बेचारों के लिए एक भी सभा मैंने नही देखी।"

विवेकानन्द अपने पूर्ववर्ती संस्कारों की दोष-त्रुटियाँ निर्भीकता के साथ दिखाते हुए इस सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए बाध्य हुए थे कि, "संस्कारकों का उद्देश्य व्यर्थ हुआ है और इसका कारण यह है कि उनमें से बहुत कम व्यक्तियों ने अपने धर्म का भली-भाँति अध्ययन और चर्चा की है और उनमें से एक भी व्यक्ति उस साधना के पथ से नही गया है, जो 'सभी धर्मो के उत्पत्ति स्थल' को समझने के लिए आवश्यक है। ईश्वर की कृपा से मैं दावा करता हूँ कि मैंने इस समस्या की मीमांसा की है।

पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता व संस्कृति के सम्पर्क में आकर

भारत के नागरिक-जीवन में जो चंचलता उपस्थित हुई थी उसके परिणाम में दो-चार प्रतिभाशाली व उदारहृदय संस्कारकों ने प्राचीन समाज के प्रति विद्रोह की घोषणा की थी और इस विद्रोह से ही पाश्चात्य कार्यप्रणाली के निर्विचार अन्ध अनुकरण-मूलक संस्कारयुग का सूत्रपात हुआ। इस सारी चेष्टा में युरोपीय भाव की दासता को देख गम्भीर क्षोभ के साथ स्वामीजी ने इसका प्रतिवाद किया क्योंकि इसके सम्बन्ध में स्वामीजी के विचार इस प्रकार के थे--

(१) इस संस्कारयुग का कोई ऐतिहासिक बोध नहीं है। यह संस्कारयुग इस बात को बिलकुल नहीं समझ रहा है कि हिन्दू राष्ट्र कितनी बड़ी प्राचीन सभ्यता का वंशधर है, यह राष्ट्र कितने ही संस्कारों के बीच में से होकर युगयुगान्तर में कितने ही महापुरुषों को वक्ष पर धारण करता हुआ आज यहाँ पर आकर उपस्थित हुआ है,—तथा इस राष्ट्र का वर्तमान व भविष्य इसके उसी प्राचीन इतिहास द्वारा विशेष रूप से नियन्त्रित होगा।

(२) इस संस्कारयुग को जातीय विशेषत्व का कोई ज्ञान न था। संस्कारयुग ने इस बात को सोचने की चिन्ता भी नहीं की कि प्रत्येक जाति की एक विशेषता होती है, स्वतन्त्रता होती है,—जिसके लिए वह जीवित रहने की माँग कर सकती है, जिसके अभाव में उसका विनाश या मृत्यु अनिवार्य है। हिन्दू की जातीय विशेषता क्या है, यह भी वे नहीं समझे और न इस विषय में आत्मरक्षा की किसी प्रकार चेष्टा ही उन्होंने की। अपने देश या अपनी जाति के नाम पर कोई सार्थक अभिमान भी संस्कारयुग का न था और इसी कारण--

(३) संस्कारसम्प्रदाय के अन्यतम नेता आम सभा में यह कहने में तनिक भी लज्जित नहीं हुए कि, "मै हिन्दू नही हूँ और इस बात को स्वीकार करने को मैं तैयार हूँ।" इस संस्कारयुग का मानो यही एक मात्र उद्देश्य था कि जो कुछ भी हिन्दुओं का है तथा हिन्दुत्व है, वही घृणापूर्ण तथा त्याज्य है।

संस्कारकों की कार्यप्रणाली को स्वामीजी श्रद्धा की दृष्टि से देखने में असमर्थ रहे। उँगली पर गिने जाने योग्य कुछ अंग्रेजी-शिक्षित नागरिक व उच्च वर्णो के बीच जो आन्दोलन सीमित था वह समाज के सभी स्तरों में सम्प्रसारित नही हुआ। इसका कारण हमने पहले ही बताया है। जातीय जीवन से विच्छिन्न विजातीय तथा वैदेशिक भाव में अनुप्राणित संस्कारकों को लक्ष्य कर स्वामीजी ने अपने निजी आदर्श की इस प्रकार घोषणा की——

"संस्कारकों ने समाज को तोड़-मरोड़ कर जिस रूप में समाजसंस्कार की प्रणाली प्रदर्शित की है उसमें वे सफल न हो सके। इन संस्कारकों से मै कहना चाहता हूँ कि मै उनसे बड़ा संस्कारक हूँ। वे थोड़ा थोड़ा संस्कार चाहते हैं——पर मै चाहता हूँ जड़ से संस्कार। हमारा उनका भेद है केवल संस्कार की प्रणाली में। उनकी प्रणाली है तोड़ डालने की, और मेरी प्रणाली है संगठन की। मैं संस्कार में विश्वास नही करता, मै स्वाभाविक उन्नति में विश्वासी हूँ।"

पाश्चात्य देश से लौटकर स्वामीजी ने केवल ध्वंसमूलक संस्कार-आन्दोलन से ही अपने को पृथक् नही कर लिया, वरन् दूसरी ओर यह भी कह दिया कि सब प्रकार की सामाजिक उन्नति के विरोधी रक्षणशील समाज के युक्तिहीन कुसस्कारों के भी वे पक्षपाती नही है। उनकी गठनमूलक कार्यपद्धति का प्रथम

निर्देश है, समाज के सभी स्तरों में क्रमसंकोच के स्थान पर सम्प्रसारण की शक्ति का संचार करना। केन्द्रीभूत सामूहिक शक्ति अपने बल से जातीय जीवन के विकास की बाधाओं को दूर कर उसे आगे बढ़ने में प्रोत्साहित करेगी और इसी कारण वे किसी सामयिक संस्कार पर विश्वास नहीं कर सके। वे इस प्रकार विश्वास नहीं रखते थे कि समाज के किसी विशेष स्तर से कुछ आचार-व्यवहारों को उठा देने से अथवा कुछ नवीन आचार व्यवहारों को प्रचलित कर देने से ही जाति की उन्नति होगी।

समाज की दुर्गति व व्याधियों के प्रति वे कभी उदासीन नहीं रहे। वर्तमान समाज की उन्नति व स्वाभाविक स्वस्थता केवल कुछ प्रथाओं के परिवर्तन पर ही निर्भर नहीं है। इस शरीर में यदि कोई रोग प्रविष्ट हो जाता है तो वह भिन्न भिन्न अंगों में, भिन्न भिन्न रूप में प्रकट होता है। रोग व रोग के लक्षण दो अलग-अलग चीजें हैं। मूल व्याधि की चिकित्सा न कर केवल दृश्यमान लक्षणों को ही दूर करने की चेष्टा करने पर वे दूसरे रूप में प्रकट होते है। इसीलिए सामयिक प्रतीकार के उद्देश्य से लक्षणों को हटाने की चेष्टा न करते हुए मूल रोग को दूर करने की चेष्टा ही विवेकानन्द की संगठनमूलक कार्यपद्धति हैं। समाजशरीर के मूल रोग के प्रति इशारा करते हुए उन्होंने कहा है,—

"अपनी सब प्रकार की दुर्दशा, अवनति व दुःख के लिए हम ही जिम्मेदार है—और सिर्फ हम ही जिम्मेदार हैं। हमारे उच्चवंशीय पूर्वज भारतीय सर्वसाधारण जनता को पददलित करने लगे—क्रमशः वे असहाय हो गये। इस सतत अत्याचार से बेचारे निर्धन लोग धीरे धीरे यह भी भूल गये कि वे मनुष्य

हैं। शत शत सदियों से उन्होंने बाध्य होकर क्रीतदास की तरह केवल पानी भरा है और लकड़ी कांटी है। उन्हें ऐसा विश्वास करने के लिए शिक्षा दी गयी है कि गुलामी करने के लिए ही उनका जन्म है, पानी पिलाने तथा बोझा ढोने के लिए ही वे पैदा हुए है। और यदि कोई उनके प्रति दया प्रकट कर उनसे सहानुभूति की दो एक बातें कहने जाय तो—आधुनिक काल के शिक्षाभिमानी हमारे स्वजातीयगण इस पददलित जाति की उन्नति कराने मे संकुचित हो जाते हैं।"

वंशपरम्परा से अथवा जन्मगत कुल-सम्बन्धी गुणों की दुहाई लेकर जिस बर्बर व पाशविक मतवाद के द्वारा मनुष्य को हीन, अन्त्यज, पंचम आदि नाम दिये जाते है, उस मूढ़ता पर स्वामीजी ने तीव्र भाषा में आक्रमण किया है, क्योंकि यह विश्वास (और वह भी पाश्चात्यों के आसुरी मतवाद द्वारा पुष्ट) भारत के तथाकथित उच्च वर्णों की नस नस में मौजूद है। थोड़ासा विचार करने से स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि संस्कार की आवश्यकता यही पर है। बाहर से नही, भीतर से इस मानसिक श्रेष्ठत्व के अभिमानरूपी रोग को दूर करना होगा। इस भ्रान्त मतवाद पर आक्रमण करते हुए स्वामीजी ने कहा,—

"यदि वंशपरम्परा से भावसंक्रमण के नियमानुसार ब्राह्मण विद्या सीखने के लिए अधिकतर योग्य हैं तो ब्राह्मणों की शिक्षा के लिए धन व्यय न करके अस्पृश्य जाति की शिक्षा के लिए सारा धन लगा दो। दुर्बल की सहायता पहले करो। ब्राह्मण यदि बुद्धिमान होकर ही पैदा हुए हैं तो वे दूसरों की सहायता के बिना ही शिक्षा प्राप्त कर लेंगे। पर जो लोग बुद्धिमान होकर जन्म ग्रहण नहीं करते—शिक्षकों की आवश्यकता उन्हीं के लिए

है। मुझे तो यही न्याय व युक्ति-संगत प्रतीत होता है। अतः इन बेचारे दीनजनों को, भारत के इन पददलित मनुष्यों को उनका वास्तविक स्वरूप समझाना होगा। जाति, वर्ण तथा सबलता व दुर्बलता के भेदभाव को छोड़कर सभी स्त्री-पुरुषों एवं प्रत्येक बालक-बालिका को सुना दो तथा सिखा दो कि सबल, दुर्बल, उच्च, नीच सभी के हृदय में अनन्त आत्मा विद्यमान है—अतः सभी व्यक्ति महान् बन सकते हैं, सभी साधु हो सकते हैं।"

यही विवेकानन्द की व्यापक रूप से समाज-संस्कार की पद्धति है। वेदान्त के जिन सब तत्त्वों को 'पारमार्थिक' बताकर व्यावहारिक जगत् में उनका प्रयोग करने में प्राचीन भारत असमर्थ हुआ था तथा मानवात्मा की मंगल महिमा पर जन्मगत अपवित्रता का आरोप कर जिस गम्भीर अधःपतन का कारण उपस्थित किया गया था,—उसी कमी की पूर्ति के लिए स्वामीजी ने समाज के हित की दृष्टि से वेदान्त के तत्त्वों का कार्यरूप में प्रयोग करने का परामर्श दिया है। जिस अज्ञानता से भेदबुद्धि व सामाजिक वैषम्यवाद उत्पन्न हुआ है, उसे दूर करने के लिए उन्होंने नव्य भारत से कहा,—"वेदान्त के सब महान् तत्त्व केवल अरण्यों या पर्वतों की गुफाओं में ही सीमित न रहेंगे वरन् न्यायालयों में, उपासनागृहों में, गरीबों की कुटियों में, साधारण व्यक्तियों के घर में, छात्रों की पाठशाला में—सर्वत्र ये तत्त्व आलोचित तथा कार्यरूप में परिणत होंगे।" प्रत्येक जाति के, प्रत्येक वंश के तथा प्रत्येक समाज के प्रत्येक बालक-बालिका को उसी भाव में तैयार करने के लिए उन्होंने लोकशिक्षा का एक नवीन आदर्श उपस्थित किया।

आचार्यदेव समाज को अखण्ड रूप से ही लेते थे, वे अंश को

नहीं, वरन् समग्र को लेकर विचार करते थे। खण्ड-खण्ड रूप से किसी विशेष प्रथा को उठा देने के लिए विगत शताब्दि की व्यर्थ चेष्टा को दुहराने में शक्ति का क्षय न करते हुए वे जाति के प्रत्येक अंग मे स्वाभाविक स्वास्थ्य फिर से लौटा लाना चाहते थे। इस शरीर में यौवन के आगमन से जिस प्रकार सभी अंग पुष्ट व विकसित हो उठते हैं, उसी प्रकार जाति यदि स्वस्थ, बलशाली व क्रियाशील है तो जहाँ पर जिस संस्कार की आवश्यकता होगी वह स्वयं ही सुसम्पन्न हो जायगा। इसीलिए उन्होंने कहा है, "मै संस्कार में विश्वास नहीं रखता, स्वाभाविक उन्नति का विश्वासी हूँ।"

भारत के जातीय जीवन के पुनर्गठन में स्वामीजी के इस आदर्श को हम वैदान्तिक साम्यवाद कह सकते है। जिस तामसिक जड़वाद ने मनुष्य के पारस्परिक भेद व विषमता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है,—जिसने करोड़ों नरनारियों को नीच, अस्पृश्य तथा अन्त्यज मान लेना सिखाया है, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में मानवात्मा की मंगलमयी महिमा का प्रचार करना होगा। परन्तु आदर्श का प्रचार करने के लिए आदर्श चरित्रवान मनुष्य चाहिए। इस श्रेणी के मनुष्यो की तलाश मे स्वभावतः उन्होंने चरित्रवान व स्वदेशप्रेमी शिक्षित युवकों की ओर दृष्टिपात किया था। पर उन्होंने यह भी देखा था कि शिक्षित युवको में अनेक सद्गुण रहते हुए भी प्रचलित शिक्षापद्धति के दोष से मानो उनके जातीय चरित्र की रीढ़ की हड्डी टूटी जा रही है। जिस समय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् अथवा हिन्दू विश्वविद्यालय आदि की किसी ने कल्पना तक न की थी, उस समय स्वामीजी ने एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षासंस्था स्थापित करने का संकल्प व्यक्त किया

था, जिस पर विदेशियों का किसी प्रकार का अधिकार न हो। लौकिक शिक्षा को जातीय आदर्श के अनुकूल बनाने के लिए उनकी इच्छा थी कि वे भारत के अनेक केन्द्रों में अनेक शिक्षालयों की स्थापना करें। इन शिक्षालयों में शिक्षित युवक नये सिरे से शिक्षा प्राप्त करें और आचार्य, प्रचारक व लौकिक विद्या के शिक्षादाताओं के रूप में वे समाज के निम्नतर स्तर से शिक्षा देना प्रारम्भ करें। "एक ओर ब्राह्मण व दूसरी ओर चाण्डाल—चाण्डाल को धीरे धीरे ब्राह्मणत्व में उन्नत करना ही कार्यप्रणाली होगी।" "उच्चवर्णों की शिक्षा व सदाचार, जिन पर उनका तेज व गौरव निर्भर है, निम्नजातीयगण भी बेरोकटोक प्राप्त कर सकें।"—यही नवीन शिक्षाप्रणाली की विशेषता होगी।

कोलम्बो से मद्रास तक आचार्यदेव का प्रत्येक भाषण नवीन भारत का उद्बोधन-मन्त्र था। आत्मविश्वासहीन, जातीय ऐक्य-बोध से वंचित तथा अनेक आघातों से म्रियमाण भारतसन्तानों ने सुना,—

"आगामी पचास वर्ष तक तुम लोग एक मात्र 'स्वर्गादपि गरीयसी' जननी जन्मभूमि की आराधना करो—इन वर्षों में दूसरे देवताओं को भूल जाने में भी कोई हानि नहीं। दूसरे देवगण सो रहे हैं, इस समय तुम्हारा एक मात्र देवता है तुम्हारा राष्ट्र। सभी स्थानों में उसका हाथ है, उसके सतर्क कर्ण सभी जगह मौजूद हैं, वह सभी स्थानों में व्याप्त होकर विद्यमान है। तुम लोग किसी निष्फल देवता की खोज में दौड़ रहे हो और अपने सामने तथा चारों ओर जिस देवता को देख रहे हो, उस विराट् की उपासना नहीं कर रहे हो। *** ये सब मनुष्य तथा ये सब पशु ही तुम्हारे ईश्वर हैं और तुम्हारे स्वदेशनिवासीगण ही

तुम्हारे प्रथम उपास्य हैं।"

चिरकाल से शान्त भारतीय जनसमूह में एकाएक आविर्भूत होकर विवेकानन्द ने आँधी की तरह उसमें उथलपुथल मचा दी, भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक उनकी सत्य की अमोघ वीर्यपूर्ण वाणी फैल गयी। परन्तु कार्य कितना हुआ ? भगवान विष्णु ने जिस प्रकार तीसरे अवतार में समुद्रवेष्टित पृथ्वी को प्रलय-पयोधि से अमित शक्ति द्वारा खींचकर उठा लिया था, उसी प्रकार व्यग्रता व अधीरता के साथ भारत को हीनता के कीचड़ से खींचकर उबार लेने के लिए स्वामी विवेकानन्द ने अपने विशाल बाहुओं को प्रसारित कर दिया। परन्तु पाश्चात्य देशों से उनके लौटने के बाद जो उत्साह देखा गया था, वह स्थायी न हुआ। दो वर्ष, तीन वर्ष प्रतीक्षा करके भी विवेकानन्द को 'मातृमन्त्र में दीक्षित सहस्र युवक' प्राप्त न हुए। बेलुड़ मठ के गंगातट पर स्थित बिल्ववृक्ष के नीचे बैठकर विवेकानन्द ने अपने अन्तिम दिनों में खेद के साथ कहा था, जिन्हें बुलाया, वे न आये। अनेक शताब्दियों के संस्कार, गतिहीन जीवनयात्रा की गतानुगतिकता का पाषाणभार, इतने अल्प समय में दूर होने का नही था। बाणविद्ध केसरी की तरह क्षुब्ध गर्जना से लोकारण्य को प्रकम्पित कर नवभारत के मन्त्रगुरु चले गये, परन्तु उनका संकल्प अमर बना रहा। उनके देहत्याग के तीन वर्ष बाद ही हमने बंगाल के राष्ट्रीय जीवन में युगान्तकारी अकल्पनीय परिवर्तन देखा। स्वदेशी आन्दोलन से जाग्रत बंगाल ने अब पहचाना —विवेकानन्द कौन थे। उनकी प्राणप्रद, जीवनशक्तिसंचारिणी वाणी का नवीन बंगाल ने नये सिरे से अनुभव किया। विवेकानन्द के प्रथम दर्शन से जाग्रत भारत को आगे चलकर तिलक व

गान्धीजी के नेतृत्व में विशाल सामूहिक आन्दोलन के बीच राष्ट्रीय एकता व उन्नति का मूलसूत्र प्राप्त हुआ। भारत में मानवमुक्ति की साधना के लिए आज जो अथक चेष्टा हो रही है, इसको भविष्यदृष्टि के बल पर उसी समय प्रत्यक्ष रूप से देखकर विवेकानन्द ने कहा था, "अब केन्द्र भारतवर्ष है।"

१५ फरवरी सोमवार को स्वामीजी मद्रास से कलकत्ता जानेवाले जहाज पर चढ़े। कोलम्बो से मद्रास तक लगातार व्याख्यान, वार्तालाप, साक्षात्कार आदि से वे बहुत थक गये थे। लोकमान्य तिलक ने उनसे पूना आने के लिए बहुत अनुरोध करते हुए एक पत्र लिखा था, परन्तु प्रबल इच्छा होते हुए भी स्वामीजी ने पूना की यात्रा स्थगित रखी। कुछ दिन विश्राम की आशा से ही उन्होंने स्थल-पथ छोडकर जल-पथ से कलकत्ते की यात्रा की। मन ही मन वे सोच रहे थे, इन अभिनन्दनसभाओं तथा व्याख्यानों को समाप्त कर अब मैं हिमालय की गोद में विश्राम प्राप्त करूँगा।

स्वामी विवेकानन्द के भारत में लौटने का समाचार फैलने के समय से ही बंगाल प्रान्त और विशेष कर कलकत्ता शहर बड़ी उत्सुकता से उनके शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहा था। उनके मद्रास से समुद्रपथ द्वारा कलकत्ता आने का समाचार पाकर नागरिकों की ओर से संयोजित स्वागतसमिति अनेकानेक तैयारियाँ करने लगी।

स्वामीजी अपने शिष्यों के साथ जब जहाज पर से खिदिरपुर में उतरे तो उन्होंने देखा कि उन्हे स्यालदह ले जाने के लिए एक स्पेशल ट्रेन खड़ी है। प्रातःकाल ७।। बजे गाड़ी धीरे धीरे स्यालदह प्लेटफार्म पर आकर खड़ी हुई। गाड़ी की सीटी के

साथ ही सहस्र सहस्र सम्मिलित कण्ठों से उच्चारित 'जय श्रीरामकृष्णदेव की जय,' 'जय श्री स्वामी विवेकानन्दजी की जय' की ध्वनि से स्टेशन गूँज उठा। स्वामीजी ने ट्रेन से उतरकर हाथ जोड़ एकत्रित जनसमूह को प्रणाम किया। बाबू नरेन्द्रनाथ सेन तथा अभ्यर्थना समिति के प्रमुख सदस्यों ने अनेक कष्ट से भीड़ को पार कर उनके सम्मुख उपस्थित होकर उनकी सादर अभ्यर्थना करते हुए तरह तरह की पुष्पमालाओं से उन्हें विभूषित किया। सहस्र सहस्र सम्मान व आग्रहपूर्ण नेत्रों को अपनी ओर आकृष्ट करते हुए कीर्तिमान संन्यासी ने श्रीमान तथा श्रीमती सेविअर के साथ चार घोड़ेवाली गाड़ी में आरोहण किया। युवकगण गाड़ी से घोड़ों को खोलकर स्वयं ही उसे खीचकर ले जाने लगे। पत्र, पुष्प, पल्लव, ध्वजा, पताका आदि से सुशोभित तीन सुन्दर तथा सुसज्जित फ़ाटकों को लाँघकर गाड़ी रिपन कालेज में आ पहुँची। वहाँ पर कुछ देर, आये विद्वानों को समयोचित वार्तालाप द्वारा परितृप्त कर स्वामीजी ने उनसे विदा ली। उस दिन अपने गुरुभाइयों के साथ भिक्षा ग्रहण करने के लिए उन्हें पहले से ही बागबाजार के राय पशुपतिनाथ बहादुर के भवन में आमन्त्रित किया गया था। दोपहर वहीं बिताकर तीसरे प्रहर वे अपने साथियों के साथ काशीपुर के गोपाललाल शील महोदय के बगीचेवाले मकान मे आये। उनके पाश्चात्य शिष्य व शिष्याओं के साथ विश्राम करने के लिए इस भवन को अभ्यर्थना-समिति के अधिकारियों ने अस्थायी रूप से दे दिया था।

प्रात:काल से सायंकाल तक दर्शकों की भीड़ लगी रहती थी—कोई तत्त्व के जिज्ञासु थे तो कोई केवल कौतूहलयुक्त दर्शक थे। विश्राम में विघ्न होने पर भी स्वामीजी असन्तुष्ट न होकर

बड़े आदरपूर्वक सभी से वार्तालाप करते थे और रात को आलमबाजार मठ में जाकर भविष्य कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में गुरुभाइयों के साथ चर्चा करते थे। अब भारत तथा बंगाल के अनेक स्थानों से आग्रहपूर्ण निमन्त्रण आने लगे, परन्तु स्वामीजी कुछ दिन कलकत्ते में रहकर अपने आदर्श का प्रचार तथा प्रचार-कार्य की सुविधा के लिए संघस्थापना का उद्योग करने लगे।

एक सप्ताह के बाद २८ फरवरी को कलकत्ता निवासियों की ओर से सर राजा राधाकान्त देव के शोभाबाजार के प्रासाद के विशाल प्रांगण मे एक अभिनन्दन सभा बुलायी गयी। विशिष्ट नागरिक, पण्डित, उच्च यूरोपीय अधिकारीगण तथा विशेष रूप से कालेजों के विद्यार्थी नियत समय से पहले ही सभा में उपस्थित हो गये। लगभग पाँच हजार व्यक्ति उस सभा मे सम्मिलित हुए थे। स्वामीजी के सभाभवन मे प्रविष्ट होते ही एकत्रित जनता ने बड़े सम्मानपूर्वक खड़े होकर उनकी जयध्वनि का उच्चारण किया। विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा शिष्टाचार व कुशल प्रश्नादि के बाद सभापति राजा विनयकृष्ण देव बहादुर ने खड़े हो, अभिनन्दनपत्र पढ़ा तथा उसे चाँदी के पात्र में रखकर स्वामीजी को अर्पित क्रिया। अभिनन्दनपत्र में पाश्चात्य देशों में वेदान्त, हिन्दू सभ्यता व संस्कृति के प्रचार करनेवाले संन्यासी को भारत तथा बंगाल के मुख को उज्ज्वल करनेवाली सन्तान कहकर उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की गयी थी।

अपनी जन्मभूमि में सहस्र सहस्र स्वदेशवासी और विशेष रूप से युवकों से हार्दिक अभ्यर्थना पाकर स्वामीजी ने जो अपूर्व भाषण दिया था, उसे समग्र जनता ने मन्त्रमुग्ध की तरह सुना। लोगों को ऐसा प्रतीत होता था मानो ये कोई नवीन व्यक्ति हैं

और नवीन स्वर से बातें कर रहे हैं, मानो भारत की शाश्वत आत्मा शरीर धारण करके नवीन भारत को नवीन आशा द्वारा संजीवित करने के लिए अमृत-वाणी, अभय-वाणी का उच्चारण कर रही है। भारतवर्ष की परम आवश्यकता की उपलब्धि के लिए उन्होंने जिस तपस्या के साथ जीवन को व्यतीत किया है वही मर्मकथा सर्वप्रथम उनके कण्ठ से व्यक्त हुई:—

"मनुष्य अपनी मुक्ति की चेष्टा से जगत्प्रपंच के साथ अपने सम्बन्ध को सम्पूर्ण रूप से विच्छिन्न करना चाहता है। मनुष्य अपने आत्मीय-स्वजन, स्त्री-पुत्र-परिवार, मित्र-सम्बन्धियों की माया हटाकर संसार से दूर--अति दूर भाग जाना चाहता है। वह चेष्टा करता है कि देह से उत्पन्न सभी सम्बन्धों को तथा पुराने सभी संस्कारों को त्याग दे।—यहाँ तक कि मनुष्य स्वयं साढ़े तीन हाथ के शरीर को धारण करनेवाला मानव है, यह भी भूल जाने के लिए प्राणपण से चेष्टा करता है; परन्तु अपने हृदय के अन्तर्भाग मे वह सदा एक ही मृदु अस्फुट ध्वनि सुनता है, उसके कान में सदा एक ही सुर गूँजता रहता है और न जाने कौन दिन रात उसके कान मे धीरे धीरे कहता रहता है, 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' "

एक ओर व्यक्तिगत मुक्ति की कामना, दूसरी ओर राष्ट्रीय जीवन में उन्नतिशील गतिवेग का संचार कर समष्टि की मुक्ति —इन दो आपातविरोधी आदर्शों के संघर्ष को हमने उनके साधक व परिव्राजक जीवन में बार बार देखा है। मुक्ति के इस महान् प्रयत्न की सर्वश्रेष्ठ चेष्टा में समाधिकामी साधक ने कन्याकुमारी में भारतवर्ष के अन्तिम शिलाखण्ड पर बैठकर देह-त्याग का संकल्प किया था, परन्तु नामरूप-विहीन ब्रह्मसमाधि

के स्थान पर उनके ध्यान में जननी जन्मभूमि का रूप प्रकट हुआ। अश्रुपूर्ण नेत्रो से उन्होंने कहा था, "जननी, मैं मुक्ति नही चाहता, तुम्हारी सेवा ही मेरे जीवन का एकमात्र अवशिष्ट कर्म है।"

इस साधना द्वारा प्राप्त स्वदेशप्रेम-यज्ञ के उद्बोधन के लिए महाभाग ऋत्विग् ने उदात्त कण्ठ से वेद-मन्त्र का उच्चारण कर अपने प्रिय यजमान भारतीय युवको को पुकारा था। उस अविनश्वर वाणी के पवित्र कम्पन से भारत का वायुमण्डल परिपूर्ण हो रहा है—उस कम्पन में स्वदेशप्रेमी साधक की हृदयरूपी वीणा के तारो मे चिरकाल ध्वनित होता रहेगा—"मै तुम्हारे पास इन गरीब, अज्ञ, अत्याचारपीड़ितो के लिए सहानुभूति, यह प्राणपण चेष्टा दाय के रूप में दे रहा हूँ। जाओ, इसी मुहूर्त में उस पार्थसारथी के मन्दिर में जो गोकुल में दीन, दु:खी, गरीब गोपों के सखा थे, जिन्होंने अपने बुद्ध अवतार में राजपुरुषों के आमन्त्रण को अस्वीकृत कर एक वेश्या का निमन्त्रण ग्रहण करके उसका उद्धार किया था; जाओ, उनके पास जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सामने एक महान् बलिदान दो; बलिदान —जीवन का बलिदान और वह भी उनके लिए, जिनके लिए वे युग युग में अवतीर्ण होते है, जिनसे वे सबसे अधिक प्यार करते हैं, उन दीन, दु:खी, पतित, उत्पीड़ितों के लिए। तुम लोग समग्र जीवन भर इन तीस करोड़ भारतवासियों के उद्धार का व्रत ग्रहण करो, जो दिन पर दिन डूब रहे है।"

अपनी जन्मभूमि मे खड़े होकर विवेकानन्द ने 'कल्पना-प्रिय, भावुक' नाम से उपहासित बंगाली युवकों से मातृभूमि के लिए महान् बलिदान की प्रार्थना की। "वीर बनो, श्रद्धासम्पन्न बनो,

युवावस्था मे परम कारुणिक श्रीरामकृष्णदेव को गुरु के रूप में न पाते, तो सम्भव है हम उन्हे दयानन्द की तरह विद्रोही देखते। विशाल भारतवर्ष मे उन्हे कुछ भी अच्छा नही दिखायी पड़ा। वे जहाँ भी जाते केवल देखते अज्ञता, कुसस्कार, शिथिल धर्म-विश्वास व घोर अध:पतन की जड़स्वरूप बुद्धिविहीन लोकाचार तथा लक्ष्यविहीन अर्थहीन असख्य देवी देवताओ की पूजा। महा-शून्य के अनन्त विस्तार मे जिस प्रकार प्रदीप्त उल्कापिण्ड का संघर्ष होता है, उसी प्रकार एक दिन (१८६० ई०) भारत की प्राचीन नगरी मथुरा मे गुरु-शिष्य का साक्षात्कार हुआ। बचपन से चक्षुविहीन, ग्यारह वर्ष की उम्र से स्वजन-बान्धव सगी-साथियो से अलग हुए, कठोर तपस्वी, वज्रकठोर निर्मम संन्यासी थे स्वामी विरजानन्द सरस्वती। दयानन्द ने देखा, ये वृद्ध तपस्वी स्वजाति के कुसंस्कार व दुर्बलताओं की पूर्ण हृदय से घृणा करते है। उन्होंने देखा कि प्रचलित निरर्थक बाह्य आडम्बरपूर्ण पूजा-उपासना के विरुद्ध उनका चित्त दयानन्द से भी अधिक तिक्त है। विद्रोही युवक ने इस मरुभूमि के बालुका-स्तूप की भाँति नीरस संसार से न्यारे, समुन्नतशिर, नि:संग विद्रोही गुरु के चरणों पर अपने को समर्पित कर दिया। मूलशंकर की यहीं समाप्ति हो गयी और आविर्भूत हुए दयानन्द सरस्वती। तेज स्वभाववाले गुरु के सभी कठोर व्यवहारो का चुपचाप सहनकर ढाई वर्ष तक उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा समाप्त होने पर गुरु ने कहा, "वत्स, सकल्प ग्रहण करो कि समग्र देश मे जो कुसस्कार, वेद-विरोधी अनार्योचित आचार पुराणो मे प्रविष्ट हो गये है, उनका जड़मूल से खण्डन करोगे, बौद्ध युग से पूर्व विद्यमान, विशुद्ध आर्य धर्म का प्रचार करोगे और वैदिक सत्य

होगा उसकी नीव।" शिष्य ने वचन दिया, "गुरुदेव, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।"

संस्कृत भाषा के अद्वितीय विद्वान तथा वेदज्ञ दयानन्द के प्रचारकार्य से समग्र उत्तर भारत हिल गया। 'मेरे द्वारा प्रचारित, वेदप्रतिपाद्य धर्म ही एकमात्र सत्य है, तथा अन्य सभी धर्म व मतवाद भ्रान्त कुसंस्कार मात्र हैं,' इस मतवाद की नींव पर खड़े होकर दयानन्द सरस्वती अपने प्रचार-कार्य में प्रवृत्त हुए। तीक्ष्णबुद्धि, एकदेशदर्शी, तार्किक दयानन्द के साथ वादविवाद में प्रवृत्त होकर उन्हें तर्कयुद्ध मे मना लेना कठिन था। प्रचलित धर्मविश्वास तथा पूजा-पद्धति के विरुद्ध उनके तीव्र व अप्रिय मन्तव्य के कारण प्राचीन सनातन समाज में खलबली मच गयी। परन्तु उनका मतवाद कितना ही संकीर्ण तथा कट्टरतापूर्ण क्यों न रहा हो, पाँच वर्ष के भीतर ही उन्हें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। पंजाब व युक्त प्रान्त के अनेक शिक्षित व भद्र युवक उनके अनुयायी बन गये। दूसरी ओर इन्ही पाँच वर्षों के भीतर चार-पाँच बार उनके प्राणविनाश की चेष्टा हुई थी। एक दिन आम सभा के बीच एक धर्मान्ध व्यक्ति ने शिवनाम का उच्चारण कर एक जीवित विषधर सर्प उनके मुख पर फेक दिया, परन्तु उन्होंने बड़ी तेजी से उसे पकड़ लिया और पैरों तले कुचल डाला। दयानन्द जहाँ जाते वही आँधी सी उठने लगती। निदान रक्षणशील ब्राह्मणसमुदाय कातर होकर काशी के पण्डित-समाज के द्वार पर गये। विख्यात पण्डितों ने दयानन्द को तर्क में आह्वान किया। निर्भीक दयानन्द ने उसे स्वीकार कर काशी की ओर यात्रा की। १८६९ ई० के नवम्बर मास मे एक विख्यात तर्क-युद्ध हुआ। एक ओर थे तीन सौ प्रसिद्ध पण्डित और दूसरी ओर

अकेले संन्यासी। दयानन्द ने कहा कि वर्तमान प्रचलित वेदान्त वेदविरोधी है तथा वे आर्य ऋषियों के वैदिक धर्म का ही प्रचार कर रहे हैं। परन्तु ब्राह्मण पण्डितों का बहुधा यह स्वभाव नही है कि वे धीर स्थिर होकर विचार करें। वे थोड़ी ही देर में असहिष्णु होकर तर्क का विषय छोड़कर गाली-गलौज पर आ जाते है। और यहाँ भी वैसा ही हुआ। पण्डित लोग तर्क छोड़-छाड़कर एक स्वर सें गालियाँ देने लगे! परन्तु इस विख्यात तर्क-युद्ध द्वारा स्वामी दयानन्द का नाम समस्त भारतवर्ष में प्रचारित हो गया।

कलकत्ता के ब्राह्मगण, विशेष रूप से केशवचन्द्र, उनकी प्रसिद्धि को सुन बड़े आनन्दित हुए। मूर्तिपूजा और जातिभेद के इस विरोधी संन्यासी को उन्होने कलकत्ते बुलाया। दयानन्द १५ दिसम्बर १८७२ ई० से १५ अप्रैल १८७३ ई० तक कलकत्ता शहर में रहे। इस समय श्रीरामकृष्ण ने भी उनसे भेंट की थी। ब्राह्मगण व केशवचन्द्र ने उनकी सादर अभ्यर्थना की। उन्होंने सोचा था कि दयानन्द का प्रयोग वे रक्षणशील हिन्दुओ पर अस्त्र के रूप मे करेंगे। परन्तु पाश्चात्यपन्थी ब्राह्म समाज के धर्ममत के साथ दयानन्द जैसे व्यक्ति का समझौता होना कठिन था। जिस ब्राह्म समाज ने १८४८ ई० मे अपौरुषेय वेदवाणी की प्रामाणिकता की मर्यादा को अस्वीकृत किया, उसके साथ दयानन्द कैसे सहमत होंगे? वे केवल वेद की अभ्रान्तता व पुनर्जन्मवाद मे ही विश्वासी नही थे, वरन् वे स्वयं जिस प्रकार व्याख्या करते थे उसके अतिरिक्त और किसी भी प्रकार की व्याख्या उन्हें स्वीकार नही थी। निदान कुछ समय बाद ब्राह्मों ने दयानन्द से आशा छोड़ दी। परन्तु ब्राह्मसमाज के साथ संसर्ग

करने से दयानन्द ने समझ लिया कि उन्हें लौकिक भाषा में प्रचार करना होगा तथा एक संघ या समाज की स्थापना करनी होगी। ब्राह्म नेताओं से अधिक शक्तिमान व गठनमूलक प्रतिभा उनमें थी और इसीलिए उन्होंने थोड़ी ही चेष्टा से एक नवीन सम्प्रदाय का निर्माण किया। जिस समय केशवचन्द्र नवविधान का प्रचार कर ब्राह्म समाज को फिर से आत्मकलह की ओर ले जा रहे थे, ठीक उसी वर्ष १८७५ ई० में वम्वई में दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की। विशेप आश्चर्य की वात यह है कि भारतवर्ष के जिन स्थानों में आर्यों ने प्रथम उपनिवेश स्थापित किया था, उस उत्तर भारत ने ही दयानन्द द्वारा प्रचारित आर्य धर्म को अपनाया। १८७७ ई० में लाहौर में आर्य समाज के नियम आदि का निर्माण हुआ और वे अपने शिष्यों सहित वड़े उत्साह के साथ पंजाव, आगरा, अयोध्या, गुजरात व राजपूताना में प्रचार करने लगे। परन्तु वंगाल व मद्रास मे आर्य समाज अपना वैसा प्रभाव विस्तारित नही कर सका। अस्तु, प्रचार-कार्य के प्रचण्ड उद्यम के बीच में ही उनका जीवनप्रदीप निर्वासित हो गया। किसी महाराजा की एक रखेल स्त्री की चरित्रहीनता पर उन्होंने उसकी तीव्र भर्त्सना की। उस पापिनी ने विष देकर उनकी हत्या की। १८८३ ई० के अक्टूबर मास में अजमेर में, स्वामी दयानन्द का देहान्त हो गया। परन्तु उनकी मृत्यु से उनके प्रचार-कार्य में किसी प्रकार की क्षति नहीं हुई। १८९१ ई० में जिस सम्प्रदाय की जन-संख्या चालीस हजार थी आज उसकी संख्या लगभग दस लाख है। परन्तु ब्राह्म समाज सौ वर्ष में तीन-चार हजार से अधिक ब्राह्मवादी न वना सका। इसमें सन्देह नही कि शिक्षा-प्रचार व समाज-संस्कार में आर्य-

समाज ने समग्र उत्तर भारत में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय आदि प्रमुख शक्तिमान नेतागण आर्य-समाजी ही थे। लोकहितव्रती आर्य समाज शिक्षाप्रचार में, और विशेष रूप से स्त्रीशिक्षा व नारी जाति की उन्नति की व्यवस्था में, विधवाश्रम व अनाथालयों की स्थापना मे, भूकम्प मे, दुर्भिक्ष तथा बीमारियों से पीड़ित प्रदेशों की सेवा मे श्रीरामकृष्ण मिशन स्थापित होने के पहले से ही कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुआ था। और विगत अर्ध शताब्दि में आर्य समाज की अनेक लोकहितकर संस्थाएँ बन गयी है।

लाहौर मे विवेकानन्द की ओर आर्य-समाजी नेताओं की सहज ही में दृष्टि आकृष्ट हुई। वेदान्त, अद्वैतवाद तथा मूर्तिपूजा के विरोधी आर्य समाजियों के साथ नितान्त भिन्न मतावलम्बी विवेकानन्द का प्राय: तर्क होता था। आर्य समाजी नेताओं के चरित्र, त्याग व लोकहितव्रत के प्रति श्रद्धा प्रकट करने मे स्वामीजी कभी आगा-पीछा नही करते थे, परन्तु उनसे साम्प्रदायिक कट्टरपन का प्रतिवाद वे स्पष्ट रूप से करते थे।

'दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज' के अध्यक्ष लाला हंसराज आदि आर्य समाजी एक दिन वार्तालाप के सिलसिले मे आर्यसमाज के इस मत का समर्थन कर रहे थे कि 'वेद का केवल एक ही प्रकार का अर्थ हो सकता है।' स्वामीजी नाना प्रकार की युक्तियाँ देकर यह समझा रहे थे कि अधिकार के अनुसार भिन्न भिन्न मतों का अवलम्बन कर उन्नति के पथ में अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है। हसराज विपरीत युक्तियो के प्रयोग द्वारा उसका खण्डन करने की चेष्टा कर रहे थे। अन्त मे स्वामीजी बोल उठे, "लालाजी, आप लोग जिस विषय के बारे में इतना आग्रह प्रकट

कर रहे हैं, उसे हम fanaticism अथवा कट्टरपन कहते हैं। हम यह जानते है कि इसके द्वारा सम्प्रदाय को शीघ्र विस्तृत बनाने मे सहायता होती है और मैं यह भी जानता हूँ कि शास्त्र के कट्टरपन की अपेक्षा मनुष्य के कट्टरपन (इस प्रकार का प्रचार कि व्यक्तिविशेष को अवतार मानकर उनकी शरण लेने से ही मुक्ति होगी) के द्वारा और भी आश्चर्यजनक तथा शीघ्रता से सम्प्रदाय का विस्तार होता है। और मेरे हाथ में वह शक्ति भी है। मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण का ईश्वरावतार के रूप में प्रचार करने के लिए मेरे अन्य सभी गुरुभाईगण कटिबद्ध हैं। एकमात्र मैं ही उस प्रकार के प्रचार का विरोधी हूं, क्योंकि मेरा दृढ़ विश्वास है—मनुष्य को उसके अपने विश्वास व धारणा के अनुसार उन्नति करने देने पर यद्यपि बहुत ही मन्द गति से उन्नति होती है, परन्तु जो उन्नति होती है वह बिल्कुल पक्की होती है।"

एक दूसरे दिन स्वामीजी श्राद्ध के सम्बन्ध में आर्यसमाजियों के साथ शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हुए थे। आर्य-समाजी पितृगणों के श्राद्ध में विश्वास नही करते और न उसकी उपयोगिता ही मानते है। हिन्दू समाज की ओर से अनुरुद्ध होकर ही स्वामीजी इस कार्य मे अग्रसर हुए थे और उस दिन आर्यसमाजी पण्डितों को स्वामीजी के युक्ति-तर्कों के सामने नीरव होना पड़ा था। स्वामीजी अपने वार्तालाप के सिलसिले में यद्यपि आर्य-समाजी प्रचारकों के उत्कट कट्टरपन तथा दूसरों के मत के प्रति उनकी असहिष्णुता की तीव्र समालोचना करते थे, परन्तु फिर भी आर्य-समाजी उन पर कभी असन्तुष्ट नही हुए। अपने मत का समर्थन अथवा युक्तिविरोधी मतों का खण्डन करते समय ये योद्धा

संन्यासी यद्यपि दृप्त तेज के साथ विरोधी पक्ष की युक्तियों का निर्मम भाव से खण्डन किया करते थे, फिर भी उनकी प्रत्येक बात में असम्प्रदायिकता का उदार भाव सदैव ही प्रकट होता था। स्वामीजी के इस असम्प्रदायिक उदार भाव को देख सनातन पन्थी व आर्य-समाजी दोनों ही दल समान रूप से इनके प्रति आकृष्ट हुए थे। आर्य-समाजी प्रचारकों ने प्राचीन पन्थी हिन्दू समाज के मस्तक पर जो लगातार अभिशापो की वर्षा की थी, उसके फलस्वरूप दोनों दलों मे पर्याप्त मनोमालिन्य व असन्तोष पैदा हो गया था। पर स्वामीजी कितने ही लोगों के चित्त से ग्लानि की वेदना को दूर करने मे समर्थ हुए थे। आर्य-समाजी, हिन्दू व सिक्खों के बीच प्रीति स्थापित करने के लिए स्वामीजी ने सभी समाजो के युवको को लेकर लाहौर में एक समिति की स्थापना की और उन्हें इस बात के लिए उत्साहित करने लगे कि वे जाति व धर्म का विचार किये विना मनुष्यमात्र की औषधि, शुश्रूषा, भोजन, वस्त्र तथा शिक्षादान द्वारा सेवा करे। सेवाधर्म की उदार नीति को आदर्श जीवन में परिणत करने का निर्देश देकर स्वामीजी सभी सम्प्रदायों के सम्मान एवं श्रद्धा के पात्र वन गये थे।

आर्य समाज के भूतपूर्व प्रचारक तथा स्वामीजी के एक विशेष भक्त स्वामी अच्युतानन्द ने भावी जीवन-चरित्र लेखकों की सुविधा के लिए आचार्यदेव के पंजाव व काश्मीर भ्रमण की जो सक्षिप्त डायरी रखी थी, उसमें हम स्वामीजी की विशाल-हृदयता के दो सुन्दर उदाहरण पाते है। एक दिन स्वामीजी अपन साथियो के सामने किसी व्यक्ति की वहुत प्रशसा कर रहे थे, इतने मे एक व्यक्ति वोल उठा, "स्वामीजी, वह तो आपको

नहीं मानता है।" स्वामीजी ने उसी समय कहा, "भला आदमी बनने के लिए मुझे मानना ही होगा, ऐसा थोड़ा ही है?"

इस समय ग्रेट इण्डियन सर्कस के मालिक बाबू मोतीलाल घोष कार्यवश एक दिन नगेन बाबू के मकान पर आये। स्वामीजी ने उन्हें देखते ही पहिचान लिया और एक निकट आत्मीय की तरह वे उनके साथ वार्तालाप करने लगे। बाल्यकाल में वे दोनों एक ही व्यायामशाला में व्यायाम करते थे। मोती बाबू अपने बचपन के साथी के अपूर्व तेज, प्रतिभा व शक्तिव्यंजक मुखमण्डल को देख आश्चर्यचकित रह गये। स्वामीजी जितना ही उनके साथ भाई जैसा व्यवहार व वार्तालाप करने की चेष्टा करते, उतने ही वे अधिक संकुचित होने लगे। अन्त में कुछ साहस बटोरकर मोती बाबू ने दीनता के साथ स्वामीजी से कहा, "भाई, तुम्हें अब क्या कहकर पुकारूँगा?" स्वामीजी ने बहुत ही स्नेहपूर्ण स्वर में कहा, "अरे मोती, क्या तू पागल हो गया है? मैं बन क्या गया हूँ? मैं भी वही नरेन हूँ और तू भी वही मोती है।" स्वामीजी ने ऐसे स्नेहभाव से बातचीत की कि मोती बाबू का सारा संकोच दूर हो गया।

स्वामीजी लाहौर मे वहाँ के एक कालेज के गणित के प्रोफेसर तीर्थराम गोस्वामी के साथ परिचित हुए। स्वामीजी के भाषण व चरित्र से प्रोफेसर महोदय स्वामीजी की ओर विशेष आकृष्ट हुए। घनिष्ट परिचय के फलस्वरूप प्रेम काफी बढ़ा। एक दिन प्रोफेसर ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि वे अपने शिष्यों सहित उनके घर में भिक्षा ग्रहण करने की कृपा करें। उनका उद्देश्य था—स्वामीजी के साथ अपने कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में आलोचना करना। योग्य अधिकारी देखकर स्वामीजी ने वेदान्तप्रचार के

कार्य मे उन्हें प्रेरित किया। स्वामीजी ने अपने विवेक वैराग्यवान तथा शिक्षित मित्र को स्वदेश व विदेश मे वेदान्त-प्रचार के द्वारा होनेवाले महान् कल्याण की बातों को इस प्रकार समझा दिया कि प्रोफेसर महोदय के जीवन में एक नया परिवर्तन आ गया। वेदान्तप्रचार के कार्य मे अपना जीवन उत्सर्ग कर देने के लिए उन्होंने दृढ़ संकल्प किया। विदा लेने से पूर्व तीर्थराम ने स्वामीजी को उपहार में अपनी प्रिय बहुमूल्य सोने की घड़ी दी। स्वामीजी ने प्रसन्नता से वह स्वीकार कर ली और दूसरे ही क्षण प्रेमपूर्वक उस घड़ी को प्रोफेसर की ही जेब में रखकर कहा, "मित्र, इस घड़ी का व्यवहार मै इस जेब मे ही रखकर करूँगा।" अर्थपूर्ण हँसी के साथ स्वामीजी ने तीर्थराम की ओर देखा। उन्होंने स्वामीजी के उस मौनभाव को पूर्ण हृदय से ग्रहण किया और कुछ ही समय बाद उन्होंने अपना प्रोफेसर-पद त्यागकर स्वामीजी के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए प्रचारकार्य मे आत्मोत्सर्ग कर दिया। यही प्रोफेसर महोदय आगे चलकर स्वामी रामतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुए। प्रतिभाशाली रामतीर्थ ने अमेरिका, मिश्र देश व भारतवर्ष में भी वेदान्त-प्रचारकार्य में काफी सफलता प्राप्त की। परन्तु देश के दुर्भाग्य से थोड़े समय मे ही वे कर्मक्षेत्र से हटा लिये गये। आर्यसमाजी स्वामी अच्युतानन्द, प्रकाशानन्द तथा अन्य कुछ प्रचारक संन्यासी स्वामीजी के ज्वलन्त उत्साह से अनुप्राणित हो वेदान्त-प्रचारकार्य मे डट गये। आर्य समाज पर इस समय स्वामीजी का प्रभाव इतना अधिक हो गया था कि जनता में यह चर्चा होने लगी कि वे शीघ्र ही नेता के रूप में इस समाज के परिचालन का भार अपने ऊपर लेगे।

शारीरिक अस्वस्थता के कारण स्वामीजी को कुछ दिनों के

लिए देहरादून में आकर विश्राम करना पड़ा। परन्तु असल में उन्हें विश्राम का अवसर नही मिला। समागत व्यक्तियों के साथ धर्म व समाज सम्बन्धी समस्याओं की चर्चा के अतिरिक्त प्रतिदिन नियमित रूप से उन्हें अपने शिष्यों को आचार्य रामानुज के भाष्य सहित वेदान्त दर्शन व सांख्य दर्शन पढ़ाना पड़ता था। अब देहरादून में स्वामीजी के पास खेतरी राज्य से लगातार आमन्त्रण आने लगे। अतएव राजपूताना जाने के लिए वे देहरादून से सहारानपुर होकर दिल्ली पहुँचे। दिल्ली में चार-पांच दिन व्यतीत कर स्वामीजी ने अपने साथियों के साथ अलवर की यात्रा की।

पाठकों को स्मरण होगा, कुछ वर्ष पूर्व स्वामीजी परिव्राजक के वेश में इस नगर में एक नितान्त अपरिचित व्यक्ति के रूप में आये थे। स्टेशन पर उतरते ही स्थानीय भद्र व्यक्तियों ने स्वामीजी की समुचित अभ्यर्थना की। एक समय जब स्वामीजी कुछ उच्चवंशीय शिक्षित व धनी व्यक्तियों के साथ वार्तालाप कर रहे थे, तब उन्होंने देखा कि थोड़ी दूर पर उनका एक निर्धन शिष्य मलिन वेश में खड़ा होकर प्यासी आँखों से उनकी ओर देख रहा है। स्वामीजी ने उसी समय उसे अपने पास बुला लिया। शिष्य ने आनन्दपूर्वक आकर उनकी पदधूलि ली और स्वामीजी उसे अपने पास बिठाकर अपने दूसरे शिष्यों की कुशल क्षेम उससे पूछने लगे। और इधर जो अनेक भद्र महोदयगण बैठे थे, उनको तो मानो वे थोड़ी देर के लिए भूल ही से गये। उनके पूर्वपरिचित मित्र व भक्तगण यह देखकर बड़े विस्मित हुए कि विश्वव्यापी प्रतिष्ठा, यश व सम्मान प्राप्त करके भी स्वामीजी वैसे ही उदार, स्नेहपरायण, मित्रवत्सल तथा उदासीन संन्यासी

ही हैं। वे अपने निर्धन शिष्य व भक्तों के घर में जाकर पहले की तरह सरल भाव से भिक्षा ग्रहण करने लगे। इससे पूर्व स्वामीजी ने किसी एक निर्धन भक्तिमती विधवा महिला का भी आतिथ्य ग्रहण किया था। अनेक वर्ष पुरानी बात होने पर भी वे उसे न भूले थे। एक दिन उन्होंने उन महिला के पास समाचार भेजा कि वे अपने शिष्यों सहित उनके घर में भिक्षा ग्रहण करेंगे और वह पहले की ही तरह चपाती बनाकर रखे। यह समाचार सुनकर उस महिला का हृदय आनन्द से भर गया। अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह अतिथिसेवा की तैयारी करने लगी। स्वामीजी जब शिष्यों के साथ भोजन करने बैठे तो वह डबडबायी आँखों से चपाती परोसती हुई रुद्ध कण्ठ से बोली, "मैं गरीब हूँ, इच्छा होते हुए भी तुम्हें देने लायक मिठाई आदि कहाँ मे पाऊँ बाबा ?" पर स्वामीजी ने आनन्द के साथ परोसी हुई सामग्री को ही खाते हुए कहा, "माँ, तुम्हारी इन चपातियों जैसा मधुर भोजन मैंने और कभी नहीं खाया।" शिष्यों से कहा, "देखा कैसी भक्तिमती महिला है! इस प्रकार का सात्त्विक आहार मेरे भाग्य मे अनेक दिनों से प्राप्त नहीं हुआ।" स्वामीजी उन वृद्धा महिला की पारिवारिक शोचनीय अवस्था के बारे में भलीभाँति जानते थे, इसीलिए इन महिला के परोक्ष में घर के किसी अन्य पुरुष के हाथ पर उन्होंने एक सौ रुपये का एक नोट रख दिया। उसे लेने में उस व्यक्ति ने आपत्ति तो बहुत की, परन्तु स्वामीजी ने उसकी एक न सुनी।

अलवर से स्वामीजी जयपुर पधारे। वहाँ से खेतरी के राजा साहब की व्यवस्था के अनुसार खेतरी की ओर यात्रा की। जयपुर से खेतरी ९० मील दूर है। कोई घोड़े पर, कोई ऊँट पर

और कोई रथ पर सवार होकर चले। राजा साहब ने खेतरी से १२ मील आगे बढ़कर राजोचित समारोहपूर्वक स्वामीजी की अभ्यर्थना की। स्वामीजी के आगमन के उपलक्ष्य में नगर में नाना प्रकार के आमोदप्रमोद होने लगे। रात को आतिशबाजी के खेल हुए। दरिद्रनारायणों को प्रचुर भोजन से परितृप्त किया गया।

अभ्यर्थना सभा में स्वामीजी के पदार्पण करने पर राज-कर्मचारीगण व सरदार तथा उपस्थित प्रतिष्ठित नागरिकों ने एक एक करके स्वामीजी की पदधूलि ग्रहण की और राजदरबार की प्रथा के अनुसार प्रत्येक ने उन्हें दो-दो रुपये नजराना के रूप में दिये। स्वयं राजा साहब ने तीन सहस्र मुद्राओं की भेंट देकर प्रणाम किया। इस नियमपालन को समाप्त होने में लगभग दो घण्टे लगे। उसके बाद अभिनन्दन-पत्र पढ़ा गया। यह जानकर कि राजा साहब स्वामीजी के उपदेश के अनुसार शिक्षाप्रचार के लिए चेष्टा कर रहे हैं, उन्होंने आनन्द प्रकट किया। शिक्षा के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए स्वामीजी बोले, "शिशुओं को शिक्षा देनी हो तो उन पर अधिक मात्रा में विश्वास रखना होगा। यह मानना होगा कि प्रत्येक शिशु अनन्त ईश्वरीय शक्ति का आधार है। शिशु को शिक्षा देते समय हमें एक और बात का स्मरण रखना चाहिए, और वह यह है कि हमें उन्हें उन विषयों में उत्साह देना होगा, जिससे वे स्वयं चिन्तन करना सीखें। इस मौलिक चिन्तन की कमी ही भारत की वर्तमान हीन अवस्था का कारण है। यदि लड़कों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय तो वे मनुष्य बनेंगे तथा जीवनसंग्राम में अपनी समस्याओं को पूर्ण करने में समर्थ होंगे।"

स्वामीजी शिष्यों सहित जिस बंगले मे थे, वहाँ २० दिसम्बर को सभा हुई। स्थानीय सभी शिक्षित व्यक्ति तथा कुछ यूरोपीय भद्र सज्जन महिलाएँ उपस्थित थी। राजा साहब ने सभापति का आसन ग्रहण किया। उन्होंने सभा को स्वामीजी का परिचय दिया और उसके बाद स्वामीजी ने लगभग डेढ़ घण्टे तक एक सारगर्भित तथा ज्ञानपूरित भाषण दिया। वर्तमान भारत में धर्म की अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होंने बड़े दुःख तथा क्षोभ के साथ कहा, "हम हिन्दू भी नहीं है और वैदान्तिक भी नही—असल मे हम है 'छुआछूत' पन्थी। रसोईघर हमारा मन्दिर है, पकाने का बर्तन हमारा उपास्य देवता है और 'मत छुओ, मत छुओ' मन्त्र है! समाज के इस अन्ध कुसंस्कार को शीघ्र दूर करना होगा। और वह एकमात्र उपनिषदों के उदार मतों द्वारा ही हो सकता है।"

इस प्रकार अपने राजशिष्य के साथ कुछ दिन बड़े आनन्द से बिताकर स्वामीजी ने विदा ली। वे लगातार भाषण व प्रचारकार्य से थक गये थे। फिर भी आग्रहपूर्ण आमन्त्रणों की उपेक्षा करने मे असमर्थ होकर किसी प्रकार वे किशनगढ़, अजमेर, जोधपुर व इन्दौर होकर खण्डवा पहुँचे। खण्डवा में आकर स्वामीजी का शरीर बहुत अस्वस्थ हो गया। इतने में ही बडौदा, गुजरात व बम्बई प्रेसिडेन्सी से आग्रहसूचक आमन्त्रण-पत्र व तार आने लगे। प्रबल इच्छा रहते हुए भी स्वामीजी अस्थायी रूप से भ्रमणकार्य को स्थगित कर कलकत्ता लौट आये।

पंजाब, काश्मीर व राजपूताना में दिये हुए स्वामीजी के विख्यात भाषणों को पढ़ने से स्वामीजी का उदार भाव, उनका धर्म का सार्वभौमिक आदर्श व उनकी शिक्षाप्रणाली की मौलिकता

देखकर विस्मित होना पडता है। एक ओर उन्होंने जिस प्रकार आधुनिक सुधारक सम्प्रदायों की वैदेशिक-भावपूर्ण कार्यप्रणाली की तीव्र आलोचना की है, उसी प्रकार दूसरी ओर उन्होंने उन्नति के विरोधी, संकीर्ण भाववाले कट्टर-पन्थियों के पुराने संस्कारों का, जिनमें वे अन्धविश्वासी होकर अपने को जकड़े हुए थे, उपहास करने में कमी नहीं की—साथ ही यह भी बता दिया कि उन लोगों की यह रूढ़िप्रियता एक प्रकार से पागलपन ही कही जा सकती है। स्वामीजी की धारणा थी कि वेदान्त के महान् सत्यों की उपेक्षा करने के फलस्वरूप ही भारतवर्ष की वर्तमान दुरवस्था हुई है। एक ही वेदान्तदर्शन के अवलम्बन से विभिन्न प्रकार के विरोधी मतवादों का उद्भव होने के कारण कालक्रम से वह दार्शनिक पण्डितों के तीव्र मस्तिष्कों के प्रशस्त व्यायाम-क्षेत्र के रूप में परिणत हो चला है। पुराण तथा कुछ आधुनिक स्मृतिशास्त्र और विशेष रूप से देशाचार व लोकाचार ही धर्म-जगत् में वेदान्त के स्थान पर अधिकार प्राप्त कर बैठे हैं। यहाँ तक कि वेदान्त के नाम से इस समय लोग एक ऐसे दुर्बोध दर्शन-शास्त्र को समझते है, जिसके साथ प्रचलित धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस भ्रान्त विश्वास को दूर करने के लिए युगप्रवर्तक आचार्यदेव ने अद्वैतानुभूति के अत्युच्च शिखर पर खड़े होकर सभी जातियों, सभी सम्प्रदायों के दुर्बल, निर्धन, दुःखी पददलितों को वज्रस्वर से पुकारते हुए उन्हें अपने पैरों खड़े होकर मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करने का आदेश दिया है। यदि भारत ने अभी भी उनके उपदेशों के मर्म को नहीं समझा है, तथा उनके द्वारा प्रचारित आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा अब भी नही की, तो भारत के भविष्य को ईश्वर ही सँभाले !

१८९८ ई० के जनवरी मास के मध्य में स्वामीजी अपने गौरवमय उत्तर भारतभ्रमण को समाप्त कर कलकत्ता लौट आये। बहुत दिनों से उनका भागीरथी के तट पर एक स्थायी मठ निर्माण करने का संकल्प था। पाश्चात्य देशों से भारत मे लौटते ही उन्होंने अपने इस संकल्प की बात गुरुभाइयों के समीप प्रकट की और तदनुसार वे योग्य स्थान की खोज मे लगे थे। भागीरथी के पश्चिम तट पर बेलुड़ गाँव मे योग्य स्थान का पता पाते ही स्वामीजी की शिष्या एवं भक्त कु० हेनरिएटा मूलर द्वारा दिये प्रचुर धन से वह भूमि खरीद ली गयी। यह स्थान इससे पूर्व नौकाओं के अड्डे के रूप मे व्यवहृत हो रहा था। उसे समतल बनाकर मठ का निर्माण करने में प्राय: एक वर्ष का समय लगा। मठ की भूमि को समतल बनाने में तथा पुराने एकमंजले मकान की मरम्मत कर दुमंजला बनाने मे जो धन लगा, वह स्वामीजी के लन्दन के शिष्यों ने दिया था। स्वामीजी की अन्यतम अमेरिकन शिष्या श्रीमती ओलीबुल ने वर्तमान 'ठाकुरघर' के निर्माण का सारा व्ययभार स्वयं उठाया और मठ का खर्च चलाने के लिए बेलुड़ मठ के संचालकों के हाथ में एक लाख से अधिक रुपये दिये। इस प्रकार ईश्वर की कृपा से स्वामीजी के जीवन का एक महान् संकल्प पूर्ण हुआ। उधर हिमालय मे मठस्थापना के लिए सेविअर दम्पति योग्य स्थान की खोज में थे। बेलुड़ मठ का निर्माणकार्य प्रारम्भ होने के साथ ही मठ आलमबाजार से बेलुड़ गाँव के नीलाम्बर मुखोपाध्याय के बगीचेवाले मकान में लाया गया। यह बगीचेवाला मकान संन्यासियों के लिए अस्थायी रूप से किराये पर ले लिया गया था। स्वामीजी अपने शिष्य व गुरुभाइयों सहित वहाँ पर आकर निवास करने लगे।

बेलुड़ मठ के इस छोटे तथा निर्भीक कार्य ने आगे चलकर बंगाली समाज पर यथेष्ट प्रभाव फैलाया है, क्योंकि स्वामीजी के जीवित रहते ही बंगाल की कुछ प्रबल जातियों ने क्षत्रियत्व व वैश्यत्व की माँग पेश करके आन्दोलन उपस्थित किया था। और इस समय हम देख रहे है, प्राचीन दल की तीव्र आपत्ति रहते हुए भी वे अनेकांश में सफल हुए हैं। अवश्य ही सत्य की दृष्टि से इस बात को स्वीकार करना पड़ता है कि किसी किसी जाति की क्षत्रिय या वैश्योचित संस्कारप्राप्ति में अतीत की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा के बदले कृत्रिम आभिजात्य प्राप्त करने की चेष्टा ही अधिक प्रकट हो रही है। फिर भी इन सब चेष्टाओं की दोष-त्रुटियों की उपेक्षा कर इसकी मूल भावना के साथ सभी स्वजातिहितैषी चिन्तनशील व्यक्तियों की सहानुभूति रहना अत्यन्त वांछनीय है। अपने को जानने की, अपने को समझने की; समाजजीवन में उचित स्थान तथा जिम्मेदारी को ग्रहण करने की यह चेष्टा जिस आत्मचेतना को जाग्रत करेगी, परिणाम में उसका फल अच्छा ही होगा। कालपुरुष का संकेत है—देश के श्रेष्ठ जातिसमूह अब पतित की श्रेणी में न रहेंगे। अपने अपने वर्णों की उचित शिक्षादीक्षा को प्राप्त करने का उत्साहपूर्ण उद्यम उनमें जाग उठा है—यह युगधर्म की प्रेरणा है, इसमें बाधा उत्पन्न करने की चेष्टा मूढ़ता मात्र है। निरर्थक प्रथाओं के आवरण से नव-जागरण को ढँके रखना असम्भव है—असाध्य है।

इसी प्रसंग में यहाँ पर एक और बात का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। जाति की शक्तिवृद्धि के लिए स्वामीजी ने पहले पहल एक ही जाति की विभिन्न शाखाओं में वैवाहिक आदानप्रदान के प्रति हमारी दृष्टि आकृष्ट की है। एक ओर

विवाहयोग्य कन्याओं के विवाह की चिन्ता और दूसरी ओर विवाहयोग्य कन्याओं का अभाव--इन दो विपरीत परिस्थितियों के प्रबल दबाव से पिसकर भी आज तक किसी ने इस विषय में उल्लेखनीय आन्दोलन उपस्थित नही किया। फिर भी हमे आशा है--उदीयमान उन्नतिशील नवयुवक इस विपय मे और अधिक उदासीन नही रहेंगे।

१८९८ ई० के जनवरी से अक्टूबर तक स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण मठ की स्थापना व संघ की संगठन सम्बन्धी कार्यप्रणाली को व्यवस्थित करने में तथा शिष्य व शिष्याओं के शिक्षा-दान के कार्य मे ही प्रधानतया अपना समय लगाया। जनवरी मास के मध्य में उत्तर व पश्चिम भारत का भ्रमण समाप्त कर वे खण्डवा से कलकत्ता लौट आये। इधर कुछ दिनों के बाद ही कुमारी मूलर के साथ कुमारी मार्गारिट नोबल पाश्चात्य समाज के सभी बन्धनों को छिन्न कर कलकत्ता आयीं। फरवरी मास में श्रीमती ओली बुल व कुमारी मैकलीओड् अमेरिका से श्री गुरुदेव की जन्मभूमि का दर्शन तथा भारतीय शिक्षा व संस्कृति के साथ प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करने तथा नवीन सघ के कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए इस देश में आ गयी। सहृदया कुमारी रलमू तथा श्रीमती बुल आदि की आर्थिक सहायता से गंगा के पश्चिम तट पर बेलुड़ गाँव मे मठभवन के निर्माण के लिए कुछ जमीन, एक पुराने मकान के साथ खरीद ली गयी और उसके पास ही नीलाम्बर मुखोपाध्याय का बगीचेवाला मकान किराये पर ले लिया गया। आलमबाजार मठ से संन्यासी व ब्रह्मचारीगण इस नवीन मकान मे चले आये। इसके बाद शिष्याएँ कुछ तो नये खरीदे हुए मकान मे और कुछ कुटियों में निवास करने लगीं।

अवकाश पाने पर स्वामीजी इनकी कुटियों में आकर भारतीय आचारव्यवहार, इतिहास-दर्शन आदि की चर्चा किया करते थे। कुमारी मार्गारेट नोवल पहले से ही तैयार होकर आयी थी। स्वामीजी के निर्देशानुसार सुपण्डित स्वामी स्वरूपादनन्दजी ने उनकी शिक्षा का भार ग्रहण किया। परन्तु कुमारी नोवल ने संघ के साथ सम्पूर्ण रूप से सम्मिलित होने के लिए श्री गुरुदेव की अनुमति माँगी। शिष्या का अभिप्राय तथा हार्दिक इच्छा को देख स्वामीजी ने उन्हें ब्रह्मचर्य के व्रत में दीक्षित किया। कुमारी नोवल ने जब भारतवर्ष में आने के लिए स्वामीजी की अनुमति माँगी थी उस समय स्वामीजी ने उत्तर दिया था— "निर्धनता, अधःपतन, कूड़ाकर्कट, फटे-मैले वस्त्र पहने हुए नर-नारियों को देखने की यदि इच्छा हो तो चली आओ, दूसरी किसी चीज की आशा करके न आना। हम तुम लोगों की हृदयविहीन आलोचना को सहन नहीं कर सकते।" भारत की अधःपतित जनता के आचारव्यवहार पर पाश्चात्यदेशीय व्यक्तियों के निर्दयतापूर्ण व्यंगों से विवेकानन्द का हृदय बाणविद्ध सिंह के समान गर्जना कर उठता था। एक अंग्रेज महिला एक दिन एक अद्भुत वेषधारी कुरूप ब्राह्मण को देखकर हँस पड़ी थी। विवेकानन्द ने उसी समय गम्भीर होकर कहा "चुप रहो, इनके लिए तुमने क्या किया ?" स्वदेशवासियों के प्रति विवेकानन्द के गम्भीर प्रेम को कु० नोवल भलीभाँति जानती थीं। वे यह भी जानती थीं कि विवेकानन्द का अनुसरण करना हो तो सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण करना होगा। अपने व्रत की जिम्मेदारी को भलीभाँति अनुभव करके ही कु० नोवल ब्रह्मचारिणी बनीं और यहीं पर कु० नोवल के इस नाम की समाप्ति हुई। अब वे

विवेकानन्द की मानसकन्या 'भगिनी निवेदिता' के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

नवदीक्षिता शिष्या को आशीर्वाद देकर महान् गुरुदेव ने कहा, "आओ, वत्से, तुम उन्हीं का अनुसरण करो जिन्होंने बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व पाँच सौ बार लोककल्याण के व्रत में अपने को उत्सर्गित किया था।"

मठ के निर्माण सम्बन्धी कार्य तथा शिक्षादान के कार्य मे बड़े उत्साह के साथ स्वामीजी लग गये थे, परन्तु उनकी शारीरिक अस्वस्थता विघ्न के रूप में उनके सम्मुख खड़ी हो गयी। चिकित्सकगण उनके वायुपरिवर्तन तथा विश्राम के लिए जोर देने लगे। विवश होकर कार्य का भार गुरुभाई व शिष्यों पर छोड़ तीस मार्च को स्वामीजी दार्जिलिंग चले गये। दार्जिलिंग में उनका स्वास्थ्य धीरे धीरे सुधर रहा था। इतने में ही सहसा समाचार आया कि कलकत्ते में प्लेग रोग व्यापक रूप में फैला हुआ है। प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्ति मर रहे है—ऐसा समाचार सुनकर क्या महाप्राण विवेकानन्द स्थिर रह सकते थे? निदान तीन मई को वे कलकत्ता लौट आये और उसी दिन उन्होंने प्लेग रोग मे सावधानी तथा आवश्यक प्रतिषेधक व्यवस्था कायम रखने के लिए जनसाधारण को उपदेश दिया। साथ ही साथ बंगला व हिन्दी भाषा में प्रचार-पत्र तैयार करके छापने के लिए भी दे आये और भगिनी निवेदिता तथा अन्यान्य संन्यासी व ब्रह्मचारियों को साथ लेकर उन्होंने सेवाकार्य प्रारम्भ कर दिया। कलकत्ते में उस दिन जिस भय तथा आतंक का संचार हुआ था, आज उसकी कल्पना करना भी कठिन है। डरे हुए स्त्री-पुरुष अपने अपने प्राण लिये भागे जा रहे थे। प्लेग रोग तथा 'सरकारी

प्लेग रेग्युलेशन' दोनों ही कठोर थे। उस भयंकर परिस्थिति में दंगा रोकने तथा रेग्यूलेशन मानने में जनता को वाध्य करने के लिए सरकारी फौज की नियुक्ति हुई थी, और उनके मनमाने आचारों द्वारा नरनारी और भी अधिक विह्वल कर डाले गये थे। इस आपत्तिकाल में अभय व सेवाभाव को सम्मुख रखकर विवेकानन्द द्वारा परिचालित श्रीरामकृष्ण की सन्तान कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुई। इस कार्य के लिए कितने धन की आवश्यकता होगी, तथा वह कहाँ से आयेगा, इस बात की चिन्ता करते हुए किसी गुरुभाई ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, रुपये कहाँ से आयेंगे?" स्वामीजी ने उसी समय उत्तर दिया, "क्यों?—यदि आवश्यकता हो तो मठ के लिए नयी खरीदी हुई जमीन बेच डालेंगे। हजारों स्त्रीपुरुष हमारी आँखों के सामने असहनीय दुःख सहन करेंगे और हम मठ में रहेंगे। हम संन्यासी हैं, आवश्यकता होगी तो पहले जैसे फिर वृक्षों के नीचे रहेंगे, भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्नवस्त्र हमारे लिए पर्याप्त होगा।"

सन्तोष की बात है, मठ भवन को बेचने की आवश्यकता नहीं हुई। चारों ओर से यथेष्ट आर्थिक सहायता आने लगी। कलकत्ते में एक बड़ी-सी जमीन किराये पर लेकर उस पर बहुत सी कुटियाँ निर्माण की गयीं। जाति व वर्ण-विचार छोड़ असहाय प्लेगरोगग्रस्त नरनारियों को वहाँ पर लाकर उत्साही कार्यकर्तागण सेवाकार्य में रत हुए। स्वामीजी स्वयं उपस्थित रहकर देखभाल करने लगे। जिस मुहल्ले मे उन्होंने कार्यारम्भ किया था, उस मुहल्ले की गन्दगी आदि को दूर करने तथा प्रतिषेधक औषधादि द्वारा स्थान को साफ करने के लिए प्रति दिन कार्यकर्ताओं के जत्थे जाने लगे। दरिद्रनारायणों की सेवा में उनके

असीम उत्साह व आत्मत्याग को देख अनेक विरुद्धवादी निन्दा करने वाले लोग, तथा ऐसे व्यक्ति जो उनकी निन्दाओं को सुनकर उनके सम्बन्ध मे विरुद्ध भाव रखते थे, अव समझ सके कि विवेकानन्द ने केवल मुँह से ही वेदान्त का प्रचार नहीं किया —कार्य में भी वे वैदान्तिक है। 'यत्र जीव तत्र शिव' मन्त्र के ऋषि विवेकानन्द मृत्यु की कुछ भी परवाह न करते हुए स्वदेश-वासियों को शिक्षा देने लगे कि किस प्रकार नर को नारायण मानकर सेवा करना योग्य है।

वेदान्त के महान् आदर्श को अपने कर्मजीवन मे परिणत करके उस आदर्श के अनुसार जीवन गठित करने के लिए आचार्यदेव ने अपने स्वदेशवासियों को उच्च स्वर से पुकारा है। जिन डोम-चाण्डाल, मोची-मेहतर आदि को सदियों से तथाकथित जाति के अभिमानीगण 'चलायमान श्मशान' मानकर घृणा से दूर हटाते आ रहे है, स्वामीजी ने उन्ही को, 'मेरे भाई, मेरे रक्त' कहकर उनका आलिगन किया है। उन्होने भारत के कल्याण के इच्छुक कर्मयोगियों से तमोहृद मे डूबते हुए करोड़ो अज्ञानी नर-नारियों का ज्ञानालोक द्वारा उद्धार करने का व्रत लेने के लिए बार बार आकुल भाव से अनुरोध किया है। उनके दु:ख, उनकी दीनता व अज्ञता को दूर करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करना—रुग्ण, आर्त, अनाथ को औषधि, पथ्य व आहार देना—यही सेवाधर्म अशेष कल्याणकारी वर्तमान युगोपयोगी मुक्ति का प्रशस्त राज-पथ है। बहुत्व के बीच मे एकत्व के दर्शन को ही हिन्दूजीवन का चरम लक्ष्य जानकर आचार्यदेव ने अद्वैतवाद की सुदृढ़ नीव पर सेवाधर्म का मंगलमय प्रासाद खड़ा किया—जिसके गगनभेदी सैकड़ों शिखरों पर फहरानेवाले त्याग के गैरिक झण्डे अपनी

महिमा से विश्व की विस्मित दृष्टि को आकर्षित कर रहे हैं। अक्लान्त लोकहितैषणा के बीच में से स्वधर्मपरायण जाति के त्याग व सहनशीलता का महिममय दृश्य वर्तमान युग में उज्ज्वल रूप से प्रकट हुआ। सेवाधर्म को उपलक्ष्य कर ज्ञान, कर्म व भक्ति की पुण्य त्रिवेणी का बहुत दिनों के बाद विवेकानन्द के हृदयरूपी प्रयाग में आनन्दसम्मेलन हुआ है। इसीलिए आज नवयुग के इस पवित्र तीर्थ के पवित्र प्रेमसलिल में साम्प्रदायिक विद्वेष-बुद्धिहीन, परन्तु साथ ही विभिन्न भावों का सहारा लेनेवाले साधकगण आनन्दपूर्वक अवगाहन कर रहे हैं।

यह पहले से ही निश्चित हुआ था कि स्वामीजी अपनी पाश्चात्य शिष्याओं के साथ हिमालय-भ्रमण के लिए जायँगे। प्लेग का प्रकोप घट जाने पर तथा सरकारी रेग्युलेशन शिथिल हो जाने पर स्वामीजी ने श्री सेविअर के आमन्त्रण के अनुसार अलमोड़ा की ओर यात्रा की। उनके साथ थे स्वामी तुरीयानन्दजी, निरंजनानन्दजी, सदानन्दजी, स्वरूपानन्दजी आदि तथा उनकी चार पाश्चात्य शिष्याएँ। नैनीताल पहुँचकर अपने साथियों के साथ स्वामीजी ने कुछ विश्राम किया। खेतरी के महाराजा अपने गुरुदेव के दर्शन की इच्छा से पहले से ही वहाँ पर मौजूद थे। स्वामीजी के श्रीचरणों का दर्शन पाकर महाराजा साहब ने अपने को कृतार्थ माना तथा उनकी पाश्चात्य शिष्याओं के साथ परिचित होकर वे आनन्दित हुए। इसी समय की भ्रमण-कहानी तथा स्वामीजी के अमूल्य वार्तालापों का भगिनी निवेदिता ने अपनी 'स्वामी विवेकानन्द के साथ किये हुए भ्रमण-सम्बन्धी टिप्पणियाँ' नामक पुस्तक में सुन्दर रूप से वर्णन किया है। इस समय स्वामीजी अपने शिष्यों की दृष्टि में भारत के

पौराणिक व ऐतिहासिक युगों का जीता-जागता स्वरूप प्रतीत होते थे। भारत के अतीत इतिहास की पवित्र कहानियों का वर्णन करते हुए समय समय पर भाव के आवेग में वे वर्तमान को भूल जाते थे।

स्वामीजी के बचपन के मित्र श्री योगेशचन्द्र दत्त एक दिन उनके साथ साक्षात्कार करने आये। बातचीत के सिलसिले में योगेश बाबू ने स्वामीजी से कहा कि यदि वे भारतीय शिक्षित युवकों को सिविल सर्विस पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड भेजने के उद्देश्य से चन्दा इकट्ठा कर उनकी सहायता कर सके तो वे सब युवक-गण कृतार्थ होकर मातृभूमि के कल्याण व उत्थान के लिए बहुत कुछ कार्य कर सकेंगे। स्वामीजी ने गम्भीर होकर उत्तर दिया, "तुम बड़ी भारी भूल कर रहे हो। वे सब युवक स्वदेश में लौटकर केवल युरोपियनों के समाज में ही सम्मिलित होने की चेष्टा करेंगे, यह तुम निश्चित जान लो। वे पग पग पर साहबों के खान-पान, आचार-व्यवहार की नकल करेंगे—स्वदेश व स्वजाति के आदर्शों की बाते भूल से भी न सोचेंगे।"—और यह कहते कहते स्वामीजी भारतवर्ष की निश्चेष्ट जड़ता तथा सांसारिक जीवन के दु:ख-कष्टों को मिटाने की चेष्टा के प्रति घोर उदासीनता तथा उद्यमविहीनता इत्यादि का ओजपूर्ण भाषा में वर्णन करने लगे। देश की दुर्दशा के बारे मे वर्णन करते करते उनके बड़े बड़े चक्षु अश्रुपूर्ण हो गये। उस दिन योगेशबाबू के मित्र रामपुर स्टेट कालेज के प्रधान शिक्षक बाबू ब्रह्मानन्द सिंह वहाँ पर उपस्थित थे। उन्होंने इस अपूर्व दृश्य को देख श्रद्धा-विमुग्ध हृदय से लिखा है :—

"उस दृश्य को मैं जीवन में कभी नही भूलूंगा। वे (स्वामीजी)

संसारत्यागी संन्यासी थे, फिर भी भारतवर्ष उनके सम्पूर्ण हृदय में व्याप्त था। उनका सारा प्रेम भारत के प्रति था, भारत को वे प्राण देकर अनुभव करते थे, भारत के लिए वे आँसू बहाते थे और भारत की सेवा में ही उन्होने देह-त्याग किया है। उनके हृद्यन्त्र में भारतवर्ष का कम्पन होता था, उनकी नस नस में भारतवर्ष स्पन्दित होता था। तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष उनके जीवन के साथ मिलकर एकरूप हो गया था।"

अलमोड़ा में आकर स्वामीजी अपने गुरुभाई व संन्यासी शिष्यों के साथ श्री सेविअर महोदय के बंगले में निवास करने लगे। उनकी पाश्चात्य शिष्याएँ पास ही एक दूसरे मकान में रहने लगी। स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के साथ प्रातर्भ्रमण के बाद उनके निवासस्थान पर जाकर वार्तालाप में प्रवृत्त होते थे। शिष्य व शिष्याएँ भक्तिविनम्र चित्त से तन्मय होकर स्वामीजी के श्रीमुख से भारतीय आदर्शों की अनन्त व्याख्याएँ सुनते थे। समालोचकों की जो यह धारणा है कि भारतवर्ष जीर्ण व वृद्ध होकर लगातार अध.पतन के पथ में उतरता जा रहा है, उनके इस विद्वेष व अवज्ञा से उत्पन्न समालोचनाओं का तीव्र प्रतिवाद कर वे अपने शिष्य व भक्तों को समझा देते थे कि वैसी बात नही है वरन् भारत एक गौरवमय विकास के लिए तैयार होकर अपने निर्दिष्ट पथ पर आगे बढ़ रहा है। अतः इस नवयुग के प्रारम्भ में स्वदेशसेवा के लिए अग्रसर होने के लिए किस जबर-दस्त विश्वास, गम्भीर प्रेम व सदैव जाग्रत रहनेवाली सहानुभूति को लेकर कार्यक्षेत्र में आना होगा, यह विषय एक दिन शिष्यों को समझाते समझाते वे मानो अनजान में कह गये, "मै अपने को अनेक शताब्दियो के बाद आविर्भूत पुरुष के रूप में अनुभव कर

रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि भारत युवावस्था में है।"

स्वामीजी शिक्षादान व आलोचना के प्रसंग में जो मत व्यक्त किया करते थे उनके अधिकांश भागों का भगिनी निवेद्रिता यत्न-पूर्वक संग्रह करके रख गयी है। निवेदिता को भारतीय भाव में गढते हुए स्वामीजी बहुधा बाध्य होकर उनकी चिरपोषित रीति-नीति व आदर्शों की कड़ी आलोचना करते थे। दृढहृदया निवेदिता के लिए भी यह सम्भव न था कि वह प्रत्येक समय अपने स्वातन्त्र्य को हटाकर गुरुदेव के साथ एकमत हो जातीं। गुरु व शिष्या का यह पारस्परिक मानसिक विरोध निवेदिता के भारत में आने के बाद ही प्रारम्भ हो गया था। भगिनी ने स्वयं लिखा है, "इस समय मेरी बड़ी यत्न से पाली हुई सभी धारणाओं पर प्रतिदिन जो आक्रमण व तिरस्करों की वर्षा होने लगी, उसके लिए मैं बिलकुल तैयार न थी। अनेक समय अकारण दुःख भोगना पड़ता है। मैंने ध्यान से देखा--अनुकूल भाव रखनेवाले प्रिय आचार्य का मेरा जो स्वप्न था, वह लुप्तसा होने लगा और उसके स्थान पर एक ऐसे व्यक्ति का चित्र प्रकट हुआ, जो अन्ततः उदासीन और सम्भवतः विरोधी भाववाले होंगे। इस समय मैं जिस मानसिक कष्ट को भोग रही थी उसकी युक्ति द्वारा विचार करने की चेष्टा भी विडम्बना मात्र है।"

भावों का यह संघर्ष निवेदिता के जीवन मे बहुत ही मर्मान्तिक हो उठा था। उनका परिणत अंग्रेज मन अपनी रुचि की विशेषता बड़ी कोशिश से बचाता हुआ भारतीय आदर्श का अंग्रेज की दृष्टि से विचार करता था। एक अंग्रेज महिला के लिए प्रौढ़ावस्था म भारतीय भाव में भारतीय साधना व आदर्श को ग्रहण व हृदयंगम करना बहुत ही कठिन कार्य है--और इस कठिन कार्य

के लिए स्वामीजी की प्रबल प्रेरणा ने ही राष्ट्रीय आभिजात्य से प्रेम रखनेवाली स्वातन्त्र्याभिमानिनी निवेदिता के चित्त को विक्षुब्ध कर दिया था। वे इस प्रकार अपने को सम्पूर्ण रूप से तोड़कर फिर से गढ़ने के लिए तैयार न थीं; खोजकर पथ भी नहीं पा रही थीं। अन्त में एक दिन रात को सहसा यह समस्या हल हो गयी। आकाश में क्षीण चन्द्ररेखा निकली हुई थी। उसकी ओर देखकर स्वामीजी ने निवेदिता से कहा, "मुसलमान लोग नवीन चन्द्र का बड़ा आदर करते हैं। आओ, हम भी आज नवीन चन्द्र के साथ नवीन जीवन का प्रारम्भ करें।" स्वामीजी के मंगलमय हस्त ने ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ आशीर्वाद की तरह चरणों के पास बैठी हुई निवेदिता के मस्तक को स्पर्श किया। दिव्य स्पर्श से जन्मगत व जातिगत संस्कार एक क्षण में विलीन हो गये। भगिनी ने लिखा है, "बहुत दिन पूर्व श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्यों से कहा था कि ऐसा एक दिन आयेगा जब नरेन्द्र स्पर्श मात्र से दूसरों में ज्ञान का संचार कर देगा।" और अलमोड़ा के इस सायंकाल को यह भविष्यवाणी सफल हो गयी !

सम्भव है, इस विषय में कुछ लोगों की यह धारणा हो कि निवेदिता कोमल स्वभाववाली एक दुर्बल महिला थी। अतः महान् तेजस्वी विवेकानन्द ने उन्हें मन्त्रमुग्ध कर अपने मन के अनुसार गढ़ लिया हो। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। और इस बात को कवि रवीन्द्रनाथ ने निवेदिता के देहान्त के बाद उनका स्मृति-तर्पण करते हुए अपनी अतुलनीय भाषा में व्यक्त भी किया था। हम उस वर्णन का कुछ अंश नीचे उद्धृत कर रहे हैं :—

"अनेक प्रकार से उनका परिचय प्राप्त करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ था। उनकी प्रबल शक्ति को मैंने अनुभव किया था,

परन्तु साथ ही यह भी समझ लिया था, उनके चलने का रास्ता मेरे लिए अनुकूल नहीं है। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और साथ ही उनमें एक और चीज थी—यह था उनका योद्धापन। उनमें बल था, उस बल का वे दूसरों के जीवन पर प्रबल वेग से प्रयोग करती थीं—मन को पराजित कर लेने का एक विराट उत्साह उनमें काम करता था। जहाँ पर उन्हें मानकर चलना असम्भव था, वहाँ पर उनके साथ मिलकर चलना भी कठिन था। कम से कम मैं अपनी ओर से कह सकता हूँ, उनके साथ मिलने के मुझे अनेक अवसर प्राप्त हुए, परन्तु फिर भी अपने हृदय के एक कोने में गम्भीर दुःख का अनुभव करता था। उस दुःख में मैं यह नही कहूँगा कि वह ठीक ठीक अभाव की बाधा थी, वरन् वह मानो एक प्रबल आक्रमण की बाधा थी।

"आज इस बात को मै निःसंकोच हो प्रकट कर रहा हूँ। इसका कारण यह है कि एक ओर से यद्यपि उन्होंने मेरे चित्त को प्रतिहत किया है, परन्तु दूसरी ओर से मैं उनसे जिस प्रकार उपकृत हुआ हूँ वैसा मै नही समझता कि दूसरे व्यक्ति से हुआ हूँ। उनके साथ परिचय के बाद मुझे कई बार ऐसा हुआ है कि उनकी जीवनी को स्मरण कर तथा उनके प्रति गम्भीर भक्ति का अनुभव कर मुझे काफी बल प्राप्त हुआ है।

"अपने को इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से अर्पण कर देने की आश्चर्यजनक शक्ति मैंने अन्य किसी मनुष्य में नहीं देखी। इस सम्बन्ध मे उनमें स्वयं में किसी प्रकार बाधा न थी। एक ओर उनका शरीर, उनका बचपन का यूरोपीय अभ्यास, उनके आत्मीय स्वजनों की स्नेहममता, और दूसरी ओर स्वदेशीय समाज द्वारा उनकी उपेक्षा तथा जिनके लिए उन्होंने प्राण समर्पण कर दिया

है उन लोगों की इनके प्रति उदासीनता तथा इनके त्याग-स्वीकार का अभाव; परन्तु इनमें से कोई भी बात उन्हें अपने पथ पर से लौटा नहीं सकी। जिसने मनुष्य का सद्रूप तथा चिद्रूप जान लिया है उसी ने उन्हें पहचाना है। मनुष्य की आन्तरिक सत्ता सभी प्रकार के स्थूल आवरणों को बिलकुल झूठा बनाकर किस प्रकार अप्रतिहत तेज के साथ प्रकट हो सकती है, यह देख लेना परम सौभाग्य की बात है। भगिनी निवेदिता में मनुष्य के अपराजित माहात्म्य को प्रत्यक्ष देखकर हम धन्य हुए हैं।"

अलमोड़ा में आते ही स्वामीजी को निर्जनता बड़ी प्रिय हो गयी। प्रायः प्रति दिन दस-ग्यारह घण्टे घोर अरण्य में अकेले ध्यान धारणा में बिताया करते थे। दर्शनार्थियों के साथ निरन्तर आध्यात्मिक चर्चा करते रहने से उनका मन मानो उकता रहा था—यहाँ तक कि कभी कभी अन्तरंग भक्तों के साथ भी किसी विषय की देर तक चर्चा करना मानो उनके लिए असहनीय-सा हो गया था। लोकशिक्षा व धर्मप्रचार के लिए ये परिव्राजक संन्यासी अब तक जिस भाव से जीवन व्यतीत करते आ रहे थे उसे मानो एक अभिनेता की पोशाक की भाँति दूर रखकर अब वे उदासीन योगी की तरह विचरण करने लगे। उनके अतीत जीवन का तीव्र तपोभाव तथा बहिर्जगत् पर उनकी प्रबल वितृष्णा समय समय पर उनके हावभाव में प्रकट हो जाती थी। जनसमुदायको को छोड़ वे प्रायः गम्भीर अरण्य में अकेले रहा करते थे।

इस प्रकार एक बार लगभग लगातार एक सप्ताह तक वे अरण्य में रहे और ५ जून सायंकाल को अममोड़ा लौटे। इस समय उन्हें दो हृदयविदारक समाचार सुनने को मिले। स्वामीजी

की अनुपस्थिति में उनके शिष्यों को समाचार मिला था कि गाजीपुर के विख्यात साधु पवहारी बाबा ने अग्नि में स्वयं को आहुति के रूप में अर्पित किया है। और संकेत-लिपि लेखक श्री गुडविन ने भी २ जून को तेज ज्वर के आक्रमण से उटकमण्ड में शरीरत्याग कर दिया है। दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीमती बुल के बंगले में स्वामीजी को यह समाचार सुनाया गया। उन्होंने धीर भाव से उसे सुन लिया--किसी प्रकार का मतामत व्यक्त न किया। पहले की तरह गम्भीर भाव से त्याग व भक्ति की महिमा का कीर्तन करने लगे। परन्तु कुछ घण्टों के बाद उन्हें अपने प्रियतम शिष्य के वियोग से जो हार्दिक आघात पहुँचा था, उसे व्यक्त किया। वे असल में अपने प्राणाधिक प्रिय शिष्य के निधन से दुःखी नही हुए थे, वरन् भारतमाता को जो एक उदीयमान कर्मी की सेवा से वंचित होना पड़ा, इसी दुःख ने उन्हें व्यथित कर दिया था।

कुछ दिन पूर्व मद्रास के 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के सम्पादक का देहान्त होने के कारण इस पत्रिका की अलमोड़ा से प्रकाशित करने की व्यवस्था की गयी। तदनुसार स्वामी स्वरूपानन्द उसके सम्पादक तथा श्री सेविअर उसके परिचालक नियुक्त हुए। इस पत्रिका के प्रति स्वामीजी का बड़ा प्रेम था, और अब सुयोग्य व्यक्तियों को इसका भार ग्रहण करते देख वे विशेष आनन्दित हुए। उसके बाद अपनी युरोपीय शिष्याओं के साथ श्रीमती बुल के अतिथि के रूप में वे काश्मीर-भ्रमण के लिए चले।

रावलपिण्डी से तांगा करके वे मारी पहुँचे। वहाँ पर तीन दिन विश्राम कर उन्होंने श्रीनगर की ओर यात्रा की। झेलम की घाटी के मनोरम दृश्यों को देखते हुए वे बारमुला पहुँचे। इस

स्थान से तीन हाऊस बोट किराये पर लेकर नदी के मार्ग द्वारा वे श्रीनगर की ओर चले। स्वामीजी प्रसन्न चित्त से अपने परिव्राजक जीवन की भ्रमण-कहानियाँ साथियों को सुनाते थे और समय समय पर काश्मीर के अतीत इतिहास, कनिष्क की कहानी, अशोक के बौद्ध धर्म का प्रचार, शिव उपासना इत्यादि विभिन्न विषयों की चर्चा में इस प्रकार आत्मनिमग्न हो जाते थे कि भोजन करने तक का ध्यान न रहता था। २५ जून को वे श्रीनगर आ गये।

परन्तु एक सप्ताह में ही उनमें भावान्तर हो गया। हास्य-प्रफुल्ल विवेकानन्द गम्भीर बन गये। वे प्रायः शिष्याओं के अनजाने अपनी नौका लेकर कहीं दूर चले जाते थे। अकेले निर्जन में रहने के लिए उनके हृदय में विशेष आग्रह दिखायी देने लगा।

४ जुलाई आने ही वाली थी, अतः स्वामीजी अपनी अमेरिकन शिष्याओं को उक्त 'स्वाधीनता दिवस' के उपलक्ष्य में विशेष रूप से आमन्त्रित करने का आयोजन गुप्त रूप से करने लगे। दूसरे दिन प्रातःकाल पत्ते, फूल व पल्लवों से सुशोभित नाव की छत पर अमेरिका का राष्ट्रीय झण्डा फहराया गया। उनकी अमेरिकन शिष्याएँ विस्मित होकर आनन्द के साथ प्रातर्भोजन में सम्मिलित हुईं। इस छोटी सी उत्सव-सभा के अनुष्ठान को सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए स्वामीजी तथा भगिनी निवेदिता ने किसी प्रकार की कमी न की थी। स्वामीजी ने आनन्दपूर्वक 'To the 4th of July' (४ जुलाई के प्रति) शीर्षक स्वरचित एक अंग्रेजी कविता पढ़कर शिष्याओं को सुनायी।

"चौथी जुलाई के प्रति"

काले बादल कट गये आकाश से

युवावस्था में परम कारुणिक श्रीरामकृष्णदेव को गुरु के रूप में न पाते, तो सम्भव है हम उन्हे दयानन्द की तरह विद्रोही देखते। विशाल भारतवर्ष मे उन्हे कुछ भी अच्छा नही दिखायी पड़ा। वे जहाँ भी जाते केवल देखते अज्ञता, कुसंस्कार, शिथिल धर्म-विश्वास व घोर अध:पतन की जड़स्वरूप बुद्धिविहीन लोकाचार तथा लक्ष्यविहीन अर्थहीन असख्य देवी देवताओ की पूजा। महा-शून्य के अनन्त विस्तार में जिस प्रकार प्रदीप्त उल्कापिण्ड का संघर्ष होता है, उसी प्रकार एक दिन (१८६० ई०) भारत की प्राचीन नगरी मथुरा मे गुरु-शिष्य का साक्षात्कार हुआ। बचपन से चक्षुविहीन, ग्यारह वर्ष की उम्र से स्वजन-बान्धव संगी-साथियो से अलग हुए, कठोर तपस्वी, वज्रकठोर निर्मम सन्यासी थे स्वामी विरजानन्द सरस्वती। दयानन्द ने देखा, ये वृद्ध तपस्वी स्वजाति के कुसंस्कार व दुर्बलताओं की पूर्ण हृदय से घृणा करते है। उन्होंने देखा कि प्रचलित निरर्थक बाह्य आडम्बरपूर्ण पूजा-उपासना के विरुद्ध उनका चित्त दयानन्द से भी अधिक तिक्त है। विद्रोही युवक ने इस मरुभूमि के बालुका-स्तूप की भाँति नीरस संसार से न्यारे, समुन्नतशिर, नि:संग विद्रोही गुरु के चरणों पर अपने को समर्पित कर दिया। मूलशंकर की यहीं समाप्ति हो गयी और आविर्भूत हुए दयानन्द सरस्वती। तेज स्वभाववाले गुरु के सभी कठोर व्यवहारो को चुपचाप सहनकर ढाई वर्ष तक उन्होने शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा समाप्त होने पर गुरु ने कहा, "वत्स, संकल्प ग्रहण करो कि समग्र देश मे जो कुसंस्कार, वेद-विरोधी अनार्योचित आचार पुराणों मे प्रविष्ट हो गये हैं, उनका जड़मूल से खण्डन करोगे, बौद्ध युग से पूर्व विद्यमान, विशुद्ध आर्य धर्म का प्रचार करोगे और वैदिक सत्य

होगा उसकी नीव।" शिष्य ने वचन दिया, "गुरुदेव, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।"

संस्कृत भाषा के अद्वितीय विद्वान तथा वेदज्ञ दयानन्द के प्रचारकार्य से समग्र उत्तर भारत हिल गया। 'मेरे द्वारा प्रचारित, वेदप्रतिपाद्य धर्म ही एकमात्र सत्य है, तथा अन्य सभी धर्म व मतवाद भ्रान्त कुसस्कार मात्र है,' इस मतवाद की नींव पर खड़े होकर दयानन्द सरस्वती अपने प्रचार-कार्य मे प्रवृत्त हुए। तीक्ष्णबुद्धि, एकदेशदर्शी, तार्किक दयानन्द के साथ वादविवाद में प्रवृत्त होकर उन्हें तर्कयुद्ध में मना लेना कठिन था। प्रचलित धर्मविश्वास तथा पूजा-पद्धति के विरुद्ध उनके तीव्र व अप्रिय मन्तव्य के कारण प्राचीन सनातन समाज में खलबली मच गयी। परन्तु उनका मतवाद कितना ही संकीर्ण तथा कट्टरतापूर्ण क्यों न रहा हो, पाँच वर्ष के भीतर ही उन्हें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। पंजाब व युक्त प्रान्त के अनेक शिक्षित व भद्र युवक उनके अनुयायी बन गये। दूसरी ओर इन्हीं पाँच वर्षों के भीतर चार-पाँच बार उनके प्राणविनाश की चेष्टा हुई थी। एक दिन आम सभा के बीच एक धर्मान्ध व्यक्ति ने शिवनाम का उच्चारण कर एक जीवित विषधर सर्प उनके मुख पर फेंक दिया, परन्तु उन्होंने बड़ी तेजी से उसे पकड़ लिया और पैरों तले कुचल डाला। दयानन्द जहाँ जाते वहीं आँधी सी उठने लगती। निदान रक्षणशील ब्राह्मणसमुदाय कातर होकर काशी के पण्डित-समाज के द्वार पर गये। विख्यात पण्डितों ने दयानन्द को तर्क में आह्वान किया। निर्भीक दयानन्द ने उसे स्वीकार कर काशी की ओर यात्रा की। १८६९ ई० के नवम्बर मास मे एक विख्यात तर्क-युद्ध हुआ। एक ओर थे तीन सौ प्रसिद्ध पण्डित और दूसरी ओर

अकेले संन्यासी। दयानन्द ने कहा कि वर्तमान प्रचलित वेदान्त वेदविरोधी है तथा वे आर्य ऋषियों के वैदिक धर्म का ही प्रचार कर रहे हैं। परन्तु ब्राह्मण पण्डितों का बहुधा यह स्वभाव नहीं है कि वे धीर स्थिर होकर विचार करें। वे थोड़ी ही देर में असहिष्णु होकर तर्क का विषय छोड़कर गाली-गलौज पर आ जाते है। और यहाँ भी वैसा ही हुआ। पण्डित लोग तर्क छोड़-छाड़कर एक स्वर सें गालियाँ देने लगे! परन्तु इस विख्यात तर्क-युद्ध द्वारा स्वामी दयानन्द का नाम समस्त भारतवर्ष में प्रचारित हो गया।

कलकत्ता के ब्राह्मगण, विशेष रूप से केशवचन्द्र, उनकी प्रसिद्धि को सुन बड़े आनन्दित हुए। मूर्तिपूजा और जातिभेद के इस विरोधी संन्यासी को उन्होने कलकत्ते बुलाया। दयानन्द १५ दिसम्बर १८७२ ई० से १५ अप्रैल १८७३ ई० तक कलकत्ता शहर मे रहे। इस समय श्रीरामकृष्ण ने भी उनसे भेंट की थी। ब्राह्मगण व केशवचन्द्र ने उनकी सादर अभ्यर्थना की। उन्होंने सोचा था कि दयानन्द का प्रयोग वे रक्षणशील हिन्दुओं पर अस्त्र के रूप मे करेंगे। परन्तु पाश्चात्यपन्थी ब्राह्म समाज के धर्ममत के साथ दयानन्द जैसे व्यक्ति का समझौता होना कठिन था। जिस ब्राह्म समाज ने १८४८ ई० मे अपौरुषेय वेदवाणी की प्रामाणिकता की मर्यादा को अस्वीकृत किया, उसके साथ दयानन्द कैसे सहमत होंगे? वे केवल वेद की अभ्रान्तता व पुनर्जन्मवाद में ही विश्वासी नही थे, वरन् वे स्वयं जिस प्रकार व्याख्या करते थे उसके अतिरिक्त और किसी भी प्रकार की व्याख्या उन्हे स्वीकार नही थी। निदान कुछ समय बाद ब्राह्मों ने दयानन्द से आशा छोड़ दी। परन्तु ब्राह्मसमाज के साथ संसर्ग

करने से दयानन्द ने समझ लिया कि उन्हें लौकिक भाषा में प्रचार करना होगा तथा एक संघ या समाज की स्थापना करनी होगी। ब्राह्म नेताओं से अधिक शक्तिमान व गठनमूलक प्रतिभा उनमें थी और इसीलिए उन्होंने थोड़ी ही चेष्टा से एक नवीन सम्प्रदाय का निर्माण किया। जिस समय केशवचन्द्र नवविधान का प्रचार कर ब्राह्म समाज को फिर से आत्मकलह की ओर ले जा रहे थे, ठीक उसी वर्ष १८७५ ई० में बम्बई में दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की। विशेष आश्चर्य की बात यह है कि भारतवर्ष के जिन स्थानों में आर्यों ने प्रथम उपनिवेश स्थापित किया था, उस उत्तर भारत ने ही दयानन्द द्वारा प्रचारित आर्य धर्म को अपनाया। १८७७ ई० में लाहौर मे आर्य समाज के नियम आदि का निर्माण हुआ और वे अपने शिष्यों सहित बड़े उत्साह के साथ पंजाब, आगरा, अयोध्या, गुजरात व राजपूताना में प्रचार करने लगे। परन्तु बंगाल व मद्रास में आर्य समाज अपना वैसा प्रभाव विस्तारित नहीं कर सका। अस्तु, प्रचार-कार्य के प्रचण्ड उद्यम के बीच मे ही उनका जीवनप्रदीप निर्वासित हो गया। किसी महाराजा की एक रखेल स्त्री की चरित्रहीनता पर उन्होंने उसकी तीव्र भर्त्सना की। उस पापिनी ने विष देकर उनकी हत्या की। १८८३ ई० के अक्टूबर मास में अजमेर में, स्वामी दयानन्द का देहान्त हो गया। परन्तु उनकी मृत्यु से उनके प्रचार-कार्य में किसी प्रकार की क्षति नही हुई। १८९१ ई० में जिस सम्प्रदाय की जन-संख्या चालीस हजार थी आज उसकी संख्या लगभग दस लाख है। परन्तु ब्राह्म समाज सौ वर्ष में तीन-चार हजार से अधिक ब्राह्मवादी न बना सका। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा-प्रचार व समाज-संस्कार में आर्य-

समाज ने समग्र उत्तर भारत में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय आदि प्रमुख शक्तिमान नेतागण आर्य-समाजी ही थे। लोकहितव्रती आर्य समाज शिक्षाप्रचार में, और विशेष रूप से स्त्रीशिक्षा व नारी जाति की उन्नति की व्यवस्था में, विधवाश्रम व अनाथालयों की स्थापना में, भूकम्प मे, दुर्भिक्ष तथा बीमारियों से पीड़ित प्रदेशों की सेवा में श्रीरामकृष्ण मिशन स्थापित होने के पहले से ही कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुआ था। और विगत अर्ध शताब्दि में आर्य समाज की अनेक लोकहितकर संस्थाएँ बन गयी हैं।

लाहौर में विवेकानन्द की ओर आर्य-समाजी नेताओं की सहज ही में दृष्टि आकृष्ट हुई। वेदान्त, अद्वैतवाद तथा मूर्तिपूजा के विरोधी आर्य समाजियों के साथ नितान्त भिन्न मतावलम्बी विवेकानन्द का प्रायः तर्क होता था। आर्य समाजी नेताओं के चरित्र, त्याग व लोकहितव्रत के प्रति श्रद्धा प्रकट करने मे स्वामीजी कभी आगा-पीछा नही करते थे, परन्तु उनसे साम्प्रदायिक कट्टरपन का प्रतिवाद वे स्पष्ट रूप से करते थे।

'दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज' के अध्यक्ष लाला हंसराज आदि आर्य समाजी एक दिन वार्तालाप के सिलसिले में आर्यसमाज के इस मत का समर्थन कर रहे थे कि 'वेद का केवल एक ही प्रकार का अर्थ हो सकता है।' स्वामीजी नाना प्रकार की युक्तियाँ देकर यह समझा रहे थे कि अधिकार के अनुसार भिन्न भिन्न मतों का अवलम्बन कर उन्नति के पथ मे अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है। हसराज विपरीत युक्तियो के प्रयोग द्वारा उसका खण्डन करने की चेष्टा कर रहे थे। अन्त मे स्वामीजी बोल उठे, "लालाजी, आप लोग जिस विषय के बारे मे इतना आग्रह प्रकट

कर रहे हैं, उसे हम fanaticism अथवा कट्टरपन कहते हैं। हम यह जानते हैं कि इसके द्वारा सम्प्रदाय को शीघ्र विस्तृत बनाने में सहायता होती है और मैं यह भी जानता हूँ कि शास्त्र के कट्टरपन की अपेक्षा मनुष्य के कट्टरपन (इस प्रकार का प्रचार कि व्यक्तिविशेष को अवतार मानकर उनकी शरण लेने से ही मुक्ति होगी) के द्वारा और भी आश्चर्यजनक तथा शीघ्रता से सम्प्रदाय का विस्तार होता है। और मेरे हाथ में वह शक्ति भी है। मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण का ईश्वरावतार के रूप में प्रचार करने के लिए मेरे अन्य सभी गुरुभाईगण कटिवद्ध हैं। एकमात्र मैं ही उस प्रकार के प्रचार का विरोधी हूं, क्योंकि मेरा दृढ़ विश्वास है—मनुष्य को उसके अपने विश्वास व धारणा के अनुसार उन्नति करने देने पर यद्यपि वहुत ही मन्द गति से उन्नति होती है, परन्तु जो उन्नति होती है वह बिल्कुल पक्की होती है।"

एक दूसरे दिन स्वामीजी श्राद्ध के सम्वन्ध में आर्यसमाजियों के साथ शास्त्रार्थ मे प्रवृत्त हुए थे। आर्य-समाजी पितृगणों के श्राद्ध मे विश्वास नहीं करते और न उसकी उपयोगिता ही मानते है। हिन्दू समाज की ओर से अनुरुद्ध होकर ही स्वामीजी इस कार्य मे अग्रसर हुए थे और उस दिन आर्यसमाजी पण्डितों को स्वामीजी के युक्ति-तर्कों के सामने नीरव होना पड़ा था। स्वामीजी अपने वार्तालाप के सिलसिले में यद्यपि आर्य-समाजी प्रचारकों के उत्कट कट्टरपन तथा दूसरों के मत के प्रति उनकी असहिष्णुता की तीव्र समालोचना करते थे, परन्तु फिर भी आर्य-समाजी उन-पर कभी असन्तुष्ट नहीं हुए। अपने मत का समर्थन अथवा युक्तिविरोधी मतों का खण्डन करते समय ये योद्धा

संन्यासी यद्यपि दृप्त तेज के साथ विरोधी पक्ष की युक्तियों का निर्मम भाव से खण्डन किया करते थे, फिर भी उनकी प्रत्येक बात में असम्प्रदायिकता का उदार भाव सदैव ही प्रकट होता था। स्वामीजी के इस असम्प्रदायिक उदार भाव को देख सनातन पन्थी व आर्य-समाजी दोनों ही दल समान रूप से इनके प्रति आकृष्ट हुए थे। आर्य-समाजी प्रचारकों ने प्राचीन पन्थी हिन्दू समाज के मस्तक पर जो लगातार अभिशापो की वर्षा की थी, उसके फलस्वरूप दोनों दलों मे पर्याप्त मनोमालिन्य व असन्तोष पैदा हो गया था। पर स्वामीजी कितने ही लोगों के चित्त से ग्लानि की वेदना को दूर करने मे समर्थ हुए थे। आर्य-समाजी, हिन्दू व सिक्खों के बीच प्रीति स्थापित करने के लिए स्वामीजी ने सभी समाजों के युवकों को लेकर लाहौर में एक समिति की स्थापना की और उन्हें इस बात के लिए उत्साहित करने लगे कि वे जाति व धर्म का विचार किये विना मनुष्यमात्र की औषधि, शुश्रूषा, भोजन, वस्त्र तथा शिक्षादान द्वारा सेवा करे। सेवाधर्म की उदार नीति को आदर्श जीवन में परिणत करने का निर्देश देकर स्वामीजी सभी सम्प्रदायो के सम्मान एवं श्रद्धा के पात्र बन गये थे।

आर्य समाज के भूतपूर्व प्रचारक तथा स्वामीजी के एक विशेष भक्त स्वामी अच्युतानन्द ने भावी जीवन-चरित्र लेखकों की सुविधा के लिए आचार्यदेव के पंजाब व काश्मीर भ्रमण की जो सक्षिप्त डायरी रखी थी, उसमे हम स्वामीजी की विशाल-हृदयता के दो सुन्दर उदाहरण पाते है। एक दिन स्वामीजी अपने साथियो के सामने किसी व्यक्ति की बहुत प्रशंसा कर रहे थे, इतने में एक व्यक्ति बोल उठा, "स्वामीजी, वह तो आपको

नहीं मानता है।" स्वामीजी ने उसी समय कहा, "भला आदमी बनने के लिए मुझे मानना ही होगा, ऐसा थोड़ा ही है?"

इस समय ग्रेट इण्डियन सर्कस के मालिक वाबू मोतीलाल घोष कार्यवंश एक दिन नगेन बाबू के मकान पर आये। स्वामीजी ने उन्हें देखते ही पहिचान लिया और एक निकट आत्मीय की तरह वे उनके साथ वार्तालाप करने लगे। बाल्यकाल में वे दोनों एक ही व्यायामशाला में व्यायाम करते थे। मोती बाबू अपने बचपन के साथी के अपूर्व तेज, प्रतिभा व शक्तिव्यंजक मुखमण्डल को देख आश्चर्यचकित रह गये। स्वामीजी जितना ही उनके साथ भाई जैसा व्यवहार व वार्तालाप करने की चेष्टा करते, उतने ही वे अधिक संकुचित होने लगे। अन्त में कुछ साहस बटोरकर मोती बाबू ने दीनता के साथ स्वामीजी से कहा, "भाई, तुम्हें अब क्या कहकर पुकारूँगा?" स्वामीजी ने बहुत ही स्नेहपूर्ण स्वर में कहा, "अरे मोती, क्या तू पागल हो गया है? मैं बन क्या गया हूँ? मै भी वही नरेन हूँ और तू भी वही मोती है।" स्वामीजी ने ऐसे स्नेहभाव से बातचीत की कि मोती बाबू का सारा संकोच दूर हो गया।

स्वामीजी लाहौर में वहाँ के एक कालेज के गणित के प्रोफेसर तीर्थराम गोस्वामी के साथ परिचित हुए। स्वामीजी के भाषण व चरित्र से प्रोफेसर महोदय स्वामीजी की ओर विशेष आकृष्ट हुए। घनिष्ट परिचय के फलस्वरूप प्रेम काफी बढ़ा। एक दिन प्रोफेसर ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि वे अपने शिष्यों सहित उनके घर मे भिक्षा ग्रहण करने की कृपा करे। उनका उद्देश्य था—स्वामीजी के साथ अपने कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में आलोचना करना। योग्य अधिकारी देखकर स्वामीजी ने वेदान्तप्रचार के

कार्य में उन्हें प्रेरित किया। स्वामीजी ने अपने विवेक वैराग्यवान तथा शिक्षित मित्र को स्वदेश व विदेश में वेदान्त-प्रचार के द्वारा होनेवाले महान् कल्याण की बातों को इस प्रकार समझा दिया कि प्रोफेसर महोदय के जीवन मे एक नया परिवर्तन आ गया। वेदान्तप्रचार के कार्य में अपना जीवन उत्सर्ग कर देने के लिए उन्होंने दृढ़ संकल्प किया। विदा लेने से पूर्व तीर्थराम ने स्वामीजी को उपहार में अपनी प्रिय वहुमूल्य सोने की घड़ी दी। स्वामीजी ने प्रसन्नता से वह स्वीकार कर ली और दूसरे ही क्षण प्रेमपूर्वक उस घड़ी को प्रोफेसर की ही जेव में रखकर कहा, "मित्र, इस घड़ी का व्यवहार मैं इस जेब मे ही रखकर करूँगा।" अर्थपूर्ण हँसी के साथ स्वामीजी ने तीर्थराम की ओर देखा। उन्होंने स्वामीजी के उस मौनभाव को पूर्ण हृदय से ग्रहण किया और कुछ ही समय बाद उन्होंने अपना प्रोफेसर-पद त्यागकर स्वामीजी के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए प्रचारकार्य में आत्मोत्सर्ग कर दिया। यही प्रोफेसर महोदय आगे चलकर स्वामी रामतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुए। प्रतिभाशाली रामतीर्थ ने अमेरिका, मिश्र देश व भारतवर्ष में भी वेदान्त-प्रचारकार्य में काफी सफलता प्राप्त की। परन्तु देश के दुर्भाग्य से थोड़े समय में ही वे कर्मक्षेत्र से हटा लिये गये। आर्यसमाजी स्वामी अच्युतानन्द, प्रकाशानन्द तथा अन्य कुछ प्रचारक संन्यासी स्वामीजी के ज्वलन्त उत्साह से अनुप्राणित हो वेदान्त-प्रचारकार्य में डट गये। आर्य समाज पर इस समय स्वामीजी का प्रभाव इतना अधिक हो गया था कि जनता में यह चर्चा होने लगी कि वे शीघ्र ही नेता के रूप में इस समाज के परिचालन का भार अपने ऊपर लेंगे।

शारीरिक अस्वस्थता के कारण स्वामीजी को कुछ दिनों के

लिए देहरादून में आकर विश्राम करना पड़ा। परन्तु असल में उन्हें विश्राम का अवसर नहीं मिला। समागत व्यक्तियों के साथ धर्म व समाज सम्बन्धी समस्याओं की चर्चा के अतिरिक्त प्रतिदिन नियमित रूप से उन्हें अपने शिष्यों को आचार्य रामानुज के भाष्य सहित वेदान्त दर्शन व सांख्य दर्शन पढ़ाना पड़ता था। अब देहरादून में स्वामीजी के पास खेतरी राज्य से लगातार आमन्त्रण आने लगे। अतएव राजपूताना जाने के लिए वे देहरादून से सहारानपुर होकर दिल्ली पहुँचे। दिल्ली में चार-पाँच दिन व्यतीत कर स्वामीजी ने अपने साथियों के साथ अलवर की यात्रा की।

पाठकों को स्मरण होगा, कुछ वर्ष पूर्व स्वामीजी परिव्राजक के वेश में इस नगर में एक नितान्त अपरिचित व्यक्ति के रूप में आये थे। स्टेशन पर उतरते ही स्थानीय भद्र व्यक्तियों ने स्वामीजी की समुचित अभ्यर्थना की। एक समय जब स्वामीजी कुछ उच्चवंशीय शिक्षित व धनी व्यक्तियों के साथ वार्तालाप कर रहे थे, तब उन्होंने देखा कि थोड़ी दूर पर उनका एक निर्धन शिष्य मलिन वेश में खड़ा होकर प्यासी आँखों से उनकी ओर देख रहा है। स्वामीजी ने उसी समय उसे अपने पास बुला लिया। शिष्य ने आनन्दपूर्वक आकर उनकी पदधूलि ली और स्वामीजी उसे अपने पास बिठाकर अपने दूसरे शिष्यों की कुशल क्षेम उससे पूछने लगे। और इधर जो अनेक भद्र महोदयगण बैठे थे, उनको तो मानो वे थोड़ी देर के लिए भूल ही से गये। उनके पूर्वपरिचित मित्र व भक्तगण यह देखकर बड़े विस्मित हुए कि विश्वव्यापी प्रतिष्ठा, यश व सम्मान प्राप्त करके भी स्वामीजी वैसे ही उदार, स्नेहपरायण, मित्रवत्सल तथा उदासीन संन्यासी

ही हैं। वे अपने निर्धन शिष्य व भक्तों के घर में जाकर पहले की तरह सरल भाव से भिक्षा ग्रहण करने लगे। इससे पूर्व स्वामीजी ने किसी एक निर्धन भक्तिमती विधवा महिला का भी आतिथ्य ग्रहण किया था। अनेक वर्ष पुरानी बात होने पर भी वे उसे न भूले थे। एक दिन उन्होंने उन महिला के पास समाचार भेजा कि वे अपने शिष्यों सहित उनके घर मे भिक्षा ग्रहण करेगे और वह पहले की ही तरह चपाती बनाकर रखे। यह समाचार सुनकर उस महिला का हृदय आनन्द से भर गया। अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह अतिथिसेवा की तैयारी करने लगी। स्वामीजी जब शिष्यों के साथ भोजन करने बैठे तो वह डबडबायी आँखों से चपाती परोसती हुई रुद्ध कण्ठ से बोली, "मै गरीब हूँ, इच्छा होते हुए भी तुम्हें देने लायक मिठाई आदि कहाँ मे पाऊँ बाबा ?" पर स्वामीजी ने आनन्द के साथ परोसी हुई सामग्री को ही खाते हुए कहा, "माँ, तुम्हारी इन चपातियों जैसा मधुर भोजन मैंने और कभी नही खाया।" शिष्यों से कहा, "देखा कैसी भक्तिमती महिला है ! इस प्रकार का सात्त्विक आहार मेरे भाग्य में अनेक दिनों से प्राप्त नही हुआ।" स्वामीजी उन वृद्धा महिला की पारिवारिक शोचनीय अवस्था के बारे में भलीभाँति जानते थे, इसीलिए इन महिला के परोक्ष में घर के किसी अन्य पुरुष के हाथ पर उन्होंने एक सौ रुपये का एक नोट रख दिया। उसे लेने में उस व्यक्ति ने आपत्ति तो बहुत की, परन्तु स्वामीजी ने उसकी एक न सुनी।

अलवर से स्वामीजी जयपुर पधारे। वहाँ से खेतरी के राजा साहब की व्यवस्था के अनुसार खेतरी की ओर यात्रा की। जयपुर से खेतरी ९० मील दूर है। कोई घोड़े पर, कोई ऊँट पर

और कोई रथ पर सवार होकर चले। राजा साहब ने खेतरी से १२ मील आगे बढ़कर राजोचित समारोहपूर्वक स्वामीजी की अभ्यर्थना की। स्वामीजी के आगमन के उपलक्ष्य में नगर में नाना प्रकार के आमोदप्रमोद होने लगे। रात को आतिशबाजी के खेल हुए। दरिद्रनारायणों को प्रचुर भोजन से परितृप्त किया गया।

अभ्यर्थना सभा में स्वामीजी के पदार्पण करने पर राजकर्मचारीगण व सरदार तथा उपस्थित प्रतिष्ठित नागरिकों ने एक एक करके स्वामीजी की पदधूलि ग्रहण की और राजदरबार की प्रथा के अनुसार प्रत्येक ने उन्हें दो-दो रुपये नजराना के रूप में दिये। स्वयं राजा साहब ने तीन सहस्र मुद्राओं की भेंट देकर प्रणाम किया। इस नियमपालन को समाप्त होने में लगभग दो घण्टे लगे। उसके बाद अभिनन्दन-पत्र पढ़ा गया। यह जानकर कि राजा साहब स्वामीजी के उपदेश के अनुसार शिक्षाप्रचार के लिए चेष्टा कर रहे हैं, उन्होंने आनन्द प्रकट किया। शिक्षा के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए स्वामीजी बोले, "शिशुओं को शिक्षा देनी हो तो उन पर अधिक मात्रा में विश्वास रखना होगा। यह मानना होगा कि प्रत्येक शिशु अनन्त ईश्वरीय शक्ति का आधार है। शिशु को शिक्षा देते समय हमें एक और बात का स्मरण रखना चाहिए, और वह यह है कि हमें उन्हें उन विषयों में उत्साह देना होगा, जिससे वे स्वयं चिन्तन करना सीखें। इस मौलिक चिन्तन की कमी ही भारत की वर्तमान हीन अवस्था का कारण है। यदि लड़कों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय तो वे मनुष्य बनेंगे तथा जीवनसंग्राम में अपनी समस्याओं को पूर्ण करने में समर्थ होंगे।"

स्वामीजी शिष्यों सहित जिस बंगले में थे, वहाँ २० दिसम्बर को सभा हुई। स्थानीय सभी शिक्षित व्यक्ति तथा कुछ यूरोपीय भद्र सज्जन महिलाएँ उपस्थित थी। राजा साहब ने सभापति का आसन ग्रहण किया। उन्होंने सभा को स्वामीजी का परिचय दिया और उसके बाद स्वामीजी ने लगभग डेढ़ घण्टे तक एक सारगर्भित तथा ज्ञानपूरित भाषण दिया। वर्तमान भारत में धर्म की अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होने बड़े दुःख तथा क्षोभ के साथ कहा, "हम हिन्दू भी नहीं है और वैदान्तिक भी नही—असल में हम है 'छुआछूत' पन्थी। रसोईघर हमारा मन्दिर है, पकाने का बर्तन हमारा उपास्य देवता है और 'मत छुओ, मत छुओ' मन्त्र है! समाज के इस अन्ध कुसंस्कार को शीघ्र दूर करना होगा। और वह एकमात्र उपनिषदों के उदार मतों द्वारा ही हो सकता है।"

इस प्रकार अपने राजशिष्य के साथ कुछ दिन बड़े आनन्द से बिताकर स्वामीजी ने विदा ली। वे लगातार भाषण व प्रचारकार्य से थक गये थे। फिर भी आग्रहपूर्ण आमन्त्रणों की उपेक्षा करने में असमर्थ होकर किसी प्रकार वे किशनगढ़, अजमेर, जोधपुर व इन्दौर होकर खण्डवा पहुँचे। खण्डवा में आकर स्वामीजी का शरीर बहुत अस्वस्थ हो गया। इतने में ही बड़ौदा, गुजरात व बम्बई प्रेसिडेन्सी से आग्रहसूचक आमन्त्रण-पत्र व तार आने लगे। प्रवल इच्छा रहते हुए भी स्वामीजी अस्थायी रूप से भ्रमणकार्य को स्थगित कर कलकत्ता लौट आये।

पंजाब, काश्मीर व राजपूताना मे दिये हुए स्वामीजी के विख्यात भाषणों को पढ़ने से स्वामीजी का उदार भाव, उनका धर्म का सार्वभौमिक आदर्श व उनकी शिक्षाप्रणाली की मौलिकता

देखकर विस्मित होना पड़ता है। एक ओर उन्होंने जिस प्रकार आधुनिक सुधारक सम्प्रदायों की वैदेशिक-भावपूर्ण कार्यप्रणाली की तीव्र आलोचना की है, उसी प्रकार दूसरी ओर उन्होंने उन्नति के विरोधी, संकीर्ण भाववाले कट्टर-पन्थियों के पुराने संस्कारों का, जिनमें वे अन्धविश्वासी होकर अपने को जकड़े हुए थे, उपहास करने में कमी नहीं की——साथ ही यह भी बता दिया कि उन लोगों की यह रूढ़िप्रियता एक प्रकार से पागलपन ही कही जा सकती है। स्वामीजी की धारणा थी कि वेदान्त के महान् सत्यों की उपेक्षा करनें के फलस्वरूप ही भारतवर्ष की वर्तमान दुरवस्था हुई है। एक ही वेदान्तदर्शन के अवलम्बन से विभिन्न प्रकार के विरोधी मतवादों का उद्‌भव होने के कारण कालक्रम से वह दार्शनिक पण्डितों के तीव्र मस्तिष्कों के प्रशस्त व्यायाम-क्षेत्र के रूप में परिणत हो चला है। पुराण तथा कुछ आधुनिक स्मृतिशास्त्र और विशेष रूप से देशाचार व लोकाचार ही धर्म-जगत् में वेदान्त के स्थान पर अधिकार प्राप्त कर बैठे हैं। यहाँ तक कि वेदान्त के नाम से इस समय लोग एक ऐसे दुर्बोध दर्शन-शास्त्र को समझते है, जिसके साथ प्रचलित धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस भ्रान्त विश्वास को दूर करने के लिए युगप्रवर्तक आचार्यदेव ने अद्वैतानुभूति के अत्युच्च शिखर पर खड़े होकर सभी जातियों, सभी सम्प्रदायों के दुर्बल, निर्धन, दुःखी पददलितों को वज्रस्वर से पुकारते हुए उन्हें अपने पैरों खड़े होकर मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करने का आदेश दिया है। यदि भारत ने अभी भी उनके उपदेशों के मर्म को नहीं समझा है, तथा उनके द्वारा प्रचारित आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा अब भी नहीं की, तो भारत के भविष्य को ईश्वर ही सँभाले !

१८९८ ई० के जनवरी मास के मध्य मे स्वामीजी अपने गौरवमय उत्तर भारतभ्रमण को समाप्त कर कलकत्ता लौट आये। बहुत दिनों से उनका भागीरथी के तट पर एक स्थायी मठ निर्माण करने का संकल्प था। पाश्चात्य देशों से भारत मे लौटते ही उन्होंने अपने इस संकल्प की बात गुरुभाइयों के समीप प्रकट की और तदनुसार वे योग्य स्थान की खोज में लगे थे। भागीरथी के पश्चिम तट पर बेलुड़ गाँव मे योग्य स्थान का पता पाते ही स्वामीजी की शिष्या एवं भक्त कु० हेनरिएटा मूलर द्वारा दिये प्रचुर धन से वह भूमि खरीद ली गयी। यह स्थान इससे पूर्व नौकाओं के अड्डे के रूप में व्यवहृत हो रहा था। उसे समतल बनाकर मठ का निर्माण करने में प्राय: एक वर्ष का समय लगा। मठ की भूमि को समतल बनाने में तथा पुराने एकमंजले मकान की मरम्मत कर दुमजला बनाने में जो धन लगा, वह स्वामीजी के लन्दन के शिष्यों ने दिया था। स्वामीजी की अन्यतम अमेरिकन शिष्या श्रीमती ओलीबुल ने वर्तमान 'ठाकुरघर' के निर्माण का सारा व्ययभार स्वयं उठाया और मठ का खर्च चलाने के लिए बेलुड़ मठ के संचालकों के हाथ में एक लाख से अधिक रुपये दिये। इस प्रकार ईश्वर की कृपा से स्वामीजी के जीवन का एक महान् संकल्प पूर्ण हुआ। उधर हिमालय में मठस्थापना के लिए सेविअर दम्पति योग्य स्थान की खोज में थे। बेलुड़ मठ का निर्माणकार्य प्रारम्भ होने के साथ ही मठ आलमबाजार से बेलुड़ गाँव के नीलाम्बर मुखोपाध्याय के बगीचेवाले मकान में लाया गया। यह बगीचेवाला मकान संन्यासियों के लिए अस्थायी रूप से किराये पर ले लिया गया था। स्वामीजी अपने शिष्य व गुरुभाइयों सहित वहाँ पर आकर निवास करने लगे।

इस बीच में स्वामी सारदानन्दजी अमेरिका में वेदान्त-प्रचार-कार्य में यथेष्ट सफलता प्राप्त कर कार्यवश मठ लौट आये। स्वामी शिवानन्दजी भी प्रायः लगभग एक वर्ष से अधिक सीलोन में प्रचारकार्य कर रहे थे। वे भी मठ में लौट आये। स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी दिनाजपुर में दुर्भिक्ष का समाचार पाकर सेवा व सहायता के उद्देश्य से वहाँ पर गये थे। उस कार्य को भलीभाँति समाप्त कर वे भी मठ में लौट आये। स्वामीजी की अनुपस्थिति में स्वामी ब्रह्मानन्दजी रामकृष्ण मिशन का कार्य भलीभाँति चला रहे थे तथा स्वामी तुरीयानन्दजी मठ में रहकर नवीन संन्यासी व ब्रह्मचारियों को शिक्षा देने का कार्य कर रहे थे। गुरुभाइयों के निःस्वार्थ आत्मत्याग को देखकर स्वामीजी वहुत प्रसन्न हुए। उन्हें धन्यवाद देने के लिए शिवरात्रि के दिन तीसरे प्रहर एक छोटी सी सभा बुलायी गयी। स्वामीजी सभापति बने। उनके निर्देशानुसार पहले अन्यान्य गुरुभाइयों के भाषण हुए। उसके बाद स्वामीजी ने लगभग आध घण्टे तक ओजपूर्ण भाषा में मठ के संन्यासी व ब्रह्मचारियों के तत्कालीन कर्तव्य तथा उनके आदर्श के सम्बन्ध में एक भाषण दिया।

इसके थोड़े ही दिन बाद श्रीरामकृष्णदेव का जन्मदिवस आ गया। महोत्सव की व्यवस्था का भार स्वामीजी ने स्वयं ग्रहण किया। इस दिवस प्रातःकाल स्वामीजी ने घोषित किया कि वे श्रीरामकृष्ण के तथा अपने अब्राह्मण शिष्यों को यज्ञोपवीत प्रदान करेंगे। शिष्य श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को उपनयन व गायत्री मन्त्र प्रदान करने का कार्य सौपा गया। स्वामीजी ने कहा, "श्रीराम-कृष्ण के भक्तगण सभी ब्राह्मण हैं। वेद कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य तीनों वर्णों को ही उपनयन संस्कार का अधिकार

है। संस्कार के अभाव में वे लोग इस समय व्रात्यत्व को प्राप्त हो रहे है। आज श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि है। इस पुण्य अवसर पर वे अपने अधिकार के अनुसार क्षत्रियत्व व वैश्यत्व को ग्रहण करें। समय पर इन्हें ब्राह्मण बना डालना होगा।" स्वामीजी के निर्देशानुसार लगभग पचास व्यक्तियों ने गंगास्नान करके श्रीरामकृष्ण के चित्र के सामने यज्ञोपवीत तथा गायत्री मन्त्र ग्रहण किया। यज्ञोपवीत ग्रहण करने के बाद उन भक्तों को सम्बोधित कर स्वामीजी ने आवश्यक उपदेश आदि दिये और उन्हें प्रतिदिन गायत्री मन्त्र जप करने का निर्देश दिया।

सामाजिक चिर-आचरित प्रथा के विरुद्ध स्वामीजी का यह असीम साहसपूर्ण कार्य उस दिन कट्टरपन्थी हिन्दू समाज की किस तीव्र आलोचना का विषय बना होगा, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। यद्यपि कुछ सामाजिक प्रथाएँ तथा आचार-व्यवहार उनकी दृष्टि में हिन्दू शास्त्र व भारतीय विशिष्ट सभ्यता के विरोधी प्रतीत हुए थे, फिर भी किसी नवीन संस्कार द्वारा एकाएक समाज पर आघात करना उनका उद्देश्य न था। परन्तु यह उपनयन संस्कार उस प्रकार का नही था। इसका वास्तविक उद्देश्य था, बहुत दिनों से सोयी हुई हिन्दू जाति को आत्मचेतना देना। बहुत दिनों से अनेक शाखा-उपशाखाओं मे विभक्त हिन्दू कहलानेवाले जातियों को एकत्र करके शास्त्रों के अनुसार चार मूल वर्णों में लाने की आवश्यकता का वे अनुभव करते थे और इस बात पर विश्वास रखते थे कि इस प्रकार फिर से वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करना सम्भव होगा। समाज में शूद्र नाम से कहे जानेवाले जिन व्यक्तियों ने इस समय यज्ञोपवीत ग्रहण किया, उन्हें अपने समाज में निस्सन्देह अनेक कष्ट सहने पड़े थे। परन्तु

बेलुड़ मठ के इस छोटे तथा निर्भीक कार्य ने आगे चलकर बंगाली समाज पर यथेष्ट प्रभाव फैलाया है, क्योंकि स्वामीजी के जीवित रहते ही बंगाल की कुछ प्रबल जातियों ने क्षत्रियत्व व वैश्यत्व की माँग पेश करके आन्दोलन उपस्थित किया था। और इस समय हम देख रहे हैं, प्राचीन दल की तीव्र आपत्ति रहते हुए भी वे अनेकांश में सफल हुए हैं। अवश्य ही सत्य की दृष्टि से इस बात को स्वीकार करना पड़ता है कि किसी किसी जाति की क्षत्रिय या वैश्योचित संस्कारप्राप्ति में अतीत की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा के बदले कृत्रिम आभिजात्य प्राप्त करने की चेष्टा ही अधिक प्रकट हो रही है। फिर भी इन सब चेष्टाओं की दोष-त्रुटियों की उपेक्षा कर इसकी मूल भावना के साथ सभी स्वजातिहितैषी चिन्तनशील व्यक्तियों की सहानुभूति रहना अत्यन्त वांछनीय है। अपने को जानने की, अपने को समझने की; समाजजीवन में उचित स्थान तथा जिम्मेदारी को ग्रहण करने की यह चेष्टा जिस आत्मचेतना को जाग्रत करेगी, परिणाम में उसका फल अच्छा ही होगा। कालपुरुष का संकेत है—देश के श्रेष्ठ जातिसमूह अब पतित की श्रेणी में न रहेंगे। अपने अपने वर्णों की उचित शिक्षादीक्षा को प्राप्त करने का उत्साहपूर्ण उद्यम उनमें जाग उठा है—यह युगधर्म की प्रेरणा है, इसमें बाधा उत्पन्न करने की चेष्टा मूढ़ता मात्र है। निरर्थक प्रथाओं के आवरण से नव-जागरण को ढँके रखना असम्भव है—असाध्य है।

इसी प्रसंग में यहाँ पर एक और बात का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। जाति की शक्तिवृद्धि के लिए स्वामीजी ने पहले पहल एक ही जाति की विभिन्न शाखाओं में वैवाहिक आदानप्रदान के प्रति हमारी दृष्टि आकृष्ट की है। एक ओर

विवाहयोग्य कन्याओं के विवाह की चिन्ता और दूसरी ओर विवाहयोग्य कन्याओं का अभाव---इन दो विपरीत परिस्थितियों के प्रबल दवाव से पिसकर भी आज तक किसी ने इस विषय में उल्लेखनीय आन्दोलन उपस्थित नही किया। फिर भी हमें आशा है---उदीयमान उन्नतिशील नवयुवक इस विषय में और अधिक उदासीन नही रहेंगे।

१८९८ ई० के जनवरी से अक्टूबर तक स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण मठ की स्थापना व संघ की संगठन सम्बन्धी कार्यप्रणाली को व्यवस्थित करने में तथा शिष्य व शिष्याओं के शिक्षा-दान के कार्य में ही प्रधानतया अपना समय लगाया। जनवरी मास के मध्य में उत्तर व पश्चिम भारत का भ्रमण समाप्त कर वे खण्डवा से कलकत्ता लौट आये। इधर कुछ दिनों के बाद ही कुमारी मूलर के साथ कुमारी मार्गारेट नोबल पाश्चात्य समाज के सभी बन्धनों को छिन्न कर कलकत्ता आयीं। फरवरी मास में श्रीमती ओली बुल व कुमारी मैकलीऔड् अमेरिका से श्री गुरुदेव की जन्मभूमि का दर्शन तथा भारतीय शिक्षा व संस्कृति के साथ प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करने तथा नवीन संघ के कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए इस देश में आ गयी। सहृदया कुमारी रलमू तथा श्रीमती बुल आदि की आर्थिक सहायता से गंगा के पश्चिम तट पर बेलुड़ गाँव में मठभवन के निर्माण के लिए कुछ जमीन, एक पुराने मकान के साथ खरीद ली गयी और उसके पास ही नीलाम्बर मुखोपाध्याय का बगीचेवाला मकान किराये पर ले लिया गया। आलमबाजार मठ से संन्यासी व ब्रह्मचारीगण इस नवीन मकान मे चले आये। इसके बाद शिष्याएँ कुछ तो नये खरीदे हुए मकान मे और कुछ कुटियों में निवास करने लगीं।

अवकाश पाने पर स्वामीजी इनकी कुटियों में आकर भारतीय आचारव्यवहार, इतिहास-दर्शन आदि की चर्चा किया करते थे। कुमारी मार्गरिट नोवल पहले से ही तैयार होकर आयी थी। स्वामीजी के निर्देशानुसार सुपण्डित स्वामी स्वरूपादनन्दजी ने उनकी शिक्षा का भार ग्रहण किया। परन्तु कुमारी नोवल ने संघ के साथ सम्पूर्ण रूप से सम्मिलित होने के लिए श्री गुरुदेव की अनुमति माँगी। शिष्या का अभिप्राय तथा हार्दिक इच्छा को देख स्वामीजी ने उन्हें ब्रह्मचर्य के व्रत में दीक्षित किया। कुमारी नोबल ने जब भारतवर्ष में आने के लिए स्वामीजी की अनुमति माँगी थी उस समय स्वामीजी ने उत्तर दिया था—"निर्धनता, अध:पतन, कूड़ाकर्कट, फटे-मैले वस्त्र पहने हुए नर-नारियों को देखने की यदि इच्छा हो तो चली आओ, दूसरी किसी चीज की आशा करके न आना। हम तुम लोगों की हृदयविहीन आलोचना को सहन नही कर सकते।" भारत की अध:पतित जनता के आचारव्यवहार पर पाश्चात्यदेशीय व्यक्तियों के निर्दयतापूर्ण व्यंगों से विवेकानन्द का हृदय बाणविद्ध सिंह के समान गर्जना कर उठता था। एक अंग्रेज महिला एक दिन एक अद्भुत वेषधारी कुरूप ब्राह्मण को देखकर हँस पड़ी थी। विवेकानन्द ने उसी समय गम्भीर होकर कहा "चुप रहो, इनके लिए तुमने क्या किया ?" स्वदेशवासियों के प्रति विवेकानन्द के गम्भीर प्रेम को कु० नोवल भलीभाँति जानती थी। वे यह भी जानती थी कि विवेकानन्द का अनुसरण करना हो तो सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण करना होगा। अपने व्रत की जिम्मेदारी को भलीभाँति अनुभव करके ही कु० नोवल ब्रह्मचारिणी बनीं और यही पर कु० नोवल के इस नाम की समाप्ति हुई। अब वे

विवेकानन्द की मानसकन्या 'भगिनी निवेदिता' के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

नवदीक्षिता शिष्या को आशीर्वाद देकर महान् गुरुदेव ने कहा, "आओ, वत्से, तुम उन्हीं का अनुसरण करो जिन्होंने बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व पाँच सौ वार लोककल्याण के व्रत में अपने को उत्सर्गित किया था।"

मठ के निर्माण सम्बन्धी कार्य तथा शिक्षादान के कार्य में बड़े उत्साह के साथ स्वामीजी लग गये थे, परन्तु उनकी शारीरिक अस्वस्थता विघ्न के रूप में उनके सम्मुख खड़ी हो गयी। चिकित्सकगण उनके वायुपरिवर्तन तथा विश्राम के लिए जोर देने लगे। विवश होकर कार्य का भार गुरुभाई व शिष्यों पर छोड़ तीस मार्च को स्वामीजी दार्जिलिग चले गये। दार्जिलिंग में उनका स्वास्थ्य धीरे धीरे सुधर रहा था। इतने में ही सहसा समाचार आया कि कलकत्ते मे प्लेग रोग व्यापक रूप में फैला हुआ है। प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्ति मर रहे हैं--ऐसा समाचार सुनकर क्या महाप्राण विवेकानन्द स्थिर रह सकते थे? निदान तीन मई को वे कलकत्ता लौट आये और उसी दिन उन्होंने प्लेग रोग में सावधानी तथा आवश्यक प्रतिषेधक व्यवस्था कायम रखने के लिए जनसाधारण को उपदेश दिया। साथ ही साथ बंगला व हिन्दी भाषा में प्रचार-पत्र तैयार करके छापने के लिए भी दे आये और भगिनी निवेदिता तथा अन्यान्य संन्यासी व ब्रह्मचारियों को साथ लेकर उन्होंने सेवाकार्य प्रारम्भ कर दिया। कलकत्ते में उस दिन जिस भय तथा आतंक का संचार हुआ था, आज उसकी कल्पना करना भी कठिन है। डरे हुए स्त्री-पुरुष अपने अपने प्राण लिये भागे जा रहे थे। प्लेग रोग तथा 'सरकारी

प्लेग रेग्युलेशन' दोनों ही कठोर थे। उस भयंकर परिस्थिति में दंगा रोकने तथा रेग्यूलेशन मानने में जनता को बाध्य करने के लिए सरकारी फौज की नियुक्ति हुई थी, और उनके मनमाने आचारों द्वारा नरनारी और भी अधिक विह्वल कर डाले गये थे। इस आपत्तिकाल में अभय व सेवाभाव को सम्मुख रखकर विवेकानन्द द्वारा परिचालित श्रीरामकृष्ण की सन्तान कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुई। इस कार्य के लिए कितने धन की आवश्यकता होगी, तथा वह कहाँ से आयेगा, इस बात की चिन्ता करते हुए किसी गुरुभाई ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, रुपये कहाँ से आयेंगे?" स्वामीजी ने उसी समय उत्तर दिया, "क्यों?—यदि आवश्यकता हो तो मठ के लिए नयी खरीदी हुई जमीन बेच डालेंगे। हजारों स्त्रीपुरुष हमारी आँखों के सामने असहनीय दुःख सहन करेंगे और हम मठ में रहेंगे। हम संन्यासी है, आवश्यकता होगी तो पहले जैसे फिर वृक्षों के नीचे रहेंगे, भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्नवस्त्र हमारे लिए पर्याप्त होगा।"

सन्तोष की बात है, मठ भवन को बेचने की आवश्यकता नहीं हुई। चारों ओर से यथेष्ट आर्थिक सहायता आने लगी। कलकत्ते में एक बड़ी-सी जमीन किराये पर लेकर उस पर बहुत सी कुटियाँ निर्माण की गयीं। जाति व वर्ण-विचार छोड़ असहाय प्लेगरोगग्रस्त नरनारियों को वहाँ पर लाकर उत्साही कार्यकर्तागण सेवाकार्य मे रत हुए। स्वामीजी स्वयं उपस्थित रहकर देखभाल करने लगे। जिस मुहल्ले में उन्होंने कार्यारम्भ किया था, उस मुहल्ले की गन्दगी आदि को दूर करने तथा प्रतिषेधक औषधादि द्वारा स्थान को साफ करने के लिए प्रति दिन कार्यकर्ताओं के जत्थे जाने लगे। दरिद्रनारायणों की सेवा में उनके

असीम उत्साह व आत्मत्याग को देख अनेक विरुद्धवादी निन्दा करने वाले लोग, तथा ऐसे व्यक्ति जो उनकी निन्दाओं को सुनकर उनके सम्बन्ध में विरुद्ध भाव रखते थे, अब समझ सके कि विवेकानन्द ने केवल मुँह से ही वेदान्त का प्रचार नहीं किया—कार्य में भी वे वैदान्तिक है। 'यत्र जीव तत्र शिव' मन्त्र के ऋषि विवेकानन्द मृत्यु की कुछ भी परवाह न करते हुए स्वदेशवासियों को शिक्षा देने लगे कि किस प्रकार नर को नारायण मानकर सेवा करना योग्य है।

वेदान्त के महान् आदर्श को अपने कर्मजीवन में परिणत करके उस आदर्श के अनुसार जीवन गठित करने के लिए आचार्यदेव ने अपने स्वदेशवासियों को उच्च स्वर से पुकारा है। जिन डोम-चाण्डाल, मोची-मेहतर आदि को सदियों से तथाकथित जाति के अभिमानीगण 'चलायमान स्मशान' मानकर घृणा से दूर हटाते आ रहे हैं, स्वामीजी ने उन्ही को, 'मेरे भाई, मेरे रक्त' कहकर उनका आलिंगन किया है। उन्होने भारत के कल्याण के इच्छुक कर्मयोगियों से तमोहृद मे डूबते हुए करोड़ों अज्ञानी नर-नारियों का ज्ञानालोक द्वारा उद्धार करने का व्रत लेने के लिए बार बार आकुल भाव से अनुरोध किया है। उनके दुःख, उनकी दीनता व अज्ञता को दूर करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करना—रुग्ण, आर्त, अनाथ को औषधि, पथ्य व आहार देना—यही सेवाधर्म अशेष कल्याणकारी वर्तमान युगोपयोगी मुक्ति का प्रशस्त राजपथ है। वहुत्व के वीच मे एकत्व के दर्शन को ही हिन्दूजीवन का चरम लक्ष्य जानकर आचार्यदेव ने अद्वैतवाद की सुदृढ़ नीव पर सेवाधर्म का मंगलमय प्रासाद खड़ा किया—जिसके गगनभेदी सैकड़ो शिखरों पर फहरानेवाले त्याग के गैरिक झण्डे अपनी

महिमा से विश्व की विस्मित दृष्टि को आकर्षित कर रहे हैं। अक्लान्त लोकहितैषणा के वीच में से स्वधर्मपरायण जाति के त्याग व सहनशीलता का महिममय दृश्य वर्तमान युग में उज्ज्वल रूप से प्रकट हुआ। सेवाधर्म को उपलक्ष्य कर ज्ञान, कर्म व भक्ति की पुण्य त्रिवेणी का वहुत दिनों के वाद विवेकानन्द के हृदयरूपी प्रयाग में आनन्दसम्मेलन हुआ है। इसीलिए आज नवयुग के इस पवित्र तीर्थ के पवित्र प्रेमसलिल में साम्प्रदायिक विद्वेप-वुद्धिहीन, परन्तु साथ ही विभिन्न भावों का सहारा लेनेवाले साधकगण आनन्दपूर्वक अवगाहन कर रहे हैं।

यह पहले से ही निश्चित हुआ था कि स्वामीजी अपनी पाश्चात्य शिष्याओं के साथ हिमालय-भ्रमण के लिए जायेंगे। प्लेग का प्रकोप घट जाने पर तथा सरकारी रेग्युलेशन शिथिल हो जाने पर स्वामीजी ने श्री सेविअर के आमन्त्रण के अनुसार अलमोड़ा की ओर यात्रा की। उनके साथ थे स्वामी तुरीयानन्दजी, निरंजनानन्दजी, सदानन्दजी, स्वरूपानन्दजी आदि तथा उनकी चार पाश्चात्य शिष्याएँ। नैनीताल पहुँचकर अपने साथियों के साथ स्वामीजी ने कुछ विश्राम किया। खेतरी के महाराजा अपने गुरुदेव के दर्शन की इच्छा से पहले से ही वहाँ पर मौजूद थे। स्वामीजी के श्रीचरणों का दर्शन पाकर महाराजा साहव ने अपने को कृतार्थ माना तथा उनकी पाश्चात्य शिष्याओं के साथ परिचित होकर वे आनन्दित हुए। इसी समय की भ्रमण-कहानी तथा स्वामीजी के अमूल्य वार्तालापों का भगिनी निवेदिता ने अपनी 'स्वामी विवेकानन्द के साथ किये हुए भ्रमण-सम्वन्धी टिप्पणियाँ' नामक पुस्तक में सुन्दर रूप से वर्णन किया है। इस समय स्वामीजी अपने शिष्यों की दृष्टि में भारत के

पौराणिक व ऐतिहासिक युगों का जीता-जागता स्वरूप प्रतीत होते थे। भारत के अतीत इतिहास की पवित्र कहानियों का वर्णन करते हुए समय समय पर भाव के आवेग में वे वर्तमान को भूल जाते थे।

स्वामीजी के बचपन के मित्र श्री योगेशचन्द्र दत्त एक दिन उनके साथ साक्षात्कार करने आये। बातचीत के सिलसिले में योगेश बाबू ने स्वामीजी से कहा कि यदि वे भारतीय शिक्षित युवकों को सिविल सर्विस पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड भेजने के उद्देश्य से चन्दा इकट्ठा कर उनकी सहायता कर सकें तो वे सब युवक-गण कृतार्थ होकर मातृभूमि के कल्याण व उत्थान के लिए बहुत कुछ कार्य कर सकेंगे। स्वामीजी ने गम्भीर होकर उत्तर दिया, "तुम बड़ी भारी भूल कर रहे हो। वे सब युवक स्वदेश में लौटकर केवल युरोपियनों के समाज में ही सम्मिलित होने की चेष्टा करेंगे, यह तुम निश्चित जान लो। वे पग पग पर साहबों के खान-पान, आचार-व्यवहार की नकल करेंगे—स्वदेश व स्वजाति के आदर्शों की बातें भूल से भी न सोचेंगे।"—और यह कहते कहते स्वामीजी भारतवर्ष की निश्चेष्ट जड़ता तथा सांसारिक जीवन के दुःख-कष्टो को मिटाने की चेष्टा के प्रति घोर उदासीनता तथा उद्यमविहीनता इत्यादि का ओजपूर्ण भाषा में वर्णन करने लगे। देश की दुर्दशा के बारे में वर्णन करते करते उनके बड़े बड़े चक्षु अश्रूपूर्ण हो गये। उस दिन योगेशबाबू के मित्र रामपुर स्टेट कालेज के प्रधान शिक्षक बाबू ब्रह्मानन्द सिंह वहाँ पर उपस्थित थे। उन्होने इस अपूर्व दृश्य को देख श्रद्धा-विमुग्ध हृदय से लिखा है :—

"उस दृश्य को मै जीवन में कभी नही भूलूँगा। वे (स्वामीजी)

संसारत्यागी संन्यासी थे, फिर भी भारतवर्ष उनके सम्पूर्ण हृदय में व्याप्त था। उनका सारा प्रेम भारत के प्रति था, भारत को वे प्राण देकर अनुभव करते थे, भारत के लिए वे आँसू बहाते थे और भारत की सेवा में ही उन्होंने देह-त्याग किया है। उनके हृद्यन्त्र में भारतवर्ष का कम्पन होता था, उनकी नस नस में भारतवर्ष स्पन्दित होता था। तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष उनके जीवन के साथ मिलकर एकरूप हो गया था।"

अलमोड़ा में आकर स्वामीजी अपने गुरुभाई व संन्यासी शिष्यों के साथ श्री सेविअर महोदय के बंगले में निवास करने लगे। उनकी पाश्चात्य शिष्याएँ पास ही एक दूसरे मकान में रहने लगीं। स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के साथ प्रातर्भ्रमण के बाद उनके निवासस्थान पर जाकर वार्तालाप में प्रवृत्त होते थे। शिष्य व शिष्याएँ भक्तिविनम्र चित्त से तन्मय होकर स्वामीजी के श्रीमुख से भारतीय आदर्शों की अनन्त व्याख्याएँ सुनते थे। समालोचकों की जो यह धारणा है कि भारतवर्ष जीर्ण व वृद्ध होकर लगातार अधःपतन के पथ में उतरता जा रहा है, उनके इस विद्वेष व अवज्ञा से उत्पन्न समालोचनाओं का तीव्र प्रतिवाद कर वे अपने शिष्य व भक्तों को समझा देते थे कि वैसी बात नहीं है वरन् भारत एक गौरवमय विकास के लिए तैयार होकर अपने निर्दिष्ट पथ पर आगे बढ़ रहा है। अतः इस नवयुग के प्रारम्भ में स्वदेशसेवा के लिए अग्रसर होने के लिए किस जबर-दस्त विश्वास, गम्भीर प्रेम व सदैव जाग्रत रहनेवाली सहानुभूति को लेकर कार्यक्षेत्र में आना होगा, यह विषय एक दिन शिष्यों को समझाते समझाते वे मानो अनजान में कह गये, "मैं अपने को अनेक शताब्दियों के बाद आविर्भूत पुरुष के रूप में अनुभव कर

रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि भारत युवावस्था में है।"

स्वामीजी शिक्षादान व आलोचना के प्रसंग में जो मत व्यक्त किया करते थे उनके अधिकांश भागों का भगिनी निवेदिता यत्न-पूर्वक संग्रह करके रख गयी है। निवेदिता को भारतीय भाव में गढते हुए स्वामीजी बहुधा बाध्य होकर उनकी चिरपोषित रीति-नीति व आदर्शों की कड़ी आलोचना करते थे। दृढ़हृदया निवेदिता के लिए भी यह सम्भव न था कि वह प्रत्येक समय अपने स्वातन्त्र्य को हटाकर गुरुदेव के साथ एकमत हो जातीं। गुरु व शिष्या का यह पारस्परिक मानसिक विरोध निवेदिता के भारत में आने के बाद ही प्रारम्भ हो गया था। भगिनी ने स्वयं लिखा है, "इस समय मेरी बड़ी यत्न से पाली हुई सभी धारणाओं पर प्रतिदिन जो आक्रमण व तिरस्करों की वर्षा होने लगी, उसके लिए मैं बिलकुल तैयार न थी। अनेक समय अकारण दुःख भोगना पड़ता है। मैंने ध्यान से देखा--अनुकूल भाव रखनेवाले प्रिय आचार्य का मेरा जो स्वप्न था, वह लुप्तसा होने लगा और उसके स्थान पर एक ऐसे व्यक्ति का चित्र प्रकट हुआ, जो अन्ततः उदासीन और सम्भवतः विरोधी भाववाले होंगे। इस समय मैं जिस मानसिक कष्ट को भोग रही थी उसकी युक्ति द्वारा विचार करने की चेष्टा भी विडम्बना मात्र है।"

भावों का यह संघर्ष निवेदिता के जीवन में बहुत ही मर्मान्तिक हो उठा था। उनका परिणत अंग्रेज मन अपनी रुचि की विशेषता बड़ी कोशिश से बचाता हुआ भारतीय आदर्श का अंग्रेज की दृष्टि से विचार करता था। एक अंग्रेज महिला के लिए प्रौढ़ावस्था म भारतीय भाव में भारतीय साधना व आदर्श को ग्रहण व हृदयंगम करना बहुत ही कठिन कार्य है--और इस कठिन कार्य

के लिए स्वामीजी की प्रबल प्रेरणा ने ही राष्ट्रीय आभिजात्य से प्रेम रखनेवाली स्वातन्त्र्याभिमानिनी निवेदिता के चित्त को विक्षुब्ध कर दिया था। वे इस प्रकार अपने को सम्पूर्ण रूप से तोड़कर फिर से गढ़ने के लिए तैयार न थीं; खोजकर पथ भी नहीं पा रही थीं। अन्त में एक दिन रात को सहसा यह समस्या हल हो गयी। आकाश में क्षीण चन्द्ररेखा निकली हुई थी। उसकी ओर देखकर स्वामीजी ने निवेदिता से कहा, "मुसलमान लोग नवीन चन्द्र का बड़ा आदर करते हैं। आओ, हम भी आज नवीन चन्द्र के साथ नवीन जीवन का प्रारम्भ करें।" स्वामीजी के मंगलमय हस्त ने ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ आशीर्वाद की तरह चरणों के पास बैठी हुई निवेदिता के मस्तक को स्पर्श किया। दिव्य स्पर्श से जन्मगत व जातिगत संस्कार एक क्षण में विलीन हो गये। भगिनी ने लिखा है, "बहुत दिन पूर्व श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्यों से कहा था कि ऐसा एक दिन आयेगा जब नरेन्द्र स्पर्श मात्र से दूसरों में ज्ञान का संचार कर देगा।" और अलमोड़ा के इस सायंकाल को यह भविष्यवाणी सफल हो गयी !

सम्भव है, इस विषय में कुछ लोगों की यह धारणा हो कि निवेदिता कोमल स्वभाववाली एक दुर्बल महिला थी। अतः महान् तेजस्वी विवेकानन्द ने उन्हें मन्त्रमुग्ध कर अपने मन के अनुसार गढ़ लिया हो। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। और इस बात को कवि रवीन्द्रनाथ ने निवेदिता के देहान्त के बाद उनका स्मृति-तर्पण करते हुए अपनी अतुलनीय भाषा में व्यक्त भी किया था। हम उस वर्णन का कुछ अंश नीचे उद्धृत कर रहे हैं :—

"अनेक प्रकार से उनका परिचय प्राप्त करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ था। उनकी प्रबल शक्ति को मैंने अनुभव किया था,

परन्तु साथ ही यह भी समझ लिया था, उनके चलने का रास्ता मेरे लिए अनुकूल नहीं है। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और साथ ही उनमें एक और चीज थी—यह था उनका योद्धापन। उनमें बल था, उस बल का वे दूसरों के जीवन पर प्रबल वेग से प्रयोग करती थीं—मन को पराजित कर लेने का एक विराट उत्साह उनमें काम करता था। जहाँ पर उन्हें मानकर चलना असम्भव था, वहाँ पर उनके साथ मिलकर चलना भी कठिन था। कम से कम मैं अपनी ओर से कह सकता हूँ, उनके साथ मिलने के मुझे अनेक अवसर प्राप्त हुए, परन्तु फिर भी अपने हृदय के एक कोने में गम्भीर दुःख का अनुभव करता था। उस दुःख में मैं यह नही कहूँगा कि वह ठीक ठीक अभाव की बाधा थी, वरन् वह मानो एक प्रवल आक्रमण की बाधा थी।

"आज इस बात को मैं निःसंकोच हो प्रकट कर रहा हूँ। इसका कारण यह है कि एक ओर से यद्यपि उन्होंने मेरे चित्त को प्रतिहत किया है, परन्तु दूसरी ओर से मै उनसे जिस प्रकार उपकृत हुआ हूँ वैसा मै नही समझता कि दूसरे व्यक्ति से हुआ हूँ। उनके साथ परिचय के बाद मुझे कई बार ऐसा हुआ है कि उनकी जीवनी को स्मरण कर तथा उनके प्रति गम्भीर भक्ति का अनुभव कर मुझे काफी बल प्राप्त हुआ है।

"अपने को इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से अर्पण कर देने की आश्चर्यजनक शक्ति मैंने अन्य किसी मनुष्य में नहीं देखी। इस सम्बन्ध में उनमें स्वयं में किसी प्रकार बाधा न थी। एक ओर उनका शरीर, उनका वचपन का यूरोपीय अभ्यास, उनके आत्मीय स्वजनों की स्नेहममता, और दूसरी ओर स्वदेशीय समाज द्वारा उनकी उपेक्षा तथा जिनके लिए उन्होंने प्राण समर्पण कर दिया

है उन लोगों की इनके प्रति उदासीनता तथा इनके त्याग-स्वीकार का अभाव; परन्तु इनमें से कोई भी बात उन्हें अपने पथ पर से लौटा नहीं सकी। जिसने मनुष्य का सद्रूप तथा चिद्रूप जान लिया है उसी ने उन्हें पहचाना है। मनुष्य की आन्तरिक सत्ता सभी प्रकार के स्थूल आवरणों को बिलकुल झूठा बनाकर किस प्रकार अप्रतिहत तेज के साथ प्रकट हो सकती है, यह देख लेना परम सौभाग्य की बात है। भगिनी निवेदिता में मनुष्य के अपराजित माहात्म्य को प्रत्यक्ष देखकर हम धन्य हुए है।"

अलमोड़ा मे आते ही स्वामीजी को निर्जनता बड़ी प्रिय हो गयी। प्राय: प्रति दिन दस-ग्यारह घण्टे घोर अरण्य में अकेले ध्यान धारणा में बिताया करते थे। दर्शनार्थियों के साथ निरन्तर आध्यात्मिक चर्चा करते रहने से उनका मन मानो उकता रहा था—यहाँ तक कि कभी कभी अन्तरंग भक्तों के साथ भी किसी विषय की देर तक चर्चा करना मानो उनके लिए असहनीय-सा हो गया था। लोकशिक्षा व धर्मप्रचार के लिए ये परिव्राजक संन्यासी अब तक जिस भाव से जीवन व्यतीत करते आ रहे थे उसे मानो एक अभिनेता की पोशाक की भाँति दूर रखकर अब वे उदासीन योगी की तरह विचरण करने लगे। उनके अतीत जीवन का तीव्र तपोभाव तथा बहिर्जगत् पर उनकी प्रबल वितृष्णा समय समय पर उनके हावभाव में प्रकट हो जाती थी। जनसमुदायको को छोड़ वे प्राय: गम्भीर अरण्य में अकेले रहा करते थे।

इस प्रकार एक बार लगभग लगातार एक सप्ताह तक वे अरण्य में रहे और ५ जून सायंकाल को अममोड़ा लौटे। इस समय उन्हें दो हृदयविदारक समाचार सुनने को मिले। स्वामीजी

की अनुपस्थिति में उनके शिष्यों को समाचार मिला था कि गाजीपुर के विख्यात साधु पवहारी बाबा ने अग्नि में स्वयं को आहुति के रूप में अर्पित किया है। और संकेत-लिपि लेखक श्री गुडविन ने भी २ जून को तेज ज्वर के आक्रमण से उटकमण्ड में शरीरत्याग कर दिया है। दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीमती बुल के बंगले में स्वामीजी को यह समाचार सुनाया गया। उन्होंने धीर भाव से उसे सुन लिया—किसी प्रकार का मतामत व्यक्त न किया। पहले की तरह गम्भीर भाव से त्याग व भक्ति की महिमा का कीर्तन करने लगे। परन्तु कुछ घण्टों के बाद उन्हें अपने प्रियतम शिष्य के वियोग से जो हार्दिक आघात पहुँचा था, उसे व्यक्त किया। वे असल में अपने प्राणाधिक प्रिय शिष्य के निधन से दुःखी नहीं हुए थे, वरन् भारतमाता को जो एक उदीयमान कर्मी की सेवा से वंचित होना पड़ा, इसी दुःख ने उन्हें व्यथित कर दिया था।

कुछ दिन पूर्व मद्रास के 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के सम्पादक का देहान्त होने के कारण इस पत्रिका को अलमोड़ा से प्रकाशित करने की व्यवस्था की गयी। तदनुसार स्वामी स्वरूपानन्द उसके सम्पादक तथा श्री सेविअर उसके परिचालक नियुक्त हुए। इस पत्रिका के प्रति स्वामीजी का बड़ा प्रेम था, और अब सुयोग्य व्यक्तियों को इसका भार ग्रहण करते देख वे विशेष आनन्दित हुए। उसके बाद अपनी युरोपीय शिष्याओं के साथ श्रीमती बुल के अतिथि के रूप में वे काश्मीर-भ्रमण के लिए चले।

रावलपिण्डी से तांगा करके वे मारी पहुँचे। वहाँ पर तीन दिन विश्राम कर उन्होंने श्रीनगर की ओर यात्रा की। झेलम की घाटी के मनोरम दृश्यों को देखते हुए वे बारमुला पहुँचे। इस

स्थान से तीन हाऊस बोट किराये पर लेकर नदी के मार्ग द्वारा वे श्रीनगर की ओर चले। स्वामीजी प्रसन्न चित्त से अपने परिव्राजक जीवन की भ्रमण-कहानियाँ साथियों को सुनाते थे और समय समय पर काश्मीर के अतीत इतिहास, कनिष्क की कहानी, अशोक के बौद्ध धर्म का प्रचार, शिव उपासना इत्यादि विभिन्न विषयों की चर्चा में इस प्रकार आत्मनिमग्न हो जाते थे कि भोजन करने तक का ध्यान न रहता था। २५ जून को वे श्रीनगर आ गये।

परन्तु एक सप्ताह में ही उनमें भावान्तर हो गया। हास्य-प्रफुल्ल विवेकानन्द गम्भीर बन गये। वे प्रायः शिष्याओं के अनजाने अपनी नौका लेकर कहीं दूर चले जाते थे। अकेले निर्जन में रहने के लिए उनके हृदय में विशेष आग्रह दिखायी देने लगा।

४ जुलाई आने ही वाली थी, अतः स्वामीजी अपनी अमेरिकन शिष्याओं को उक्त 'स्वाधीनता दिवस' के उपलक्ष्य में विशेष रूप से आमन्त्रित करने का आयोजन गुप्त रूप से करने लगे। दूसरे दिन प्रातःकाल पत्ते, फूल व पल्लवों से सुशोभित नाव की छत पर अमेरिका का राष्ट्रीय झण्डा फहराया गया। उनकी अमेरिकन शिष्याएँ विस्मित होकर आनन्द के साथ प्रातर्भोजन में सम्मिलित हुईं। इस छोटी सी उत्सव-सभा के अनुष्ठान को सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए स्वामीजी तथा भगिनी निवेदिता ने किसी प्रकार की कमी न की थी। स्वामीजी ने आनन्दपूर्वक 'To the 4th of July' (४ जुलाई के प्रति) शीर्षक स्वरचित एक अंग्रेजी कविता पढ़कर शिष्याओं को सुनायी।

"चौथी जुलाई के प्रति"

काले बादल कट गये आकाश से

रात को बाँधे हुए थे जो समा—
पृथ्वी पर तानी थी चादर, इस तरह।
आँख खोली, जादू की लकड़ी फिरी।
चिड़ियाँ चहकीं, साथ फूलों के उठे
सर,—सितारे जैसे चमके ताज के—
ओस के मोती लगे, स्वागत किया
क्या तुम्हारा झूमकर झुककर! खुली
और फैली दूर तक झीलें, खुशी
जैसे, आँखें कमलों की फाड़े हुए
दर्श करती है तुम्हारा हृदय से।
कुछ निछावर, ज्योति के जीवन, क्या
आज अभिनन्दन तुम्हारा, धन्य है।
आज, रवि, स्वाधीनता का फूटी कली
राह देखी विश्व ने, कैसे खिली
देशकालिक खोज की, तुमसे मिले;
छोड़ा है घर, मित्र, छोड़ी मित्रता।
खोजा तुमको, आवारा मारा फिरा,
गुजरा दहशत के समन्दर से, कभी
सघन पहले के गहन वन से; लड़ा
हर कदम पर प्राणों की बाजी लिये।
वक्त वह, हासिल निकाला काम का,
प्यार का, पूजा का, जीवन-दान का;
हाथ उठाया, सँवरकर पूरा किया।
फिर तुम्हीं ने स्वस्ति की बाँधी कमर
जनगणों पर मुक्ति की डाली किरण

देव, चलते ही चलो बेरोकटोक,
विश्व को दुपहर न जब तक घेर ले,
कर तुम्हारा हर जमी जब तक न दे
स्त्री-पुरुष जब तक न देखें चाव से,--
बेड़ियाँ उनकी कटीं, उल्लास की
जाँ नयी जब तक समझें आ गयी ।

इस कविता को लिखने के ठीक चार वर्ष बाद १९०२ ई. की ४ जुलाई को स्वामीजी ने अपनी लीला समाप्त की। क्या यह उसी की भविष्य वाणी थी ?--अथवा अमेरिका की स्वाधीनता की चिन्ता करते हुए उनके मानसपट पर समग्र जगत् के पद-दलित राष्ट्रों के पुनरुत्थान का एक गौरवमय चित्र उदित हुआ था ?

६ जुलाई को श्रीमती बुल व कुमारी मैकलिऔड श्रीनगर से विशेष कार्यवश गुलमर्ग चली गयीं। १० तारीख को लौटकर उन्होंने सुना कि स्वामीजी अप्रत्याशित रूप से कहीं चले गये हैं। अन्त में बहुत खोज करने के बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि उन्होंने सोनामार्ग के रास्ते अमरनाथ की यात्रा की है। अधिक गरमी के कारण बरफ पिघलकर सोनामार्ग का रास्ता बन्द हो गया था। अतः स्वामीजी १५ जुलाई को विफल-मनोरथ हो फिर श्रीनगर लौट आये।

१८ जुलाई को वे इसलामाबाद लौटे। इसलामाबाद के निकटवर्ती कुछ प्राचीन देव-मन्दिर व अवन्तीपुर के ध्वंसावशेषों का दर्शन कर वे अच्छावल की ओर चले। इस समय प्रतिदिन प्रातःकाल स्वामीजी शिष्याओं के साथ झेलम नदीतट पर भ्रमण करते हुए हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म व मुसलमान धर्म के नाना प्रकार

के ऐतिहासिक तत्त्वों की चर्चा करते थे और कभी कभी उन्हें त्याग व वैराग्य की महिमा द्वारा अनुप्राणित करते थे। अच्छावल में एक दिन मध्याह्न भोजन के समय स्वामीजी ने अपना अमरनाथ जाने का विचार व्यक्त किया तथा भगिनी निवेदिता को साथ आने की अनुमति दी। यह निश्चय हुआ कि उनकी अन्य शिष्याएँ, जब तक स्वामीजी लौटकर नही आते, तब तक पहेलगॉव में प्रतीक्षा करेंगी।

यात्रा की अन्य व्यवस्था करने तथा तम्बू आदि खरीदने के लिए स्वामीजी फिर इसलामाबाद लौट आये। वहाँ से भगिनी निवेदिता के साथ अन्य यात्रियों से सम्मिलित होकर उन्होंने अमरनाथ की ओर यात्रा की। सायकाल के पूर्व तीर्थयात्रीगण रात्रि बिताने के लिए मैदान मे अपने अपने तम्बू गाड़ने लगे। संन्यासियों ने स्वामीजी व निवेदिता को अपने ही बीच में तम्बू गाड़ते देखकर तथा उनके साथ अंग्रेज महिला को देख प्रबल आपत्ति उठायी। पर स्वामीजी ने किसी भी तरह अलग स्थान में तम्बू उठाकर ले जाना स्वीकार नही किया। वे तीव्र भर्त्सना के साथ संन्यासियों की अज्ञतापूर्ण आपत्ति का प्रतिवाद कर रहे थे कि उसी समय एक नागा संन्यासी उनके सामने आकर विनीत भाव से बोले, "स्वामीजी, यह सत्य है कि आपमें शक्ति है—परन्तु उसे प्रकट करना उचित नही।" स्वामीजी उसी समय अपनी गलती समझकर चुप हो गये। आश्चर्य की बात है कि दूसरे दिन सन्यासियों ने स्वयं प्रवृत्त होकर स्वामीजी व निवेदिता के तम्बू को सब से अग्र भाग मे स्थापित किया। स्वामीजी के प्रभाव ने मानो संन्यासियों मे मन्त्रशक्ति की तरह काम किया। सन्ध्या के बाद प्रज्वलित धूनि के पास सैकड़ों संन्यासी उनके

साथ धर्मालोचना करने लगे। जानकार संन्यासीगण उन्हें ब्रह्मज्ञ पुरुष समझकर उनकी बड़ी श्रद्धा करने लगे; और भगिनी निवेदिता से भिन्नदेशीया स्त्री होने के कारण संकोच प्रकट करना तो दूर की बात, वे लोग आनन्दपूर्वक अनेक प्रकार से उनकी सहायता करने लगे।

बावान के पवित्र झरने में स्नान कर एकादशीव्रत का पालन करने के लिए स्वामीजी ने यात्रियों के साथ एक दिन पहेलगाँव में विश्राम किया। कहना न होगा कि बरफ से ढँके हुए दुर्गम व दुरारोह पथ के क्लेशों के होते हुए भी स्वामीजी एक तीर्थ-यात्री के चिराचरित कर्तव्यों का पालन दूसरे साधुओं की तरह करते थे। ध्यानजप, शास्त्रचर्चा तथा एक ही समय साधारण आहार करना यही उनका दैनन्दिन कार्यक्रम था। समतल से १८ हजार फीट ऊपर बरफ से ढँके हुए गिरिशृंगों को लाँघ-कर पाँच गिरि-निर्झरों के संगमस्थल पंचतरणी में यात्रियों का पड़ाव पड़ा। इन पाँच नदियों में से एक के बाद दूसरे में गीले वस्त्रों को धारण किये हुए पैदल चलकर यात्रियों के स्नान करने का नियम है। स्वामीजी दीर्घ पथभ्रमण से थक गये थे। कहीं निवेदिता तथा उनके साथीगण निषेध न करें, इस भय से दूसरों के अलक्ष्य में स्वामीजी ने इस कठिन नियम का भी अक्षरशः पालन किया था।

२ अगस्त मंगलवार को रात को दो बजे चाँदनी में हिमालय का अपूर्व सौन्दर्य देखते देखते यात्रा प्रारम्भ हुई। कुछ समय बाद एक छोटी सी घाटी में आने पर कठिन चढ़ाई शुरू हुई। उस समय सूर्य उदित हो चुका था। धीरे धीरे दुर्गम पथ समाप्त हुआ और अमरनाथ की पवित्र गुफा दिखने लगी। इस गुफा

के दर्शन करते ही यात्रिगण महादेव की जयध्वनि कर विगलित तुषारधारा में स्नान करने लगे। थके होने के कारण स्वामीजी कुछ पीछे रह गये थे। थोड़ी देर में वे आ पहुँचे। गम्भीर प्रशान्त भाव से चिन्तित शिष्या से स्वामीजी नें केवल यही कहा, "मैं स्नान करने जा रहा हूँ, तुम पीछे पीछे आना।" स्नान कर चुकने के बाद नागा संन्यासियों के साथ शरीर में भस्म लेपकर एकमात्र कौपीनधारी विवेकानन्द ने भक्तिकण्टकित देह से विशाल गुफा में प्रवेश किया। यही चिर-आकांक्षित श्री श्री अमरनाथ ! सामने बृहत् चिर-तुषारगठित भगवान महादेव का अनादि शिवलिंग विराजमान है—मानो रजतशुभ्रकान्ति महादेव अपनी अटल महिमा में स्वयं प्रतिष्ठित हैं। इस महान् प्रतीक मूर्ति के सम्मुख पूर्ण भक्ति से भूमि पर लोटकर स्वामीजी ने दोनों हाथ फैलाकर मानो भगवान शंकर के श्रीपादपद्मों का स्पर्श किया। उसके बाद थोड़ी देर ध्यानासन में बिताकर वे गुफा से बाहर आये। कहना न होगा कि भगिनी निवेदिता ने भी गुफा में प्रविष्ट होकर महादेव की आराधना की, और इसमें किसी ने कोई आपत्ति न की। स्वामीजी ने गुफा के बाहर निकलकर उड़ते हुए सफेद कबूतरों का दर्शन कर अपने को सौभाग्यवान व सिद्धसंकल्प माना। आध घण्टे के बाद नदी तट पर एक शिला पर बैठकर स्वामीजी एक दयालु नागा संन्यासी व निवेदिता के साथ जलपान करते हुए बालक की भाँति आनन्दोच्छ्वास के साथ कहने लगे, "आज मुझे साक्षात् शिव-दर्शन हुआ। यहाँ पर यात्रियों का धन लूटने के लिए हाथ फैलाये हुए पण्डे नहीं है, धर्म का व्यापार नहीं है, चित्त में विक्षेप उत्पन्न करने योग्य कुछ भी नही है—यहाँ एक अनन्त

पूजा व आराधना का भाव है। अन्य किसी भी तीर्थस्थान में मुझे इतना आनन्द प्राप्त नहीं हुआ।" बाद में उन्होंने निवेदिता से गम्भीर विश्वास के साथ कहा, "देवाधिदेव अमरनाथ ने मुझे इच्छामृत्यु का वर प्रदान किया है।"

परन्तु अमरनाथ की अपूर्व अनुभूति तथा कष्टसाध्य अनुष्ठानों द्वारा उनका शरीर व स्नायुपुंज इतना अधिक क्लान्त हो गया था कि (बाद में उन्होंने कहा था कि) इस भय से कि कहीं वे मूर्छित न हो जायँ उन्होंने अपने को संयत रखा था। उनकी बायीं आँख में खून जमकर दाग पड़ गया था और कुछ दिनों बाद किसी चिकित्सक ने उनकी परीक्षा करके कहा था कि उनके हृत्पिण्ड की गति रुद्ध होने की सम्भावना थी। परन्तु ऐसा न होकर वह दीर्घकाल के लिए बड़ा (Dilated) हो गया।

लौटते समय रास्ते में पूर्व व्यवस्था के अनुसार स्वामीजी पहेलगाँव में आकर अपनी पाश्चात्य शिष्याओं के साथ सम्मिलित हुए। इस समय उनका मन-प्राण मानो शिवमय हो गया था। शिव की महिमा का कीर्तन करते हुए वे ८ अगस्त को श्रीनगर लौट आये। ८ अगस्त से ३० सितम्बर तक वे श्रीनगर में थे। इस समय स्वामीजी विशेष निर्जनताप्रिय हो गये थे और अपनी नाव को अक्सर दूसरी नावों से दूर ले जाते थे। उनका चित्त यद्यपि अधिकांश समय अन्तर्मुखी रहता था फिर भी बीच बीच मे वे भारत के पुनरुत्थान के लिए अपने व्रत व आदर्श की चर्चा करते थे। इस चर्चा के समय केवल उनकी शिष्यागण ही उपस्थित नहीं रहती थीं, वरन् कभी कभी काश्मीर दरबार के उच्च पदाधिकारी भी सम्मिलित होते थे। वे कहते थे कि वर्तमान सामाजिक दुर्दशा को दूर करने के लिए हिन्दू धर्म को छुआछूत

से मुक्त व प्रचारशील करना होगा, और उसका आदर्श होगा श्रीरामकृष्णदेव का जीवन; और इस विषय में बड़े उत्साह के साथ युक्ति उपस्थित करने में वे कभी विरत नहीं होते थे। राष्ट्र की दुर्बलता तथा बिना प्रतिकार के अत्याचार को सहन करते हुए हीन से हीनतर जीवन व्यतीत करने की ग्लानि से इस अभागे राष्ट्र को मुक्त करने के लिए उनका आग्रह कितना गम्भीर था। निम्नलिखित घटनाओं से यह बात सरलता से स्पष्ट होती है। एक समय एक व्यक्ति ने उनसे पूछा, "स्वामीजी, जब हम यह देखें कि एक प्रबल व्यक्ति किसी दुर्बल व्यक्ति पर अत्याचार कर रहा है, तो हमें क्या करना चाहिए?" स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "क्या करोगे? निश्चय ही बाहुबल के योग द्वारा प्रबल को निरस्त कर देना होगा।" इसी प्रकार के एक प्रश्न के उत्तर में स्वामीजी ने एक दूसरे अवसर पर कहा था, "जहाँ पर दुर्बलता व जड़ता है, वहाँ क्षमा का कोई मूल्य नहीं—युद्ध ही श्रेयस्कर है। जब तुम यह समझो कि सरलता से विजय प्राप्त करना तुम्हारे अधीन है, तभी क्षमा करना। जगत् एक रणक्षेत्र है—युद्ध करके अपना पथ साफ करो।" फिर प्रश्न—"वास्तविक अधिकार की रक्षा के लिए कोई प्राणों का विसर्जन कर देगा अथवा प्रतिकार न करना सीखेगा?" स्वामीजी ने धीरे धीरे उत्तर दिया, "संन्यासी के लिए अप्रतिरोध ही धर्म है, परन्तु आत्मरक्षा करना गृहस्थ का कर्तव्य है।"

बौद्ध व जैन मत अहिंसा व अप्रतिरोध के आदर्श की विकृति है। गृहस्थ जीवन में मोक्षपन्थी संन्यासी की निष्क्रियता के व्यर्थ अनुकरण के फलस्वरूप ही हिन्दू जाति में तामसिक जड़ता प्रकट हुई है—स्वामीजी ने अपने 'प्राच्य व पाश्चात्य' ग्रन्थ में इस

बात की स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हुए कहा है, "अहिंसा ठीक है, निर्वैर बड़ी बात है—बात तो अच्छी है, परन्तु शास्त्र कहते हैं, तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे मुँह पर यदि कोई एक थप्पड़ मारे और यदि तुम उसके बदले में दस थप्पड न मारो तो तुम पाप करोगे। 'आततायिनमायान्तं . . .' इत्यादि। मनु ने कहा है, जो हत्या करने के लिए आया हो ऐसे ब्राह्मण का वध करने में भी पाप नहीं है। यह सत्य बात है। यह भूलने की बात नहीं है। 'वीरभोग्या वसुन्धरा,' वीर्य प्रकट करो, साम, दाम, दण्ड, भेद नीति का प्रयोग करो, पृथ्वी का भोग करो, तभी तुम धार्मिक हो। और मार खाकर अपमान सहकर चुपके से घृणित जीवन व्यतीत करने पर इहकाल तथा परकाल दोनों में नरकभोग है, यही शास्त्रों की राय है; यही सत्य, सत्य, परम सत्य है। स्वधर्म करो, हाँ, अन्याय न करना, अत्याचार न करो, जहाँ तक हो सके परोपकार करो। परन्तु अन्याय को सहन करना गृहस्थ के लिए पाप है। उसी समय प्रतिकार करने की चेष्टा होगी। महान् उत्साह के साथ अर्थोपार्जन कर स्त्री-परिवार आदि दस आदमियों का प्रतिपालन एवं कुछ कल्याणकर कार्यों का अनुष्ठान करना होगा। और अगर तुम यह न कर सके तो तुम मनुष्य किस काम के ?"

काश्मीर में एक संस्कृत कालेज व मठ की स्थापना के लिए काश्मीर के महाराजा ने स्वामीजी को आवश्यकतानुसार भूमि देने का वचन दिया था। झेलम नदी के तट पर स्वामीजी ने एक स्थान पसन्द किया और महाराजा ने वह भूमि उन्हें दान करने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी की शिष्यागण वहाँ पर तम्बू स्थापित कर निवास करने लगीं, परन्तु सितम्बर मास के मध्य

भाग में उन्हें सरकार की ओर से सूचित कर दिया गया कि वह भूमि उन्हें न मिलेगी। संकल्प भंग होने से स्वामीजी को क्लेश हुआ। उस समय के रेसिडेन्ट मि. ऐडलबर्ट टैबॉट के विरोध से इस प्रस्ताव की चर्चा तक कौन्सिल में न हो सकी। सामयिक निराशा से खिन्न होने पर भी इस घटना द्वारा स्वामीजी समझ गये कि देशी राज्य के बजाय ब्रिटिश भारत ही उनका योग्य कार्यक्षेत्र है। २० सितम्बर को स्वामीजी अमेरिका के कौन्सल जनरल द्वारा आमन्त्रित होकर डालह्रद गये। वहाँ पर दो दिन रहकर वे फिर श्रीनगर लौट आयें।

३० सितम्बर को स्वामीजी सहसा क्षीरभवानी की ओर चल पड़े और उन्होंने यह आदेश दिया कि कोई शिष्या उनका पीछा न करे।

क्षीरभवानी के पवित्र नदी-तट पर पहुँचकर स्वामीजी उग्र तपस्या में संलग्न हो गये। जगज्जननी की पूजा के हेतु प्रतिदिन प्रातःकाल एक मन दूध की खीर तथा प्रचुर मात्रा में बादाम पिस्ता तथा अन्य मेवा का वे आयोजन करने लगे। स्थानीय किसी ब्राह्मण पण्डित की कुमारी कन्या की प्रतिदिन शास्त्रविधि के अनुसार वे पूजा करते थे। एक दिन प्रज्वलित होमाग्नि के सम्मुख योगासन पर बैठे हुए विवेकानन्द महामाया के ध्यान मे मग्न होने वाले थे। इसी समय सामने के टूटे हुए मन्दिर को देखकर उनके मन में विचार हुआ कि "जिस समय मुसलमानों ने उस मन्दिर को तोड़ा था उस समय हिन्दू लोग क्या अपने बाहुबल द्वारा उन्हे नही रोक सकते थे? यदि मै उस समय उपस्थित होता तो प्राणों की बाजी लगाकर भी माता के मन्दिर की रक्षा करता, किसी भी तरह पवित्र मन्दिर का नाश न

होने देता।"

पर सहसा उन्होंने एक देववाणी सुनी और विस्मय से चकित होकर उन्होंने अपने कानों से सुना कि जगज्जननी सस्नेह भर्त्सना के साथ कह रही हैं—"यदि मुसलमानों ने मेरा मन्दिर विध्वस्त कर प्रतिमा को अपवित्र कर भी दिया है, तो इससे तेरा क्या? तू मेरी रक्षा करता है या मैं तेरी रक्षा करती हूँ?"

यह कैसी अप्रत्याशित घटना! दूसरे ही दिन वे फिर सोचने लगे, जो कुछ होने का था सो हो गया। पर मैं भीख माँगकर भी धन संग्रह करके टूटे मन्दिर का पुनः संस्कार करूँगा। आशा है कि इस कार्य में अग्रसर होने पर मैं निस्सन्देह सफल होऊँगा। परन्तु सहसा फिर देववाणी! जननी कह रही हैं, "यदि मेरी इच्छा हो तो क्या मैं सात मंजिलवाला सोने का मन्दिर इसी मुहूर्त में तैयार नहीं कर सकती हूँ? मेरी इच्छा से ही यह मन्दिर भग्न होकर पड़ा हुआ है।"

कर्मयोगी का विद्या का अहंकार चूर्ण हुआ। रजोगुण का विराट, समुन्नत गर्व एकाएक अवनत होकर जगज्जननी के पैरों तले कुचल गया। श्रीरामकृष्णदेव जो कहते थे, "नरेन्द्र के हृदय में अज्ञान का एक पतला आवरण माँ ने ही रख दिया है—उसके द्वारा अनेक कार्य करा लेने के लिए,"—वह मानो क्षणकाल के लिए हट गया! उन्होंने दिव्य दृष्टि से देखा, महामाया की विराट इच्छा से केवल एक यन्त्र की तरह वे परिचालित हो रहे हैं। इस नवीन अनुभूति ने उनके मनोराज्य में एक विचित्र परिवर्तन कर दिया। मन में अपूर्व शान्ति, अद्‌भुत निःस्तब्धता को लेकर स्वामीजी श्रीनगर लौट आये।

स्वामीजी के भावपरिवर्तन को देख उनकी शिष्यागण विस्मित

हुईं, अपूर्व कर्मयोगी एवं उत्साह से उद्दीप्त विवेकानन्द ने गम्भीर भाव से उन्हें लक्ष्य करके कहा, "मेरे कर्म की इच्छा, स्वदेश-प्रीति सभी कुछ लुप्त हो गयी है, हरि:ॐ। मैंने भूल की थी, मैं यन्त्र हूँ, वे यन्त्री है। माँ, माँ, वे ही सब कुछ हैं--वे ही कर्ता है--मैं कौन हूँ?--उनकी अज्ञानी सन्तान मात्र हूँ।" फिर कुछ दिन निर्जन में गम्भीर साधना मे निमग्न रहकर मुण्डितमस्तक विवेकानन्द साधारण वेष में अपनी शिष्याओं के बीच मे लौटे। क्षीरभवानी यात्रा से पूर्व उन्होंने 'Kali the Mother' (माँ काली) शीर्षक जिस कविता की रचना की थी उसे गुनगुनाने लगे।

"काली माता"

छिप गये तारे गगन के,
बादलों पर चढ़े बादल,
काँपकर गहरा अँधेरा,
गरजते तूफान मे, शत
लक्ष पागल प्राण, छूटे
जल्द कारागार से--द्रुम
जड़ समेत उखाड़कर, हर
बला पथ की साफ करके।
शोर से आ मिला सागर,
शिखर लहरों के पलटते
उठ रहे है कृष्ण नभ का
स्पर्श करने के लिए द्रुत,
किरण जैसे अमंगल की
हर तरफ से खोलती है
मृत्यु-छायाएँ सहस्रों,

देहवाली घनी काली ।
आधि-व्याधि बिखेरती, ऐ,
नाचती पागल हुलसकर
आ जननि, आ जननि, आ, आ !
नाम है आतंक तेरा,
मृत्यु तेरे श्वास में है,
चरण उठकर सर्वदा को
विश्व एक मिटा रहा है,
समय तू है, सर्वनाशिनि,
आ, जननि, आ जननि, आ, आ !
साहसी, जो चाहता है
दुःख, मिल जाना मरण से,
नाश की गति नाचता है,
माँ उसी के पास आयी ।

जननी की इस ध्वंस-मूर्ति की उपासना विवेकानन्द ने अपने सद्गुरु श्रीरामकृष्णदेव से सीखी थी । जीवनभर की कठिन साधना द्वारा उन्होंने धीरे-धीरे अनुभव किया था—दुःख, दीनता, व्याधि, महामारी, पराजय व व्यर्थता के विरुद्ध वीर की तरह संग्राम करना, और यदि आवश्यक हो तो, निर्भीक दृढ़ता के साथ वीर की तरह मृत्यु को भी आलिंगन करना, यही उनकी दृष्टि में वर्तमान युग की अवश्य-कर्तव्य शक्ति-साधना है । "रुद्र मुख से सभी डरते हैं, मृत्युरूपी महाकाली को कोई नहीं चाहता ।" इसीलिए तो आज तीस करोड़ व्यक्तियों का मनुष्यत्व वीर्यहीन व निष्क्रिय है, इसीलिए गुरु के बल से बलवान साधक ने नवयुग के प्रारम्भ में भारतवासियों को भीषण की पूजा के लिए—

मृत्यु की उपासना के लिए गम्भीर स्वर से पुकारा था। आओ, नवयुग के शक्तिसाधक! आशा, आनन्द, उल्लास तथा अतीत गौरव के कंकालों से पूर्ण इस भारत महाश्मशान मे—नैराश्य, उद्वेग व आशंका रूपी घोर अमावस्या की रात्रि के इस शुभ मुहूर्त में—निर्भयता के मन्त्र की दीक्षा लेकर शक्ति-साधना में अग्रसर हो। भूखों का कातर क्रन्दन, रोग-पीड़ितों का असहाय हाहाकार, पददलितों की अक्षम कातरता देखकर सिहर न उठना —यह भीषणा तुम्हारी उपास्या इष्ट देवी है। जाओ, जहाँ दुर्भिक्ष, व्याधि, महामारी है—मृत्यु की परवाह न करते हुए वहीं पर जाओ—दौड़कर जाओ। ताण्डव नृत्य करनेवाली मृत्यु-रूपी माता के चरणों में हृदय का उष्ण शोणित अर्पण करो। प्रेतों की विकट हँसी, गीदड़ों का चीत्कार सुनकर रमणी के अंचल के नीचे भीरु की तरह छिपे रहना तुम्हें नही भाता। सिरहाने से महा सर्वनाश निष्पलक तीव्र दृष्टि से तुम्हारी ओर देख रहा है—प्रेम का स्वप्न देखने का अवसर तुम्हारा है कहाँ? आओ, दूर करो नारी-माया को—भोग-विलास की कामना को हृदय से निर्मम होकर फेंक दो। बन्द दरवाजा खोलकर चले आओ, इस अन्धकार मे निकल पड़ो। भय? भय क्या है? निराशा किसकी? सिंहिनी जिस समय हाथी का सिर फोड़कर उसका खून पीती है—जब भीषण गर्जना से समग्र वनभूमि को प्रकम्पित कर डालती है—उस समय उसके पास खड़ा सिंहशावक क्या भयभीत होता है? सामने वह रक्ताक्तरसना, करालदंष्ट्रा सिंहिनी कितनी भी भीषण क्यों न हो, वह तो उसकी जननी ही है। आओ युग-युगान्तर की निराशा व जड़ता के बन्धन को जीर्ण वस्त्र की तरह दूर फेंककर—करोड़ों कण्ठ से इस भीषणा

को 'माँ, माँ' कहकर पुकारो---दक्षिणेश्वर की उस पंचवटी के नीचे पागल पुजारी ने जिस भाव से, जिस नग्न सरलता को लेकर पुकारा था---वैसा ही पुकारो तो एक बार। मृत्युरूपी माता प्रसन्न होगी---साधना में सिद्धि प्राप्त होगी---साथ ही-साथ देश व समाज की दुर्दशा भी मिट जायगी।

काश्मीर-भ्रमण समाप्त हुआ। प्रकृति के रमणीय लीलास्थान को पीछे छोड़ स्वामीजी शिष्याओं के साथ १३ अक्टूबर को लाहौर आ गये। शिष्याओं ने भारत के कुछ विख्यात नगरों का दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी अलमोड़ा से आये हुए शिष्य सदानन्दजी को साथ लेकर १८ अक्टूबर को वेलुड़ लौट आये। अप्रत्याशित रूप से अपने बीच में स्वामीजी को पाकर मठ के संन्यासी व ब्रह्मचारीगण आनन्दविभोर हो उठे, परन्तु थोड़े ही समय में स्वामीजी की शारीरिक व मानसिक स्थिति उनकी चिन्ता का कारण बन गयी। उनका पीला मुख-मण्डल, बायीं आँख में जमा हुआ रक्त आदि लक्षण देख मठ के संन्यासी व भक्तगण तुरन्त चिकित्सा की व्यवस्था करने लगे। प्रसिद्ध डॉक्टर आर. एल. दत्त तथा दो-एक कविराजों ने उनकी शारीरिक स्थिति का भलीभाँति पर्यवेक्षण कर विशेष रूप से सतर्क रहने का उपदेश दिया। मठ के संन्यासीगण जिनके लिए व्यस्त व शंकित हो उठे थे---वे निर्विकार व उदासीन थे। मानो बाहर के किसी भी विषय में उनका कोई लगाव नहीं है। कार्य-विशेष के सम्बन्ध में कुछ पूछने पर गम्भीर उदासीनता के साथ उत्तर देते थे---"मैं क्या जानूँ, माँ की जो इच्छा होगी वही होगा।" कई व्यक्ति कुछ चित्ताकर्षक कहानियाँ सुनाकर उनके मन को उच्च भाव-राज्य से उतार लाने की चेष्टा करते थे।

परन्तु आत्ममग्न विवेकानन्द असंलग्न उत्तर देते हुए उन लोगों को छोड़कर कहीं एकान्त स्थान में चले जाते थे। इसी बीच एक दिन शिष्य श्री शरदबाबू गुरुदेव के दर्शन के लिए आये। वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने उनसे कहा कि अमरनाथ और क्षीरभवानी मे कठोर तपश्चर्या से उनका शरीर थोड़ा-बहुत अस्वस्थ अवश्य हो गया है, परन्तु वह कोई विशेष ध्यान देने योग्य बात नहीं है। फिर शिष्य के विशेष आग्रह व अनुरोध से अमरनाथ व क्षीरभवानी के अलौकिक दर्शन व अनुभव के सम्बन्ध मे दो-चार बातें कहकर स्वामीजी बोले, "अमरनाथ से लौटते समय शिवजी मेरे माथे पर जो सवार हुए हैं, वे किसी भी तरह नहीं उतर रहे है।"

चिकित्सा के लिए स्वामीजी को मठ से लाकर कलकत्ता, बागबाजार के बलराम बाबू के मकान में रखा गया। धीरे धीरे स्वामीजी का मन उच्चतम भावराज्य से लौटने लगा। पहले के समान उत्साह व आग्रहपूर्वक न सही परन्तु फिर भी वे दर्शनार्थी भक्तगणों के साथ वार्तालाप करने तथा उन्हें धर्मोपदेश देने लगे। बीच बीच में कलकत्ता से बेलुड़ जाकर मठ की कार्यप्रणाली की देखभाल भी करने लगे। इसी बीच में स्वामी तुरीयानन्दजी बड़े उत्साह से अलमोड़ा से मठ लौटे। मठ में निरन्तर शास्त्रचर्चा, ध्यान, तपस्या होने लगी। स्वामीजी भी कभी कभी उपस्थित रहकर धर्म, दर्शन, इतिहास, विज्ञान इत्यादि विभिन्न विषयों की चर्चा में नवीन ब्रह्मचारियों को उत्साहित करने लगे।

कुछ समय में भगिनी निवेदिता कलकत्ता लौट आयीं। श्री गुरुदेव के चरणों मे सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर उन्होंने स्त्रीशिक्षा के विस्तार के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी।

हिन्दू स्त्रियों के दैनिक जीवन से प्रत्यक्ष रूप से परिचित होने के लिए वे बागबाजार स्थित श्रीमाताजी के निवासस्थान पर रहने लगीं। श्रीरामकृष्णदेव की अन्य स्त्री-भक्तों ने बड़े आदरपूर्वक बिना किसी दुविधा के, बड़े स्नेह से निवेदिता को अपने बीच स्थान दिया। थोड़े ही समय में बागबाजार में एक बालिका-विद्यालय स्थापित करने की व्यवस्था निश्चित हो गयी।

१२ नवम्बर को श्रीमाताजी ने कुछ स्त्री-भक्तों के साथ बेलुड़ मठ में शुभ पदार्पण किया। उस दिन श्रीकालीपूजा थी। पूर्ण विधि के अनुसार पूजा व भोग का आयोजन करने में संन्यासियों ने कोई कसर उठा न रखी थी। श्रीमाताजी ने स्वयं पूजा समाप्त कर संन्यासियों को आशीर्वाद दिया। उनके आशीर्वाद से मठ का शुभ उद्देश्य पूर्ण होगा यह मानकर सभी लोग आनन्दित व कृतार्थ हुए। तीसरे प्रहर श्रीमाताजी स्वामी विवेकानन्द, ब्रह्मानन्द व सारदानन्दजी के साथ बागबाजार में भगिनी निवेदिता द्वारा स्थापित बालिका-विद्यालय में लौट आयीं। स्वामीजी की प्रार्थना पर श्रीमाताजी ने विद्यालय-स्थापना की विशेष पूजा को समाप्त कर जगज्जननी के चरणों में प्रार्थना की कि उनके आशीर्वाद से विद्यालय में आदर्श बालिकाएँ शिक्षित होकर समाज के लिए कल्याणदायिनी बनें। परमाराध्या श्रीमाताजी का आशीर्वाद प्राप्त कर भगिनी निवेदिता ने आनन्द से अपने को सिद्ध-संकल्प माना।

९ दिसम्बर श्रीरामकृष्ण संघ के इतिहास में एक स्मरणीय दिन है। नीलाम्बर बाबू के बगीचेवाले मकान में ब्राह्म मुहूर्त में स्वामीजी ने गुरुभाई व शिष्यों के साथ गंगाजी में स्नान कर नवीन गैरिक वस्त्र पहना। आज के विशेष अनुष्ठान के पौरो-

हित्य का भार स्वयं स्वामीजी ने ग्रहण किया है। ध्यान, उपासना व पूजा यथाविधि समाप्त कर श्रीरामकृष्णदेव के देहावशेषवाले पवित्र ताम्रपात्र को दक्षिण स्कन्ध पर रख वे बेलुड़ मठ की ओर चले, उनके पीछे शंख, घण्टा आदि की ध्वनि से दिशाओं को गुँजाते हुए गुरुभाई व शिष्यगण थे। उस शुभ प्रभात में भागीरथी के तट पर कुछ विश्वासी भक्तों के कण्ठ से उच्चारित श्रीराम-कृष्ण की जयध्वनि ने अपूर्व आनन्दोल्लास उत्पन्न कर दिया। पथ पर चलते हुए स्वामीजी ने पासवाले शिष्य से कहा, "श्रीराम-कृष्णदेव ने एक बार मुझसे कहा था, 'तू कन्धे पर चढ़ाकर मुझे जहाँ भी खुशी से ले जायगा, मैं वहीं पर रहूँगा—चाहे वह झोपड़ी हो या वृक्षों का झुण्ड।' परम दयालु श्रीरामकृष्णदेव के उसी आशीर्वाद पर भरोसा करके ही मैं उन्हें हमारे भावी मठ में ले जा रहा हूँ। वत्स, निश्चित जानो, जितने दिन उनके नाम पर उनके अनुगामी भक्तगण पवित्रता, आध्यात्मिकता व समस्त मानव से एक-सी प्रीति के आदर्श की रक्षा कर सकेंगे, उतने दिन श्रीरामकृष्णदेव इस मठ को अपनी दिव्य उपस्थिति द्वारा धन्य बनाये रहेंगे।"

मठ-प्रांगण मे यत्न द्वारा रचित वेदी पर पवित्र पात्र को स्थापित कर संन्यासी और ब्रह्मचारियों सहित स्वामीजी भक्ति से भूमि पर लोटपोट होकर सर्व धर्मों के समन्वयाचार्य महान् गुरुदेव को बारम्बार प्रणाम करने लगे। उसके बाद स्वामीजी ने यथाविधि पूजा समाप्त कर यज्ञाग्नि प्रज्वलित की। युगप्रवर्तक आचार्य के कण्ठ से वेदमन्त्र युगयुगों से भूले हुए पुराने स्वर में झंकृत हो उठे। केवल संन्यासियों की उपस्थिति में विरजा होम समाप्त कर अपने हाथ से पायसान्न तैयार कर उन्होंने श्रीराम-

कृष्णदेव को भोग लगाया। श्रीरामकृष्ण मठ की स्थापना के अनुष्ठान को समाप्त कर आचार्यदेव ने श्रीरामकृष्णसन्तानों को बुलाकर कहा, "वन्धुओ, आओ, लोककल्याण के लिए अवतीर्ण अपने प्रभु से हम काय-मनो-वाक्य से प्रार्थना करें कि वे अनेक वर्ष तक इस पवित्र स्थान में निवास करें। उनके आशीर्वाद व सूक्ष्म आविर्भाव से यह स्थान पुण्य क्षेत्र में परिणत हो। इस कर्म-केन्द्र से 'वहुजन हिताय, वहुजन सुखाय' सर्व सम्प्रदायों, सर्व धर्मों के भेद-द्वन्द्व को निरस्त करनेवाली भाव-धारा आचरित व प्रचारित हो।"

मठ की भविष्य कार्यप्रणाली की चर्चा के सिलसिले में उन्होंने एक दिन अपने शिष्य शरद वावू से कहा, "यहाँ पर साधुओं के ठहरने का स्थान होगा। यह मठ साधन-भजन, ज्ञानचर्चा का प्रधान केन्द्रस्थान हो यही मेरा अभिप्राय है। यहाँ से जिस शक्ति का अभ्युदय होगा उससे समस्त जगत् में आलोक छा जायगा। वह शक्ति मनुष्य के जीवन की गति को घुमा देगी। ज्ञान, भक्ति, योग तथा कर्म के समन्वय से इस पुण्य भूमि से मानव जाति के लिए कल्याणप्रद उच्च आदर्शों का विकास होगा। इस मठ में रहनेवाले पुरुषों के इशारे पर एक समय दिग्दिगन्तरों में प्राण का संचार होगा। सभी सच्चे धर्मप्रेमीगण यहाँ पर आकर जुटेंगे--मन में इसी प्रकार की कितनी ही कल्पनाएँ उठ रही हैं।"

श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों तथा आदर्शों का जनसाधारण में प्रचार करने के लिए एक वंगला पत्रिका प्रकाशित करने की आवश्यकता स्वामीजी काफी दिनों से अनुभव कर रहे थे। तद-नुसार पाक्षिक पत्र प्रकाशित करने के प्रस्ताव का सभी ने अनु-मोदन किया और स्वामीजी की राय से स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी

ने इस पत्र के संचालक का भार ग्रहण किया। १४ जनवरी १८९९ ई० को पत्रिका का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ। इस कार्य के सिलसिले में अथक परिश्रमी स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जो असाधारण परिश्रम करने लगे वह वर्णनातीत है। उनका असीम त्याग तथा उद्यम आदि देख स्वामीजी आनन्द के साथ उन्हें आशीर्वाद देते हुए उत्साह प्रदान करने लगे। स्वामीजी ने इस पत्र का नाम 'उद्बोधन' मनोनीत किया और स्वयं उसकी प्रस्तावना लिखी। स्वामीजी ने संघरूप में परिणत रामकृष्ण मिशन के सदस्यों से इस पत्र में लेख आदि लिखने के लिए तथा श्रीरामकृष्णदेव के धर्ममत का जनसाधारण में प्रचार करने के लिए अनुरोध किया।

मठ में लगातार शास्त्रचर्चा तथा दर्शनार्थी भक्तों को उपदेश आदि देने के कारण स्वामीजी को जो घोर मानसिक परिश्रम करना पड़ता था, उससे उनका शरीर दिन-पर-दिन अत्यधिक रूप से अस्वस्थ होने लगा। अगले ग्रीष्म काल में उन्हें पाश्चात्य देशों में जाना था। इसलिए कुछ दिन विश्राम करने की विशेष आवश्यकता का उन्होंने अनुभव किया। कलकत्ता तथा बेलुड़ मठ मे रहकर विश्राम करने की आशा को नितान्त असम्भव जानकर स्वामीजी १९ दिसम्बर को बाबू प्रियनाथ मुखोपाध्याय के अतिथि होकर वैद्यनाथ चले गये। वैद्यनाथ के प्रसिद्ध स्वास्थ्य-प्रद स्थान होने पर भी वहाँ स्वामीजी को पहले-पहल दमे के रोग से विशेष कष्ट हुआ। एक दिन दमे का वेग इतना बढ़ गया कि सभी को भय होने लगा कि कही उनका देहत्याग न हो जाय। परन्तु ईश्वर की कृपा से थोड़े ही समय में स्वामीजी स्वस्थ हो गये। देवघर में उत्सुक व जिज्ञासु जनता की भीड़ न थी। प्रातः

जीवन को ढालें। देश की दुर्दशा की चर्चा करते हुए समय समय पर भाव की अधिकता से वे आँसू बहाते थे और कभी कभी गम्भीर चिन्ता में निमग्न रहते थे। अधिकांश युवकों की शारीरिक दुर्बलता, नैतिक चरित्रहीनता तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से मस्तिष्कविकृति को देख समय समय पर क्षुब्ध हो वे तीव्र मन्तव्य प्रकट करते थे। वे प्राय: कहा करते थे, "दो हजार वीरहृदय, विश्वासी, चरित्रवान व बुद्धिमान युवक तथा तीस करोड़ रुपये होने पर मै भारत को अपने पैरों पर खड़ा कर दे सकता हूँ।" फिर कभी कभी इस सब के अभाव में यह सोचकर कि उनके जीवन का उद्देश्य व्यर्थ हो रहा है, वे निराशा से व्याकुल हो उठते थे। परन्तु उन्होंने पूर्ण मन से यह निश्चय कर लिया था कि पर्वत जैसी विघ्नबाधाओं तथा नैराश्य के घनान्धकार के बीच मे भी रास्ता तैयार कर लेना होगा—उनके नि:स्वार्थ आह्वान से उद्‌बुद्ध होकर जिन थोड़े से व्यक्तियों ने जगत् के हित के लिए आत्मसमर्पण किया है उन स्त्री-पुरुषों को ही 'अग्रगामी सैन्यदल' के रूप में संगठित कर लेना होगा।

तीसरे प्रहर जिस समय वीर संन्यासी भागीरथी तट पर स्थित मठ के प्रांगण में धीरे धीरे टहलते थे उस समय उनकी गम्भीर चिन्ता के दो-एक उद्‌गार विक्षुब्ध हृदय के अन्तस्तल से उनके अनजान में ही निकल पड़ते थे। एक दिन टहलते हुए वे सामने कुछ संन्यासी व ब्रह्मचारियों को देख सहसा बोल उठे, "सुनो वत्सगण, श्रीरामकृष्ण आये थे और जगत् के कल्याण की कामना से देह विसर्जन कर गये हैं। मुझे, तुम्हे—प्रत्येक को ही—जगत् के कल्याण के लिए देह विसर्जन करना होगा। विश्वास करो—हमारे हृदय से जो रक्त निकलेगा, उसकी प्रत्येक बूंद से भविष्य

में बड़े बड़े कर्मवीर उत्पन्न होकर जगत् को आलोड़ित कर देंगे।" कल्पनाप्रिय, भावुक संन्यासी इस संकल्प पर विश्वास रखते थे और इसीलिए भाषण व वार्तालाप में प्रायः कहा करते थे, "I want to preach a manmaking Religion—मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ जिससे 'मनुष्य' तैयार हों।" इसीलिए स्वामीजी ने भाषण देना छोड़ अथक चेष्टा से मठ के अल्पसंख्यक संन्यासी व ब्रह्मचारियों को ही संगठित करने में प्राणों की बाजी लगा दी। एक दिन एक शिष्य ने उनसे पूछा, "स्वामीजी, आप अपने असाधारण भाषण-बल से यूरोप, अमेरिका को मथित कर अपनी जन्मभूमि में चुपचाप बैठे है इसका क्या कारण है ?" उत्तर में आचार्यदेव ने कहा, "इस देश में पहले जमीन (ground) तैयार करनी होगी। पाश्चात्य का वातावरण बहुत अनुकूल है। अन्नाभाव से दुर्बल देह, दुर्बल मन तथा रोग, शोक व दुःखदैन्य की जन्मभूमि भारत में भाषण देकर क्या होगा ? पहले कुछ ऐसे त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है जो अपने परिवार की चिन्ता न करते हुए दूसरों के लिए जीवन का उत्सर्ग करने को तैयार होंगे। मैं मठ स्थापित कर कुछ बाल संन्यासियों को इस प्रकार तैयार कर रहा हूँ। शिक्षा समाप्त होने पर वे लोग घर घर जाकर लोगों को देश की वर्तमान शोचनीय दशा समझा देंगे। उस दशा से उन्नति किस प्रकार हो सकती है, इस विषय में उपदेश देंगे और साथ ही धर्म के महान् सत्यों को सरल भाषा में उन्हें साफ साफ समझा देंगे। देखते नहीं हो, पूर्वाकाश में अरुणोदय हो गया है, सूर्योदय में अब विलम्ब नहीं है। तुम लोग इस समय कमर कसकर जुट जाओ—संसार-फंसार करके क्या होगा ? तुम्हारा इस समय काम है देश के गाँव-गाँव में जाकर लोगों को समझा देना कि अब

और अधिक सुस्ती से बैठे रहने से काम न चलेगा। शिक्षाविहीन धर्मविहीन वर्तमान अवनति की बात उन्हें समझाकर कहो, 'भाइयो! उठो, जागो, और कितने दिन सोते रहोगे?' और शास्त्र के महान् सत्यों को सरल भाषा मे उन्हे समझा दो। इतने दिन इस देश के ब्राह्मणों ने धर्म पर अपना एकाधिकार बना रखा था। काल के प्रवाह से जब वह नहीं टिका तो ऐसी व्यवस्था करो कि जिससे देश के सभी लोग धर्म को प्राप्त कर सकें। सभी को समझा दो, ब्राह्मणों की तरह तुम्हारा भी धर्म में समान अधिकार है। ऊँच-नीच सभी को इस अग्निमन्त्र में दीक्षित करो और सरल भाषा में उन्हें कृषि, व्यापार आदि गृहस्थ जीवन के अत्यावश्यक विषयों का उपदेश दो। नही तो तुम्हारे लिखने पढ़ने को धिक्कार है और तुम्हारे वेदवेदान्तों के अध्ययन को भी धिक्कार है। लग जाओ—कितने दिनों के लिए जीवन है? जगत् मे जब आये हो तो एक चिह्न छोड़ जाओ। नही तो वृक्ष, पत्थर भी तो पैदा हो रहे है और मर रहे है— इस प्रकार के जन्म और मरण की क्या कभी मनुष्य की इच्छा होती है? मुझे काम करके दिखाओ कि तुम्हारे वेदान्त का अध्ययन सार्थक हुआ है। जाकर सभी को यह बात सुना दो— 'तुममे अनन्त शक्ति है, उस शक्ति को जगा लो। 'अपनी मुक्ति से क्या होगा?—मुक्ति की कामना भी तो महा स्वार्थपरता है। छोड़ दो ध्यान, छोड़ दो मुक्ति-फुक्ति—मै जिस काम मै लगा हूँ उसी काम में लग जाओ। इस प्रकार तुम लोग पहले जमीन तैयार करो, बाद मे मेरे जैसे हजार हजार विवेकानन्द भाषण देने के लिए नरलोक में जन्म ग्रहण करेंगे, इसके लिए चिन्ता नही। यह देखो न, जो लोग पहले समझते थे हममे कोई शक्ति

नहीं है—वे ही इस समय सेवाश्रम, अनाथाश्रम, दुर्भिक्ष कोष, आदि कितने ही खोल रहे हैं। देखते नहीं हो—निवेदिता ने अंग्रेज की लड़की होकर भी तुम लोगों की सेवा करना सीखा है और तुम अपने देश के लोगों के लिए ऐसा नही कर सकोगे? जहाँ महामारी हुई हो, जहाँ पर मानवजीवन दुःखित हो, जहाँ पर दुर्भिक्ष हो—चले जाओ उसी ओर। अधिक से अधिक मृत्यु ही तो होगी? हमारे-तुम्हारे जैसे सैकड़ों कीड़े पैदा होते तथा मरते हैं, इससे दुनिया का क्या बनता-विगड़ता है? एक महान् उद्देश्य लेकर मर जाओ। मृत्यु तो होगी ही पर अच्छे उद्देश्य के लिए मरना अच्छा है। इस भाव का घर-घर में प्रचार करो। अपना व देश का मंगल होगा। तुम्हीं देश की आशा व भरोसा हो। तुम्हें कर्महीन देखने पर मुझे बड़ा कष्ट होता है। लग जाओ, लग जाओ, देर न करो—मौत तो दिन पर दिन निकट आ रही है। वाद में करने के विचार से अब और अधिक न बैठे रहो —फिर तो कुछ न हो सकेगा।" *

कलकत्ते की बात तो अलग रही, बंगाल प्रान्त के विभिन्न स्थानों से भी अनेक लोग स्वामीजी के श्रीचरणो के दर्शन की इच्छा से बेलुड़ मठ में उपस्थित होते थे। वे किसी की धर्म सम्बन्धी समस्या की मीमांसा कर देते थे, किसी भाग्यवान को शिष्य बना-कर कृतार्थ कर देते थे। मानव मे सर्व शक्तिमान आत्मा की सुप्त महिमा को जगाने के लिए महापुरुष मानो सदा ही तैयार रहते थे। पात्रापात्र का विचार नही, धनी-दीन का भेद नही; पण्डित-मूर्ख सभी उनके पास एक सा आदर व सम्मान पाते थे। स्वामीजी कभी प्रश्नकर्ता की कठिन दार्शनिक समस्या की मीमांसा

* 'विवेकानन्दजी के सग में' पुस्तक ने उद्धृत।

कर रहे है, तो कभी भारत की आर्थिक व लौकिक उन्नति किस प्रकार सम्भव हो सकेगी, इसकी विवेचना कर रहे हैं। फिर भी ब्रह्मचारियों को संयम की साधना में उत्साहित कर रहे है, नियम की जरा सी त्रुटि के लिए भी क्षमा न करते हुए तीव्र भर्त्सना कर रहे है और दूसरे क्षण में ही सम्भव है कि सभी के साथ आनन्द से मठ की घास-फूस साफ करने चले है ! धर्मोपदेश से लेकर झाड़ू हाथ मे लिये हुए कूड़ा-करकट साफ करने तक सभी कर्म उनकी दृष्टि में एक से है, सभी काम प्रभु के हैं !

एक दिन विवेकानन्द देवगुरु बृहस्पति की तरह शिष्य-मण्डली द्वारा घिरकर शास्त्र की व्याख्या कर रहे थे, इसी समय विशुद्ध-कर्मा साधु नाग महाशय उनके दर्शन के लिए मठ में पधारे। श्रीरामकृष्ण की दो श्रेष्ठ सृष्टियों का बहुत दिनों के बाद आनन्द सम्मिलन ! एक संन्यास का चरम आदर्श है—और दूसरा है मूर्तिमान गार्हस्थ्य धर्म !! स्वामीजी ने प्रणाम करके पूछा, "आप अच्छे तो है न ?" नाग महाशय बोले, "आपका दर्शन करने आया। जय शंकर, जय शंकर ! साक्षात् शिव-दर्शन हुआ।"

स्वामीजी कुशल प्रश्न पूछ रहे हैं, परन्तु उत्तर देगा कौन ? हाथ जोड़कर खड़े हुए भावमुग्ध महापुरुष तो अतृप्त नेत्रों से साक्षात् शंकर का दर्शन कर रहे है। देह का ज्ञान हो तब तो कहें कि 'अच्छा हूँ।' 'निःसार हड्डी मांस की बात' का क्या उन्हें और स्मरण है ? मन तो उस समय नेत्रमय होकर श्रीराम-कृष्ण-लीलारूपी ह्रद के सम्पूर्ण खिले हुए सहस्रदल पद्म की अपूर्व माधुरी का पान कर रहा है ! उत्तर दे कौन ?

आचार्यदेव ने स्वामी प्रेमानन्दजी से प्रसाद लाकर नाग महाशयजी को देने के लिए कहा। नाग महाशय बोल उठे,

"प्रसाद ! प्रसाद ! (स्वामीजी के प्रति हाथ जोड़कर) आपके दर्शन से मेरी भवक्षुधा दूर हो गयी। . . ."

स्वामीजी—(सभी को लक्ष्य करके) देख रहे हो ! नाग महाशय को देखो, आप गृहस्थ है, परन्तु जगत् है या नहीं, यह भी नहीं जानते, सदा तन्मय रहते है। (नाग महाशय को लक्ष्य कर) इन सब ब्रह्मचारियों तथा हम लोगों को श्रीरामकृष्णदेव की कुछ बात सुनाइये।

नाग महाशय—यह आप क्या कहते है ? भला मै क्या कहूँगा ? मैं आपको देखने आया हूँ, श्रीरामकृष्णदेव की लीला के सहायक महावीरजी का दर्शन करने आया हूँ। श्रीरामकृष्णदेव की बात अब लोग समझेंगे ! जय रामकृष्ण ! जय रामकृष्ण !!

स्वामीजी—आप ही ने वास्तव में श्रीरामकृष्णदेव को पहचाना है। हम तो केवल भटकते रह गये।

नाग महाशय—छीः। यह कैसी बात आप कहते हैं ? आप श्रीरामकृष्णदेव की छाया हैं—सीधा बाजू और उल्टा बाजू। जिसके आँख हो देख ले।

स्वामीजी—यह सब जो मठ आदि हो रहा है, यह क्या ठीक है ?

नाग महाशय—मै क्षुद्र जीव हूँ, क्या समझता हूँ ? आप जो कुछ करते हैं, निश्चित जानता हूँ, उससे जगत् का कल्याण होगा—मंगल होगा।

स्वामीजी—मै एक बार आपके देश में आऊँगा।

नाग महाशय आनन्द से पागल होकर बोले, "क्या ऐसा दिन आयेगा ? देश काशी बन जायेगा। क्या ऐसा मेरा भाग्य होगा ?"

स्वामीजी—मेरी तो इच्छा है, पर माँ ले जाय जब।

नाग महाशय—आपको कौन समझेगा ? दिव्य दृष्टि खुले बिना आपको पहचानने का उपाय नहीं है। एकमात्र श्रीरामकृष्ण-देव ने ही आपको पहचाना था। शेष सभी लोग केवल उनकी बात पर विश्वास करते है। आपको कोई समझ न सका।

स्वामीजी—मेरी इस समय एकमात्र इच्छा है—देश को जगा दूं—मानो महावीर अपनी शक्ति पर विश्वास खोकर सो रहे है, चूँ तक नही करते। सनातन धर्म के भाव से इसे किसी प्रकार यदि जगा सकूँ तो समझूँगा कि श्रीरामकृष्णदेव व हम लोगों का आना सार्थक हुआ। केवल यही इच्छा है—मुक्ति-फुक्ति सब तुच्छ लगते हैं। आप आशीर्वाद दीजिये, जिससे सफलता प्राप्त हो।

नाग महाशय—श्रीरामकृष्णदेव का आशीर्वाद है। आपकी इच्छा की गति को कोई फिरा सके, ऐसा देखने में तो नहीं आता, जो चाहेंगे वही होगा।

स्वामीजी—कहाँ कुछ भी तो नही होता—उनकी इच्छा के बिना कुछ भी नही होता।

नाग महाशय—उनकी इच्छा और आपकी इच्छा एक हो गयी है। आपकी जो इच्छा, वही श्रीरामकृष्णदेव की इच्छा है। जय रामकृष्ण, जय रामकृष्ण !

स्वामीजी—नाग महाशय ! क्या कर रहा हूँ, क्या नहीं कर रहा हूँ, कुछ समझ नहीं सकता। एक एक समय एक एक बात की ओर प्रबल झुकाव आ जाता है, उसी के अनुसार काम किये जा रहा हूँ। इससे भला हो रहा है या बुरा, कुछ समझ नहीं सकता।

नाग महाशय—श्रीरामकृष्णदेव ने जो कहा था—'सन्दूक में बन्द रहा।' इसीलिए अब समझने नहीं दे रहे हैं। समझने के

साथ ही लीला समाप्त हो जायगी।

नाग महाशय की वात सुनकर स्वामीजी चिन्तामग्न हो गये। आइये पाठकगण ! हम इस अवसर में जरा सोचकर देखें—देखें एक वार कल्पना के अपलक नेत्रों को फैलाकर—वेलुड़ के पुण्य मठ मन्दिर में एक दूसरे के आमने सामने दो महामानवों की मूर्तियों को ! विश्वविजयी संन्यासीप्रवर किस दीन भाव से उनसे भी दीन, श्रेष्ठ गृहस्थ से आशीर्वाद की भिक्षा माँग रहे है। जिस विवेकानन्द ने जाति, वर्ण, स्त्री-पुरुष की भेद-भावना से मुक्त होकर सनातन धर्मरूपी समुद्र को मथित कर प्रत्येक को समभाव से अद्वैतरूपी अमृत का दान दिया, तथा दे रहे है, वे अपने कर्म की भलाई या बुराई के बारे में सन्दिग्ध होकर कह रहे हैं—"कुछ समझ नही सक रहा हूँ।" पाठकगण ! आपने इस वीर संन्यासी को अन्तर्निहित प्रवलतम आत्मशक्ति की प्रेरणा से गर्व-पूर्वक सिर उठाकर सिंह की भाँति संयत शौर्य के साथ गर्दन हिलाकर खड़े होते अनेक वार देखा है—पर आज आइये, महिममय मनुष्यत्व के सम्मुख महा नम्रता से वही सिर झुकाकर किस प्रकार वे हृदय की अकृत्रिम श्रद्धा निवेदित कर रहे हैं—यह भी देख लीजिये। देखिये कि महा शक्ति व महा नम्रता उस महापुरुष के विशाल हृदय में किस प्रकार अनुपम मधुरता के साथ एकत्र होकर सम्मिलित हुई है। और नाग महाशय ! उनकी वात और क्या कहूँ—जिनके सम्वन्ध में स्वामीजी ने कहा है, "मैने सारी पृथ्वी का भ्रमण किया, पर नाग महाशय जैसे साधु का और कहीं भी दर्शन नही पाया !" पूर्व बंग की हीरे की खान के इस उज्ज्वल कोहिनूर—पुरुषोत्तम—नाग महाशय के साथ स्वामीजी की तुलना करते हुए भक्तचूड़ामणि

नाट्यसम्राट गिरीश बाबू ने कहा है, "महामाया दो व्यक्तियों से हार मान गयी है। स्वामीजी को महामाया जितना ही बाँधने जाती है स्वामीजी उतने ही बड़े बन जाते हैं, माया की रस्सी पार नहीं पाती, और नाग महाशय इतने छोटे बन जाते है कि उसकी गाँठ के भीतर से फिसल जाते हैं।"

एक दिन 'हितवादी' सम्पादक श्रद्धेय पण्डित सखाराम गणेश देऊस्कर अपने मित्रों के साथ स्वामीजी के दर्शन करने आये। वार्तालाप के सिलसिले में पण्डितजी के मित्रों में एक को पंजाबी जानकर स्वामीजी उनके साथ पंजाब प्रान्त की आवश्यकताओं के बारे में चर्चा करने लगे। भारतीय जनसाधारण के दैन्य, दु:ख, अशिक्षा तथा सामाजिक जीवन की दुर्दशा को दूर करने के लिए न्याय की दृष्टि से प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के ऊपर उत्तरदायित्व है—और इस उद्देश्य से प्राणपण चेष्टा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है—इत्यादि राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं के प्रधान प्रधान विषयों का वर्णन स्वामीजी ओजस्वी भाषा में करने लगे। काफी देर तक वार्तालाप के बाद पण्डितजी ने विदा ली। इसी समय उनके साथी पंजाबी मित्र ने स्वामीजी को लक्ष्य करके कहा, "स्वामीजी, आपसे धर्मोपदेश सुनने के लिए हम बड़ी आशा करके आये थे, परन्तु दुर्भाग्य से अतिसाधारण विषयों की चर्चा हुई—आज का दिन व्यर्थ गया।"

स्वामीजी का तपोद्दीप्त मुखमण्डल व्यथित करुणा से गम्भीर हो उठा। वे धीर भाव से बोले, "सज्जन, जब तक मेरी जन्मभूमि का एक कुत्ता भी भूखा रहेगा, तब तक उसे आहार देना ही मेरा धर्म है। इसके अतिरिक्त और जो भी कुछ है—अधर्म है।"

स्वामीजी के देहत्याग के वर्षों बाद इस बात का उल्लेख कर पण्डित देऊस्करजी ने विवेचना की थी कि स्वामीजी का वह गम्भीर समवेदनापूर्ण कथन उनके चित्त में चिरनवीन रूप में सदा जाग्रत रहा है। उसी दिन से उन्होंने समझा है कि वास्तव में देशप्रेम किसे कहते हैं।

इस समय श्रीरामकृष्ण संघ के प्रचार व संगठन सम्बन्धी कार्यों की अनेक प्रकार की जो योजनाएँ हुई थीं उनका पूरा पूरा विवरण यहाँ पर लिपिबद्ध करना सम्भव नहीं है। साक्षात् ज्ञानमूर्ति स्वामी सारदानन्दजी ने अमेरिका से लौटकर संन्यासी प्रचारकों की शिक्षा का भार ग्रहण किया। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में स्वामी अभेदानन्दजी का वेदान्तप्रचार-कार्य भलीभाँति चल रहा था। मद्रास, कलकत्ता तथा अलमोड़ा के मायावती मठ से क्रियात्मक वेदान्त व धर्म के सार्वभौमिक आदर्श तथा नरनारायण-सेवा की वाणी प्रचारित होने लगी। जिस उत्साह व विश्वास को प्राप्त करने पर सामर्थ्यविहीन व्यक्ति भी सहकार्य कर सकता है, उसके अक्षय भण्डार स्वामी विवेकानन्द वास्तव में पंगु को पहाड़ लाँघने की शक्ति दे सकते थे। वे जानते थे, इस प्रचारशील हिन्दू धर्म के नवीन अभ्युदय को प्राचीनपन्थी समाज की उग्र विरोधिता से बचना हो तो कुसंस्कार व लोकाचार के साथ संग्राम का ही पथ चुन लेना होगा और उसके लिए शक्तिशाली आत्मविश्वासी कर्मियों की आवश्यकता है। गुरुभाइयों के साथ वे नवीन संन्यासियों को युद्धकुशल सैनिकों के रूप में संगठित करने लगे। उनकी दृष्टि इस बात में विशेष रहती थी कि उनके शिष्यगण देशाचार व लोकाचार की परवाह न करते हुए अकपट हो सत्य प्रचार करें, तथा सामाजिक कुरीतियों

इस बात को समझकर कि हृदय की संकीर्णता तथा उच्छृंखल अबाध्यता के कारण ही व्यक्तिविशेष सीमित सम्प्रदाय का निर्माण करता है, स्वामीजी ने नवप्रतिष्ठित संन्यासी-संघ को बारम्बार सावधान करके कहा, "यहाँ पर अबाध्यों का स्थान नहीं है। यदि कोई अबाध्य हो तो ममताशून्य होकर उसे भगा दो—विश्वासघातक कोई न रहे! वायु की तरह मुक्त व अबाध-गति बनो, परन्तु साथ ही इस लता और कुत्ते की तरह नम्र व आज्ञाकारी भी बनो।"

सप्तम अध्याय

मानवमित्र विवेकानन्द

(१८९९–१९०२)

"यदि स्वदेश व मनुष्यकुल का यथार्थ कल्याण हो तो श्रीगुरु की पूजा ही छोड़ना क्या, कोई उत्कट पाप करके मैं ईसाइयों का अनन्त नरक भोगने के लिए भी तैयार हूँ।"

—स्वामी विवेकानन्द

२०.जून को प्रातःकाल स्वामीजी गुरुभाइयों के साथ बागबाजार में श्रीमाताजी के निवासस्थान पर पधारे। दोपहर को श्रीमाताजी संन्यासी सन्तानों को सन्तोष के साथ भोजन कराकर सुखी हुईं। तीसरे प्रहर उनकी चरणधूलि व आशीर्वाद लेकर विवेकानन्द तुरीयानन्दजी व भगिनी निवेदिता के साथ 'प्रिन्सेप घाट' में उपस्थित हुए। वहाँ उनके शिष्य व प्रेमी अनेक व्यक्ति प्रतीक्षा कर रहे थे। स्वामीजी प्रसन्न मुख से सभी से बिदा लेकर 'गोलकुण्डा' जहाज पर चढ़े। २४ जून को जहाज मद्रास बन्दरगाह में पहुँचा। स्वामीजी के कलकत्ते से रवाना होने का समाचार यथासमय तार द्वारा मद्रास के भक्तों को सूचित कर दिया गया था। उस समय भी कलकत्ते में प्लेग का प्रकोप कम न हुआ था, इसलिए प्लेग-कानून के नियमानुसार कलकत्ते से आये हुए किसी भारतीय यात्री का मद्रास मे उतरना निषिद्ध था। यह सोचकर कि इस कानून के कारण सरकारी अधिकारी मद्रास में स्वामीजी के शुभ पदार्पण में विघ्न उपस्थित करेंगे मद्रास के विशिष्ट व्यक्तियों ने सम्मिलित होकर माननीय पी.

आनन्द चारलु महोदय के नेतृत्व में एक विराट सभा की और इस सभा की ओर से स्थानीय सरकार के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा गया कि सरकार श्री स्वामी विवेकानन्द के लिए यह प्रतिबन्ध न लगाये। सभी ने आशा की थी कि कम-से-कम कुछ घण्टों के लिए स्वामीजी को मद्रास नगर में प्रवेश करने के लिए अधिकारियों को कोई आपत्ति न होगी। परन्तु अन्त में देखा गया कि स्वास्थ्य विभाग के बड़े अधिकारी ने बहुत विलम्ब करके यह निर्देश दिया कि स्वामीजी मद्रास में नही उतर सकेंगे। स्वामी विवेकानन्द के प्रति वैसे ही, भारतीय शासकगण बहुत सन्तुष्ट न थे। यहाँ पर यह उल्लेख करने में कोई हानि न होगी कि इससे पूर्व काश्मीर मे मठ-निर्माण-कार्य में भी बाधक होकर वहाँ के रेसिडेण्ट मि. टैबट ने जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया था, मद्रास के अधिकारियों का मनोभाव भी उसी प्रकार का था।

रविवार प्रातःकाल 'गोलकुण्डा' मद्रास बन्दरगाव में आ पहुँचा। हजारों उत्सुक दर्शक जेटी में सम्मिलित थे। परन्तु जब उन्होंने निश्चित रूप से जान लिया कि स्वामीजी को किसी भी तरह बन्दरगाह में उतरने नही दिया जायगा तो अनेक व्यक्ति विरक्त व दुःखित चित्त से उस स्थान से चले गये और किसी-किसी ने किराये पर नाव करके जहाज के पास जाकर स्वामीजी का पवित्र दर्शन प्राप्त किया। स्वामीजी डेक पर खड़े होकर प्रसन्न मुख से सभी को आशीर्वाद देने लगे और किसी-किसी भक्त द्वारा लाये हुए नारियल तथा अन्य फल आनन्दपूर्वक ग्रहण करने लगे। इसमें सन्देह नही कि मद्रास में न उतर सकने के कारण स्वामीजी को भी दुःख हुआ था।

'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के संचालन के सम्बन्ध में स्वामीजी के

साथ परामर्श करने के लिए तथा श्रीगुरु के पवित्र संग में कुछ दिन बिताने का लोभ संवरण करने मे असमर्थ हो नीरव कर्मी आलासिगा पेरुमल मद्रास से कोलम्बो तक जाने के लिए स्टीमर मे आये। स्टीमर मद्रास बन्दरगाह छोड़ चार दिन बाद कोलम्बो पहुँचा।

जयध्वनि से मुखरित समुद्रतट पर उतरते ही स्वामीजी का हजारो नरनारियों ने सादर स्वागत किया। हर्ष की बात है, कोलम्बो के अधिकारियों ने प्लेग-कानून का भय दिखाकर निम्न मनोवृत्ति का परिचय नही दिया। माननीय सर कुमार स्वामी तथा श्री अरुणाचलम् महोदय को जनता के बीच उपस्थित देखकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। पुराने मित्र व भक्तमण्डली के साथ समयोचित वार्तालाप तथा आदर सम्भाषण के बाद स्वामीजी ने स्थानीय श्रीमती हिगन्स द्वारा स्थापित बौद्ध बालिका विद्यालय के छात्रानिवास तथा अपनी पूर्व परिचित काउन्टेस कैनोवारा द्वारा स्थापित विद्यालय व मठ का निरीक्षण किया। २८ जून को प्रातःकाल जहाज कोलम्बो छोड़ एडन की ओर चला। श्री गुरुदेव के साथ छः सप्ताह की समुद्र-यात्रा भगिनी निवेदिता के लिए परम शिक्षा की दृष्टि से मानो दैवी वरदान थी। भारतीय रीति-नीति, धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास आदि की चर्चा के बीच निवेदिता अपने जगदाराध्य गुरुदेव के जीवन के उद्देश्य को तथा उनके द्वारा प्रचारित सत्य सम्बन्धी तत्त्वों को सदैव ही श्रद्धाविमुग्ध हृदय से समझने की चेष्टा करती थी। इस समय के कुछ अमूल्य वार्तालापों को भगिनी अपने 'My Master as I saw him' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ मे सरल तथा स्पष्ट भाषा मे लिपिबद्ध कर गयी है। अपने गुरुदेव के साथ 'आधी पृथ्वी पार होने' के

गौरवमय अधिकार की प्राप्ति को उन्होंने अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ घटना बतायी है। यद्यपि इस समय गम्भीर व उदासीन विवेकानन्द बाह्य जगत् की घटनाओं से एक प्रकार अवसर ग्रहण कर आत्मस्थ योगी की तरह भावानन्द में मग्न रहने के लिए ही अधिकतर आग्रह प्रकट करते थे, फिर भी निवेदिता ने उनके साथ सम्भाषण के छोटे से छोटे अवसर की भी किसी दिन उपेक्षा नही की। उन्होंने लिखा है, "इस समुद्र-यात्रा के प्रारम्भ से अन्त तक अनेक प्रकार के भाव व भावनाओं का अविराम स्रोत जारी था। क्या मालूम, किस शुभ मुहूर्त में सहसा स्वामीजी की उपलब्धि का द्वार उन्मुक्त हो जाय और हम ज्वलन्त भाषा में सत्य के नये-नये सन्देश सुन सकें। समुद्र-यात्रा के प्रारम्भ के प्रथम दिन तीसरे प्रहर हम भागीरथी पर जहाज में बैठे बातें कर रहे थे, इतने में ही स्वामीजी सहसा बोल उठे, 'देखो, जितने भी दिन बीत रहे है, उतना ही मैं स्पष्ट समझ रहा हूँ, मनुष्यत्व-प्राप्ति (Manliness) ही जीवन की सर्वश्रेष्ठ साधना है। इस नवीन वार्ता का ही मै जगत् में प्रचार कर रहा हूँ। यदि अन्याय कर्म करना हो तो उसे भी मनुष्य की तरह करो। यदि दुष्ट ही बनना है तो एक महान् दुष्ट बनो।' "

आचार्यदेव यद्यपि अधिकांश समय मौन भाव से गम्भीर चिन्ता में निमग्न रहते थे, फिर भी समय समय पर एक प्रकार अज्ञात रूप से ही अपनी श्रेष्ठतम चिन्ता व अनुभूतियों को व्यक्त कर देते थे। कभी कभी ऐसी भी दो-एक बातें कह देते थे जिसका युक्तिपूर्ण कारण खोज निकालना बहुत ही कठिन था।

एक दिन स्वामीजी डेक पर खड़े-खड़े सूर्यास्त देख रहे थे। पास खड़ी थीं निवेदिता। उस समय सूर्यदेव अस्त नही हुए

थे—पीले लाल रंग की किरणें छोटे-छोटे मेघखण्डों पर सुनहरे स्वप्न की तरह बिखर गयी थी। नीचे विशाल समुद्र के वक्ष में उसका मनोरम प्रतिबिम्ब छोटी-छोटी तरंगों के साथ हिलता हुआ काँप रहा था। पास ही एटना ज्वालामुखी के शिखर से थोड़ा-थोड़ा धुआँ निकल रहा था। धीरे-धीरे जहाज के मेसिना मुँहाने में प्रवेश करते ही चन्द्रोदय हुआ। स्वामीजी डेक पर टहलते हुए निवेदिता को सौन्दर्य की दार्शनिक व्याख्या सुनाने लगे। बाहर के जगत् में सौन्दर्य के जिस विकास को देख हम मुग्ध हो जाते हैं वह असल में हमारे मन में ही विद्यमान है, बाहर उसका कोई अस्तित्व नहीं—इस बात को समझाते-समझाते आत्ममग्न होकर आचार्यदेव नीरव हुए। इटैली के समुद्र तट पर स्थित धूसरवर्ण पर्वतसमूह मानो उपेक्षामिश्रित भृकुटि के साथ गर्वोद्धत मस्तकों को उठाकर खड़े है। दूसरी ओर स्निग्ध चन्द्रालोक से उद्भासित हास्यमय सिसिली द्वीप—इस अपूर्व प्राकृतिक सौन्दर्य को देखते देखते स्वामीजी सहसा बोल उठे, "मेसिना मुझे धन्यवाद देगी, क्योंकि मैंने ही उसे यह अतुलनीय सौन्दर्य दिया है।" दूसरे ही क्षण स्वामीजी अपने बाल्य जीवन की भगवत्प्राप्ति के लिए तीव्र व्याकुलता तथा उसके लिए कठोर साधनोद्यम इत्यादि का वर्णन करने लगे। थोड़ी ही देर पहले उच्चतम अनुभूति की लहर में आकर अनजान मे उन्होने जिस वाक्य को सहसा कह डाला था, मानो अब शिष्या को उसे भुला देने के लिए वे चेष्टा करने लगे। कई बार उनके श्रीमुख से इच्छा के विरुद्ध भी इस प्रकार की अनेक बाते निकल पड़ती थी, जिनके लिए दूसरे ही क्षण वे लज्जा से आरक्त होकर उस स्थान से चले जाते थे।

एक दूसरे दिन प्रातःकाल जहाज जिस समय जिब्राल्टर के

मुँहाने के बीच में से जा रहा था, स्वामीजी डेक पर आत्ममग्न होकर खड़े थे इसी समय निवेदिता उनके पास आकर खड़ी हुई। उन्हें देखते ही आचार्यदेव तटभूमि की ओर निर्देश कर बोल उठे, "क्या तुमने उन्हें नहीं देखा? क्या तुमने उन्हे नही देखा? तट पर उतरकर वे 'दीन दीन' (विश्वास, विश्वास) ध्वनि से दिशाओं को मुखरित कर रहे हैं!"

इस बात को कहकर स्वामीजी ने भावावेग में लगभग आधे घण्टे तक मुरीय विश्वासी मुसलमानों की स्पेन-विजय की कहानी कह सुनायी।

भगिनी निवेदिता यत्न के साथ आचार्यदेव के अमूल्य उपदेशों को लिपिबद्ध कर गयी है। ध्यानपूर्वक उनका अध्ययन करने पर हम देखते हैं, क्षीरभवानी के मन्दिर की उस देववाणी ने, जगन्माता की उस स्नेहकरुण मृदु भर्त्सना ने उनके चरित्र में विचित्र परिवर्तन ला देने पर भी सर्वत्यागी संन्यासी भारत के कल्याण की चिन्ता से एक क्षण के लिए भी विरत नही हुए। भारत की पौराणिक व ऐतिहासिक कहानियों की चर्चा में प्रवृत्त होने के साथ ही उनका भावविमुग्ध हृदय मानो वर्तमान शोचनीय अध:पतन के निराशाव्यंजक दृश्यों को सम्पूर्ण रूप से भूल जाता था। गम्भीर श्रद्धा के साथ वे एक महिमासमुज्ज्वल भविष्य को प्रत्यक्ष सत्य की तरह चित्रित कर डालते थे--और यहीं पर हम उनके गौरवमय व्यक्तित्व के प्रभाव का स्पष्ट रूप से अनुभव करते है। भारत के उत्थान व पतन के इतिहास तथा जगत् के हित के लिए आविर्भूत महापुरुषों की अलौकिक कार्यप्रणाली के बीच वे सदा ही जातीय जीवन के मूल उद्देश्य के एक घात-प्रति घातमय विकास की सदा ही उपलब्धि करते थे। उन्होंने लक्ष्य

किया था, "बाहरवाले राष्ट्रों के संघर्ष से भारत धीरे धीरे जग रहा है। इस स्वल्प जाग्रति के परिणाम मे स्वाधीन चिन्ता का थोड़ाबहुत विकास हुआ है। एक ओर थी प्रत्यक्ष शक्तिभण्डार रूपी आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान की चकाचौध में डालनेवाली शतसूर्यों की ज्योति जैसी प्रभा, और दूसरी ओर थे स्वदेशी तथा विदेशी अनेक मनीषियों द्वारा उद्घाटित युगयुगान्तरों की सहानुभूति से सभी को बल व आशा देनेवाले पूर्व पुरुषों का अपूर्व वीर्य, अमानवी प्रतिभा तथा देवदुर्लभ आध्यात्मिक कथाएँ। एक ओर जड़ विज्ञान, प्रचुर धनधान्य, प्रभूत बलसंचय तथा तीव्र इन्द्रियसुख विजातीय भाषा द्वारा महान् कोलाहल मचा रहे है, दूसरी ओर उस महान् कोलाहल को भेदकर क्षीण परन्तु मर्मभेदी स्वर मे प्राचीन देवों का आर्त नाद सुनायी पड़ रहा है।

"सम्मुख मे विचित्र यान, विचित्र पान, सुसज्जित भोजन, विचित्र पोशाकों में लज्जाविहीन विदुषी नारियों की विचित्र भावभंगी अपूर्व वासना को जाग्रत कर रही है और बीच बीच में वह दृश्य लुप्त होकर व्रत, उपवास, सीता, सावित्री, तपोवन, जटा-वल्कल, काषाय कौपीन, समाधि, आत्मानुसन्धान उपस्थित हो रहे हैं।" "एक ओर मिशनरी, दूसरी ओर ब्राह्म कोलाहल"; —"एक ओर गतानुगतिक जड़ पिण्ड जैसा समाज, दूसरी ओर अस्थिर, धैर्यहीन आग उगलनेवाले संस्कारक"—इस भावविप्लव से उत्पन्न अभाव में रातदिन केवल पश्चिम की ओर हाथ पसारकर रहने के लिए ही क्या पृथ्वी के पूर्वी भाग में हमारे लिए स्थान नियत हुआ था? इसी समस्या के द्वारा विवेकानन्द का जीवन अन्दर व बाहर प्रबल आँधी से विशाल वटवृक्ष की तरह आलोडित हुआ है। उनके जीवन की आँधी ने पूर्वी तथा पश्चिमी

दोनों ही समुद्रों में लहरें उठायी हैं। फिर भी कमर पर कौपीन लपेटकर यह शक्तिशाली संन्यासी सूर्योदय की प्रतीक्षा में अपने देश की भूमि पर ही पूर्व की ओर मुँह किये खड़े थे। विवेकानन्द ने ही अत्यन्त दुःसाहस से पहले पहल हमें सुनाया कि जातीय भाव व सभ्यता के प्रति विद्रोह करते हुए दूसरों की नकल कर किसी राष्ट्र का अभ्युदय नहीं हो सकता। जाति के स्वभावधर्म से, स्वाभाविक विकास से विच्छन्न होकर विजातीय शिक्षा-दीक्षा का असंयत आस्फालन---क्या यही अभिव्यक्ति है? यह तो अनुकरण है, आत्मविस्मरण है, जातीय प्रकृति के विरुद्ध अत्यन्त निन्दनीय व्यभिचार है। इसी व्यभिचार के प्रतिकार का निर्देश करते हुए आचार्यदेव समय समय पर अपने जीवन के महान् उद्देश्य की बातें उत्साहपूर्वक व्यक्त करते थे। भगिनी निवेदिता ऐसे ही अवसरों पर तन्मय होकर अपने गुरुदेव के विचार, आशा व आकांक्षाओं को सुनती थीं। उनका विश्वास था कि निकट भविष्य में जो असंख्य महाप्राण भक्त व कर्मी जन्म ग्रहण कर विवेकानन्द के स्वप्नों को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा में जीवन का उत्सर्ग करेंगे, उनके व स्वामीजी के मध्य में 'वार्तावाही' (Transmitter) अथवा 'सेतु' के रूप में चिरकाल तक विराजमान रहने का गौरवमय अधिकार प्राप्त कर वह धन्य हुई है। इस प्रशंसनीय दायित्वबोध की प्रेरणा से एक दिन भगिनी निवेदिता ने स्वामीजी से प्रश्न किया था कि भारत के कल्याण के लिए वे जिन उपायों का निर्देश करते हैं उनके साथ किसी किसी विषय में दूसरे भारत-हितैषियों द्वारा प्रचारित आदर्श का प्रत्यक्ष रूप से विरोध देखा जाता है। भगिनी जानती थीं कि इस प्रकार सीधा प्रश्न पूछकर गुरुदेव के मन की बात निकाल लेना बहुत कठिन

काम है, परन्तु उनके प्रश्न के उत्तर में जब स्वामीजी भिन्न-मतावलम्बी नेताओं की कार्यप्रणाली की विपरीत समालोचना न करके उनके चरित्र व प्रचेष्टा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा ही करने लगे तो विस्मित होकर निवेदिता ने उस विषय में स्वामीजी की राय जानने के लिए उनसे अधिक पूछना-ताछना उचित न समझा। सहसा सायंकाल स्वामीजी फिर उस प्रसंग को उठाकर कहने लगे, "जो लोग अपने व्यक्तिगत कुसंस्कारों को हमारे स्वदेशवासियों के बीच में चला देना चाहते हैं, मैं पूर्ण अन्तःकरण से उनका तीव्र प्रतिवाद करता हूँ। मिश्र देश के पुरातत्त्वों की चर्चा करनेवालों की उस देश के प्रति प्रीति की तरह किसी किसी के मन में भारत के प्रति एक स्वार्थपूर्ण प्रेमभाव रहना विचित्र नही है। सभी व्यक्ति अपनी अपनी शिक्षा, कल्पना व किताबी विचार के अनुसार भारत को देखना चाहते है। मेरी इच्छा है, प्राचीन भारत का जो भी कुछ गौरवमय है उसके साथ वर्तमान युग की भली वस्तुएँ स्वाभाविक रूप से एकत्रीभूत होकर, नवीन भारत गढ़ उठे। और इस उन्नतिमूलक गठनकार्य का सम्पादन सम्पूर्ण रूप से सभी बहिःशक्तियों की उपेक्षा करके होना ही वाञ्छनीय है।"

इस बात का निर्देश करते हुए कि प्राचीन व आधुनिक का इस प्रकार सम्मिलित होना कोई असम्भव अथवा काल्पनिक बात नही है, उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन के प्रति विशेष रूप से ध्यान दिलाते हुए कहा—"वे ही इसके पथस्वरूप है—अद्भुत, अहंबुद्धिशून्य पथ!"—कहते कहते स्वामीजी कुछ दृढ़ स्वर से कह उठे, "वे ही यह असाधारण जीवन व्यतीत कर गये है—मैं केवल उसका व्याख्याकार हूँ।"

३१ जुलाई को आचार्यदेव लन्दन पहुँचे। टिलवेरी डॉक में उतरकर अपने अंग्रेज शिष्य व शिष्याओं के बीच दो अमेरिकन शिष्याओं को स्वागत के लिए आये हुए देख स्वामीजी कुछ विस्मित व आनन्दित हुए। वे समाचारपत्रों द्वारा स्वामीजी के इंग्लैण्ड-आगमन का संवाद पढ़कर गुरुदर्शन की तीव्र आकांक्षा से डिट्राइट से लन्दन आयी थीं। स्वामीजी लन्दन से कुछ दूरी पर विम्वलडन नामक स्थान में निवास करने लगे। इस वार स्वामीजी ने दर्शनार्थी जिज्ञासुओं के साथ धर्मालोचना करने के अतिरिक्त किसी सर्वसाधारण स्थान में कोई भाषण नहीं दिया। अन्त में अमेरिका से वार वार वुलाये जाने पर १६ अगस्त को गुरुभाई तुरीयानन्द तथा दोनों अमेरिकन शिष्याओं के साथ उन्होंने न्यूयार्क की ओर यात्रा की। इस समुद्र यात्रा के सम्वन्ध में स्वामीजी की शिष्या श्रीमती फान्की ने लिखा है, "समुद्र पर व्यतीत किये हुए दस दिनो की स्मृति कभी भूलने की नहीं। प्रति दिन प्रातःकाल गीता का पाठ व व्याख्या होती थी। और कभी कभी हम लोग संस्कृत कविता व कहानियों की आवृत्ति तथा अनुवाद सुनते थे, कभी प्राचीन वैदिक प्रार्थनामन्त्रों का पाठ होता था। समुद्र शान्त था, मनोहर चाँदनी से रात्रि चमक रही थी---एक दिन गुरुदेव डेक पर टहलते हुए प्राकृतिक सौन्दर्य के सम्वन्ध मे हमे समझा रहे थे। उज्ज्वल चाँदनी में उनका विशाल सुन्दर शरीर वड़ा ही मनोहर लग रहा था। इसी समय एकाएक खड़े होकर वे कह उठे, "माया के राज्य के दृश्य जव इतने मुन्दर है, तो सोचो इसके पीछे विद्यमान वे सत्यस्वरूप कितने सुन्दर होंगे!"

"एक दूसरे दिन ज्योत्स्नालोकित सन्ध्या के समय वे चुपचाप खड़े थे। अपूर्व सौन्दर्यमयी रजनी की उज्ज्वल रूपराशि---तथा

ऊपर से सुवर्ण-वर्ण पूर्ण चन्द्र हँस रहा था—तन्मय होकर इस दृश्य को देखते देखते वे हाथ उठाकर बोल उठे 'कविता का सार सामने फैला हुआ है—कविता की आवृत्ति करने की क्या आवश्यकता है ?' "

न्यूयार्क में पहुँचकर आचार्यदेव को श्रीमान तथा श्रीमती लिगेट ने बड़े आदरपूर्वक अपना अतिथि बनाया। उनके साथ थोड़ी देर रहकर लिगेट दम्पति के अनुरोध से फिर उसी दिन तीसरे प्रहर गुरुभाई तुरीयानन्द के साथ न्यूयार्क से १५० मील दूर स्थित उनके गाँव के मकान 'रिजले मैनर' को वे चल दिये। स्वामीजी का गिरा हुआ स्वास्थ्य देखकर सहृदय लिगेट दम्पति ने एकदम उन्हें प्रचारकार्य प्रारम्भ करने नही दिया। इस भय से कि उनका बिगड़ा स्वास्थ्य अधिक परिश्रम से कही और न गिर जाय, उन्होने स्वामीजी की चिकित्सा की व्यवस्था कर दी। एक मास के बाद निवेदिता इग्लैण्ड से वहाँ आ गयी। इधर स्वामी अभेदानन्दजी प्रचारकार्य के लिए किसी दूसरे स्थान पर थे, इसलिए न्यूयार्क मे स्वामीजी से उनका साक्षात्कार नही हो सका। कुछ दिन बाद वे भी वहाँ पर आये। स्वामीजी उनसे वेदान्तप्रचार-कार्य की सफलता का समाचार पाकर तथा यह जानकर कि न्यूयार्क में 'वेदान्त समिति' के लिए एक स्थायी भवन की व्यवस्था हो रही है, बहुत ही आनन्दित हुए और गुरु-भाइयो की निःस्वार्थ चेष्टा के लिए उन्हें धन्यवाद देने लगे। अभेदानन्दजी एक दिन बाद ही 'वेदान्त समिति' सम्बन्धी कार्य के लिए न्यूयार्क लौट आये। १५ अक्टूबर को वेन्दात समिति के नवीन भवन के उद्घाटनकार्य को सम्पन्न करके, २२ ता० से वे नियमित रूप से व्याख्यान देना तथा प्रश्नोत्तर क्लास का कार्य

चलाने लगे। कहना न होगा, जिस समय स्वामीजी भारत में थे उस समय स्वामी अभेदानन्दजी ने अथक परिश्रम व योग्यता के साथ प्रचारकार्य को जारी रखा था। इधर स्वास्थ्य में सुधार होने के साथ ही स्वामी विवेकानन्दजी न्यूयार्क लौटने के लिए अधीर हो उठे। निदान ५ नवम्बर को अतिथिपरायण लिगेट दम्पति से विदा लेकर वे भगिनी निवेदिता व स्वामी तुरीयानन्दजी के साथ न्यूयार्क आ पहुँचे।

८ नवम्बर को वेन्दात समिति के भवन में बुलायी गयी एक प्रश्नोत्तरसभा में स्वामी विवेकानन्द जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित हुए। स्वामी अभेदानन्दजी ने वेदान्त समिति के नवीन सदस्यों से उनका परिचय करा दिया। शत शत उत्सुक नर-नारियों के आग्रहपूर्ण आवेदन पर उस दिन स्वामीजी ने जिज्ञासु व्यक्तियों के प्रश्नों का उत्तर स्वयं देकर उन्हें कृतार्थ किया। १०. नवम्बर को स्थानीय जनसाधारण की ओर से उन्हें अभिनन्दन-पत्र दिया गया। आचार्यदेव नें पुराने मित्रों व शिष्यमण्डली के साथ सम्मिलित होने के आनन्द में मग्न होकर अभिनन्दन-पत्र का समयोचित उत्तर दिया।

स्वामी तुरीयानन्दजी ने अभेदानन्दजी के साथ सम्मिलित होकर वेदान्त समिति का कार्यभार ग्रहण किया। थोड़े ही समय में उनके उदार व समुन्नत चरित्र के प्रभाव से जनता का हृदय आकृष्ट हुआ। कुछ सप्ताह के बाद ही वे आमन्त्रित होकर न्यूयार्क के निकटवर्ती 'माउन्ट क्लेअर' नामक स्थान में गये। दिसम्बर मास में केम्ब्रिज के वेदान्तप्रचारकार्य में उन्हें विशेष ख्याति व सम्मान प्राप्त हुआ। १० दिसम्बर को केम्ब्रिज कान्फरन्स की व्यवस्था के अनुसार उन्होंने 'शंकराचार्य' के सम्बन्ध में

एक लेख पढ़ा। हारवर्ड युनिवर्सिटी के प्रोफेसर तथा अनेक अन्य दार्शनिक व धर्मोपदेशक ध्यान देकर नवागत संन्यासी का लेख सुनकर शतमुख से उनकी प्रशंसा करने लगे। इस प्रकार हिन्दू धर्म तथा दर्शन के प्रति श्रद्धासम्पन्न अमेरिकानिवासी नरनारियों ने स्वामी तुरीयानन्दजी को भी अन्यतम आचार्य के रूप में ग्रहण किया।

अनेक शिक्षित नरनारी, जो स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें तथा भाषण आदि पढ़कर उनके प्रति श्रद्धासम्पन्न बने थे, इस समय उनके अमेरिका में आने का समाचार पाकर उनके दर्शन की लालसा से न्यूयार्क आने लगे। स्वामीजी भी बिना किसी भेद-विचार के सभी व्यक्तियों का आदर के साथ स्वागत करते हुए उनकी धर्म सम्बन्धी समस्याओं को दूर कर देने में प्रसन्नता मानते थे। पुराने मित्र, शिष्य व शिष्याओं के आग्रहपूर्ण निमन्त्रंण पर वे न्यूयार्क के आसपास बोस्टन, डिट्राइट, ब्रुकलिन आदि कई स्थानों में गये। इस प्रकार अन्तरंग भक्त व मित्रमण्डली के साथ दो सप्ताह सानन्द बिताकर स्वामीजी ने कैलिफोर्निआ की ओर यात्रा की। उन्होंने पहले से ही अपने सुयोग्य गुरुभाइयों पर प्रचारकार्य की जिम्मेदारी छोड़ रखी थी। उनके आचार-व्यवहार में संन्यासी की सर्वतोमुखी स्वाधीनता इस प्रकार स्पष्ट रूप से प्रकट हो उठती थी कि उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानो वे बाह्य जगत् के साथ सभी प्रकार जिम्मेदारी व कर्तव्य के बन्धनो को छिन्न करने के लिए उद्यत हों। कैलिफोर्निआ के रास्ते में स्वामीजी को बाध्य होकर शिकागो में उतरना पड़ा। मित्र व भक्तमण्डली के श्रद्धापूर्ण आग्रह की वे उपेक्षा न कर सके। शिकागोनिवासियों ने स्वामीजी के सम्मान के लिए अभ्यर्थना की

तैयारी मे कोई कसर नहीं रखी। स्वामीजी ने शिकागो में कुछ दिन रहकर नये व पुराने भक्तों की आकांक्षा को पूर्ण किया। अन्त में उनसे विदा लेकर दिसम्बर मास के प्रथम सप्ताह में वे कैलिफोर्निआ आ पहुँचे। सन् १९०० के जून मास से लगातार सात मास तक उन्होने इस प्रान्त में निवास किया।

कैलिफोर्निआ की प्रथम नगरी लास एन्जेल्स में पदार्पण करने के साथ ही, स्वामीजी को श्रीमती बोल्डगेट ने अपने घर में आतिथ्य स्वीकार करने का निमन्त्रण दिया। उनकी शिष्या कु० मैक्लिआड भी वहाँ पर पहले से ही निवास कर रही थी। स्वामीजी के आगमन के थोड़े ही दिन बाद प्रतिदिन बहुसंख्यक नरनारी उनके दर्शनों के लिए आने लगे। स्वामीजी की पुस्तकों का अध्ययन कर अनेक व्यक्ति इस प्रकार मुग्ध हुए थे कि यह जानकर कि वे आजकल लास एन्जेल्स में पधारे है, दूर दूर से कितने ही लोग उनके पास आने लगे। प्रतिदिन प्रातःकाल व तीसरे प्रहर नियमित रूप से प्रश्नोत्तर सभा होने लगी। अन्त में सर्वसाधारण के आग्रहपूर्ण अनुरोध से उन्होंने फिर भाषण देना स्वीकार किया। ८ दिसम्बर को 'ब्लैन्कर्ड बुक' नामक विशाल भवन में हजार से अधिक श्रोताओं के सम्मुख उन्होंने वेदान्त-दर्शन के सम्बन्ध में एक भाषण दिया। इस प्रकार फरवरी मास के मध्य तक लास एन्जेल्स के विभिन्न स्थानों में उन्होंने लगातार कई भाषण दिये, बल्कि यों कहा जा सकता है कि उन्हें प्रतिदिन ही भाषण देना पड़ता था। सौभाग्य से स्थानीय जलवायु स्वामीजी के स्वास्थ्य के लिए अनुकूल थी। अत्यन्त अधिक कठोर परिश्रम करते हुए भी वे पहले की तरह श्रान्त नही होते थे। भाषण व वार्तालाप के अतिरिक्त वे प्रतिदिन प्रातः व सायकाल कुछ

अनुरागी शिष्य व छात्रों को राजयोग की शिक्षा देने लगे। स्थानीय 'होम आफ ट्रुथ' के सदस्यगण स्वामीजी के प्रति इस प्रकार आकृष्ट हुए कि वे स्वामीजी को अपने इस भवन में ले गये तथा उन्होंने उनकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का पूर्ण भार ग्रहण किया। इस समिति के सदस्यों का उत्साह व आग्रह देख स्वामीजी बड़ी प्रसन्नता से उनके बीच रहने लगे। स्वामीजी ने दो मास के अन्दर ही कैलिफोर्निआ के प्रचारकार्य में यथेष्ट सफलता प्राप्त की। स्थानीय समाचार-पत्र शतमुख से उनके पवित्र चरित्र व नि.स्वार्थ प्रचारकार्य की प्रशसा करने लगे।

इसके बाद फरवरी मास में स्वामीजी ओकलैण्ड के सर्वप्रधान युनिटेरियन चर्च के धर्माचार्य रे० डा० बेन्जामिन के० मिल्स महोदय द्वारा आमन्त्रित होकर वहाँ गये। इस चर्च मे स्वामीजी ने लगातार आठ भाषण दिये। प्रतिदिन लगभग दो सहस्र श्रोतागण बड़ी उत्सुकता के साथ उनके उदार धर्ममत को सुनने के लिए एकत्रित होते थे। स्थानीय समाचार-पत्रों मे प्रतिदिन उनके भाषणों के सारांश व उद्देश्य आदि के वारे में चर्चा होने लगी। इस समय डा० मिल्स महोदय ने एक धर्मसभा (Congress of Religions) बुलायी। कैलिफोर्निआ के विभिन्न स्थानों से आये हुए सैकड़ों मिशनरी व धर्माचार्य इस सभा में सम्मिलित हुए थे। सभी व्यक्ति आचार्यदेव के उदार धर्ममत तथा धर्मसमन्वय के अपूर्व सन्देश को श्रद्धापूर्वक सुनकर हार्दिक प्रशंसा करने लगे। डा० वेन्जामिन के० मिल्स स्वामीजी के उन्नत पवित्र चरित्र तथा असीम आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का घनिष्ठ परिचय पाकर इतने अधिक मुग्ध हुए कि एक दिन श्रोताओं के सामने स्वामीजी का परिचय देते हुए उन्होने कहा—

" A man of gigantic intellect indeed, one to whom our greatest University Professors were as mere children."

("वास्तव में स्वामीजी ऐसे विशाल बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति हैं कि उनके सम्मुख हमारे विश्वविद्यालय के बड़े से बड़े अध्यापकगण भी शिशु जैसे लगते हैं।")

श्रीमती एनी बेसन्ट की भाषा में "इस अप्रतिद्वन्द्वी प्राच्य प्रचारक के अतुलनीय आध्यात्मिक सन्देश की महिमा" की चर्चा कैलिफोर्निआ प्रान्त के नगर नगर, गाँव गाँव में होने लगी। ओकलैण्ड से स्वामीजी फ़रवरी मास के अन्त में कैलिफोर्निआ की राजधानी सान-फ्रान्सिस्को में पधारे। आनेवाले उनके दर्शनार्थियों को किसी भी प्रकार की असुविधा न हो इस बात की ओर ध्यान रखते हुए स्थानीय मान्य तथा शिक्षित व्यक्तियों ने 'टाकर स्ट्रीट' में एक विशाल भवन का प्रबन्ध कर दिया। थोड़े दिनों के बाद ही स्वामीजी ने स्थानीय 'गोल्डन गेट हॉल' में हजारों श्रोताओं के सम्मुख अपना प्रथम तथा प्रसिद्ध 'सार्वजनीन धर्म का आदर्श' शीर्षक भाषण दिया। मन्त्रमुग्ध जैसी जनता ने एकाग्र चित्त हो श्रद्धा के साथ लगभग दो घण्टे तक खड़े रहकर उनके श्रीमुख से निकली हुई अमृतमधुर सत्य की वाणी का श्रवण किया। भाषण के बाद स्वामीजी के आसन ग्रहण करने पर जनता उच्च कण्ठ से उन्हें धन्यवाद देने लगी। उस श्रेष्ठतम मुहूर्त में सभी ने मानो हृदय से अनुभव किया था कि जगत् के कल्याण को ही अपना सब कुछ माननेवाले महापुरुष स्वामीजी वास्तव में ईश्वर के दूत के रूप में मुक्ति का नवीन सन्देश देने के लिए ही पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए है।

मार्च मास में स्वामीजी ने कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि

महापुरुषों के सम्बन्ध में कुछ धारावाहिक भाषण दिये। इसके अतिरिक्त जनता के आग्रह से उन्हें प्रायः राजयोग पर भाषण देना पड़ता था। इस समय स्वामीजी ने जो अमूल्य भाषण दिये थे उनमें से अधिकांश अप्राप्य हो गये हैं। यदि गुरुभक्त श्री० गुडविन जीवित होते तो स्वामीजी के श्रीमुख से उच्चारित साधारण सी बात भी ज्यों की त्यों लिपिबद्ध रहती।

प्रातःकाल योगशिक्षार्थी छात्रों को शिक्षा देने एवं धर्मचर्चा तथा तीसरे प्रहर में भाषण आदि के कार्यों से स्वामीजी को थोड़ा भी विश्राम नही मिलता था। परन्तु कर्म के इस प्रवाह के बीच में भी समय समय पर उनका समाधि द्वारा पवित्र मन एक अज्ञात अव्यक्त भावराज्य में डूब जाता था। इस प्रकार उच्च भाव से अभिभूत होकर स्वामीजी ने अपनी शिष्या कु० मैकलिआड को १८ अप्रैल १९०० को लिखा था--

"कर्म करना सभी समय कठिन है। मेरे लिए प्रार्थना करो कि हमेशा के लिए मेरा काम करना बन्द हो जाय और मेरा समग्र मन-प्राण श्रीमाँ की सत्ता में मिलकर बिलकुल तन्मय हो जाय। उनका कार्य वे ही जानें।

"मैं अच्छा हूँ--मानसिक स्वास्थ्य बहुत ही अच्छा है। शरीर के बजाय मन की शान्ति व स्वच्छन्दता का ही बहुत अधिक अनुभव कर रहा हूँ। युद्ध में हारजीत दोनों ही हुई--अब बोरा-बिस्तर बाँधकर उस महान् मुक्तिदाता की प्रतीक्षा में बैठा हूँ। 'अब शिव पार करो मेरी नैया'--हे शिव! हे शिव! मेरी नैया पार लगा दो प्रभो!

"कुछ भी क्यों न हो, मै अभी भी पहलेवाला वही बालक हूँ जो दक्षिणेश्वर की पंचवटी के नीचे श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व

वाणी को विस्मित होकर सुनता और विभोर हो जाता था। वह वालकभाव ही मेरी असली प्रकृति है—और कामकाज, परोपकार आदि जो कुछ किया गया है वह उसी प्रकृति पर थोड़े समय के लिए आरोपित एक उपाधि मात्र है। अहा! फिर उनकी वही मधुर वाणी सुन रहा हूँ—वही चिर-परिचित आवाज—जिसने मेरे प्राणों के भीतर तक के रोंगटे खड़े कर दिये है! वन्धन सव खुल रहे हैं—मनुष्य की माया लुप्त हो रही है—कामकाज में मन नहीं लग रहा है। जीवन के प्रति आकर्षण भी प्राण से हटकर कहीं दूसरी जगह चला गया है और उसके स्थान पर रह गयी प्रभु की वही मधुर गम्भीर पुकार! आता हूँ, प्रभो आता हूँ! वह, वे कह रहे हैं—'मुर्दों का दाह संस्कार मुर्दे ही करें, तू उन सव को छोड़ मेरे पीछे पीछे चला आ।'—आता हूँ, प्रभो! आता हूँ।

"हाँ, अव मैं ठीक जा रहा हूँ। अपने सामने मैं अपार निर्वाण-समुद्र देख रहा हूँ। समय समय पर उसे प्रत्यक्ष रूप से देखता हूँ—वही असीम, अनन्त शान्त समुद्र, माया की जरा भी हवा या लहर तक जिसकी शान्ति भंग नहीं कर रही है।

"मैं पैदा हुआ था इससे खुश हूँ—इतना जो दुःख भोगा है उस पर भी खुश हूँ, जीवन में कभी कभी वड़ी वड़ी भूलें की हैं, इस पर भी खुश हूँ। फिर अव जो निर्वाण के शान्त समुद्र में डुवकी लगाने जा रहा हूँ, इसमें भी खुश हूँ। मेरे लिए संसार में फिर लौटना होगा ऐसे वन्धन में किसी को छोड़कर जा नहीं रहा हूँ—अथवा इस प्रकार का वन्धन मैं किसी से लेकर भी नहीं जा रहा हूँ। देह जाने के वाद मुझे मुक्ति हो अथवा देह रहते ही मुक्त हो जाऊँ, परन्तु वह पुराना विवेकानन्द चला गया

है, चिर काल के लिए चला गया है, और नही लौटेगा। शिक्षादाता,' गुरु, नेता, आचार्य चला गया--पड़ा हुआ है केवल पहलेवाला वही बालक, प्रभु का वही चिरशिष्य, चिर पदाश्रित दास !

"अनेक दिनो से मैने नेतृत्व छोड दिया है। किसी भी विषय मे 'यह मेरी इच्छा है' ऐसा कहने का अब और मेरा अधिकार नही है। जिस समय मै उनकी इच्छा के स्रोत मे सम्पूर्ण निश्चेष्ट होकर बहता जाता था, वही समय जीवन भर मे मेरा परम आनन्दमय मुहूर्त लग रहा है। अब फिर उसी प्रकार बहने लगा हूँ। ऊपर सूर्य निर्मल किरणे फैला रहा है--पृथ्वी चारों ओर शस्यशालिनी बनकर शोभित हो रही है--दिवस के उत्ताप से सभी प्राणी व पदार्थ इस समय निःस्तब्ध, स्थिर व शान्त है और मै भी उन्हीके साथ अब धीर स्थिर भाव से अपनी थोड़ी भी इच्छा न रखता हुआ प्रभु की इच्छारूपी स्रोतस्विनी के शीतल वक्ष पर बहता जा रहा हूँ। जरा भी हाथ पैर हिलाकर इस स्रोत की गति को तोड़ने मे मेरी प्रवृत्ति व साहस नही हो रहा है--कही प्राणों की यह अद्भुत निःस्तब्धता व शान्ति फिर भग न हो जाय। प्राणों की यह शान्त निःस्तब्धता ही जगत् को माया के रूप मे स्पष्ट समझा देती है। इससे पूर्व मेरे कर्म में मान-यश की भावना भी उठती थी, मेरे प्रेम मे व्यक्तिविचार आ जाता था, मेरी पवित्रता के पीछे फलभोग की आकांक्षा रहती थी, मेरे नेतृत्व मे प्रभुत्व की स्पृहा जाग उठती थी। अब वह सब अदृश्य हो रहे है और मै सभी विषयो मे उदासीन होकर उनके इच्छारूपी स्रोत मे बहता जा रहा हूँ। आता हूँ, माँ, आता हूँ! अपने स्नेहमय वक्ष मे धारण करके, जहाँ तुम ले जाना

चाहती हो, उस अशब्द, अस्पर्श, अज्ञात, अद्‌भुत राज्य में—अभिनेता का भाव सम्पूर्ण रूप से छोड़कर केवल द्रष्टा या साक्षी की तरह डूब जाने में और मेरी दुविधा नहीं है।"

इस पत्र को पढ़कर दुन्दुभीनिनाद से कर्मयोग का प्रचार करनेवाले विवेकानन्द के स्थान पर सोलह वर्ष पूर्व पागल पुजारी के पैरों तले बैठे बालक नरेन्द्रनाथ की बात ही हमारे स्मृति पट पर आ जाती है। याद आ जाती है उस आकुल समाधितृष्णा की, उस तीव्र वैराग्य की प्रेरणा से जगद्धिताय कर्म में अग्रसर होने में अनिच्छा की, श्रीरामकृष्ण की स्नेहपूर्ण भर्त्सना, मौन अनुरोध, असीम अनुकम्पा की! इस महामानव की पवित्र जीवनकथा का निरीक्षण करते हुए हमें अनेक बार आचार्य शिक्षादाता, गुरु, नेता विवेकानन्द के भीतर उसी समाधिकामी संन्यासी श्री नरेन्द्रनाथ का भलीभाँति परिचय प्राप्त हुआ है। हमने देखा है, कर्म की प्रबल प्रेरणा, विश्वव्यापी प्रसिद्धि, सम्मान व प्रतिपत्ति के बीच भी उनका अनासक्त अन्तरपुरुष एक निरुद्विग्न प्रशान्ति में आत्मस्थ होकर रहा है। इस पत्र की वाणी उसी अन्तरपुरुष की वाणी है!

अप्रैल मास के मध्य में स्वामीजी के उत्साही शिष्यगण कैलिफोर्निआ में स्थान स्थान पर 'वेदान्त समिति' व प्रचारकेन्द्रो की स्थापना करके वेदान्त-प्रचार करने लगे। लास एन्जेलस से निमन्त्रण आया, परन्तु सान्फ्रान्सिस्को तथा उसके निकटवर्ती स्थानों मे प्रारम्भ किये हुए कार्य को एकाएक छोड़कर चले जाना स्वामीजी ने ठीक न समझा। अन्यतम शिष्या श्रीमती हैन्सबोरा दृढ़ उद्यम के साथ लास एन्जेलस मे नियमित रूप से वेदान्त क्लासों को चलाने लगीं। इधर सान्फ्रान्सिस्को की नवप्रतिष्ठित

वेदान्त समिति के सभापति डा० एम० एच० लोगन तथा स्वामीजी के कुछ अन्य शिष्य व शिष्याओं ने इस बात को समझ लिया कि शायद वे शीघ्र ही किसी दूसरे स्थान को चले जायँगे, अतः इस समिति को प्रतिष्ठित रखने के लिए एक भारतीय संन्यासी आचार्य की आवश्यकता है। तदनुसार उन्होंने स्वामीजी से अनुरोध किया। स्वामीजी ने भी स्वीकार करके उसी समय स्वामी तुरीयानन्दजी को कैलिफोर्निआ आने के लिए एक पत्र लिख दिया। न्यूयार्क वेदान्त-समिति का भार तुरीयानन्दजी पर छोड़ स्वामी अभेदानन्दजी संयुक्त राज्य में स्थान स्थान पर व्याख्यान दे रहे थे। अतः उनके न लौटने तक तुरीयानन्दजी सान्फ्रान्सिस्को की ओर प्रस्थान न कर सके।

स्वामीजी के कैलिफोर्निया छोड़ने के कुछ दिन पूर्व कु. मिन्नी सी० बुक नामक उनकी एक भक्तिमती शिष्या ने एक स्थायी मठ की स्थापना के उद्देश्य से १६० एकड़ के लगभग एक बड़ा भूमिखण्ड दान दिया। स्वामीजी ने आनन्द के साथ इस दान को ग्रहण किया। बाद में स्वामी तुरीयानन्दजी ने जाकर वहाँ पर एक आश्रम की स्थापना की। यद्यपि स्वामीजी के जीवित काल में ही उस स्थान पर 'शान्ति आश्रम' की स्थापना हुई थी, परन्तु उसे वे आगे पूर्ण रूप मे देख न सके।

वसन्त ऋतु के प्रारम्भ मे स्वामीजी प्रचारकार्य से अवकाश लेकर 'कॅम्प टेलर' नामक गाँव में विश्राम के लिए गये। तीन सप्ताह बाद यद्यपि वे सान्फ्रान्सिस्को में लौट आये, परन्तु उनकी शारीरिक स्थिति को देख शिष्यो ने उनसे भाषण देने के लिए अनुरोध नही किया। स्वामीजी के प्रति गम्भीर श्रद्धा रखनेवाले डा० विल्यम फॉस्टर नामक स्थानीय विख्यात चिकित्सक सदा

उनकी देखभाल करने लगे। अत्यधिक शारीरिक अस्वस्थता के रहते हुए भी मई मास के अन्त में स्वामीजी ने श्रीमत् भगवद्गीता के सम्वन्ध में लगातार चार आकर्षक भाषण दिये। नियमित रूप से भाषण देना छोड़ देने पर भी प्रतिदिन लोगों का आनाजाना वन्द न हुआ था। बालक की तरह परिहासप्रिय, वाक्पटु विवेकानन्द के मधुर चरित्र से आकर्षित हुए बिना रहना वास्तव में असम्भव था। मित्रवत्सल, सरल, उदार, महाज्ञानी विवेकानन्द की चरित्रचर्चा प्रतिदिन ही स्थानीय समाचार-पत्रों में लगातार प्रकाशित होती थी। उन सब को एकत्रित करने पर एक सुबृहत् ग्रन्थ वन जाता है। यहाँ पर केवल 'पैसिफिक वेदान्तिन्' ने स्वामीजी के सम्बन्ध में जो मन्तव्य प्रकाशित किया था उसके कुछ वाक्यों का उद्धरण मात्र ही पर्याप्त होगा।

"स्वामीजी ने अपने गम्भीर भावों के द्वारा समग्र पृथ्वी को स्पन्दित किया है, उनके ये भाव तथा विचार प्रलय तक सदा ही प्रतिध्वनित होते रहेंगे। क्या शिशु, क्या भिक्षुक, राजा, क्रीत दास, और क्या वेश्या—सभी लोग समानाधिकार के साथ उनसे वार्तालाप कर सकते हैं। उनका कथन है, 'ये सभी लोग एक ही परिवार के अन्तर्गत हैं। मैं उन सभी मे अपना 'मैंपन' देखता हूँ और अपने में भी मैं उनके स्वरूप का अनुभव करता हूँ। यह पृथ्वी एक परिवार जैसी है, युगयुगान्तरों में व्याप्त होकर सत्य-स्वरूप अनन्त ब्रह्मसमुद्र ही विराजमान है।' "

मई मास के अन्त मे स्वामीजी को लन्दन से लिगेट दम्पति का पत्र प्राप्त हुआ कि वे जुलाई मास मे पैरिस जायेंगे और उन्होंने प्रार्थना की कि स्वामीजी भी वहाँ पहुँच जायँ। इधर पैरिस-प्रदर्शनी की धर्मेतिहास-सभा के वैदेशिक प्रतिनिधियो के

लिए स्वागत-समिति की ओर से स्वामीजी को इस सभा में भाषण देने के लिए निमन्त्रण प्राप्त हुआ। इन दो कारणो से वे कैलिफोर्निया के शिष्य व भक्तों से विदा लेकर न्यूयार्क पहुँचे। रास्ते में अवश्य ही अपने पुराने मित्र व शिष्यों से भेंट करने के लिए उन्हें शिकागो व डिट्राइट मे उतरना पड़ा था।

न्यूयार्क मे आकर वे 'वेदान्त समिति' के स्थायी भवन में निवास करने लगे। भाषण देना अथवा लोक-शिक्षा इत्यादि कार्यों में उनका जरा भी आग्रह न देखा गया। हाँ, कभी कभी अपने पुराने मित्र, शिष्य व भक्तगणों के साथ भेंट करने की उनकी इच्छा होती थी। वेदान्त समिति का कार्य भलीभाँति चल रहा था। वेदान्त समिति के सर्वप्रथम सभापति श्री० लिगेट महोदय ने कुछ अन्य कार्यों के कारण पदत्याग कर दिया था, और उनके स्थान पर कोलम्बिया कालेज के डा० हर्शल पार्कर महोदय सर्वसम्मति से नियुक्त हुए थे। स्वामी तुरीयानन्दजी अप्रैल मास से इस समिति मे नियमित रूप से भाषण व योगशिक्षा देते थे। स्वामीजी भी प्रति रविवार को गीता पर भाषण देने लगे। स्वामी तुरीयानन्दजी को शीघ्र कैलिफोर्निया जाने के लिए उन्होंने अनुरोध किया।

इसी बीच में भगिनी निवेदिता न्यूयार्क आ पहुँची। वेदान्त समिति के सदस्यों के आग्रह से उन्होंने शनिवार व रविवार को तीसरे प्रहर भारतवर्ष के सम्बन्ध में नियमित रूप से कुछ भाषण दिये। १७ जून को उन्होने 'हिन्दू स्त्री का जीवनादर्श' विषय पर एक विविध तथ्यपूर्ण भाषण दिया। उस दिन समिति का हॉल न्यूयार्क की उच्चवशीय तथा शिक्षित स्त्रियों से भर गया था। सभी स्त्रियाँ बडी उत्सुकता के साथ भारतीय स्त्रियों की दैनिक

जीवनप्रणाली को सुनकर आनन्दित हुई थीं। भाषण के बाद सभी की जिज्ञासा इतनी बढ़ गयी थी कि उन्होंने बहुत देर तक उस विषय पर निवेदिता से अनेक प्रकार के प्रश्न किये। दूसरे रविवार को भगिनी ने 'प्राचीन भारत की शिल्पकला' विषय पर एक सारगर्भित भाषण दिया।

३ जुलाई को स्वामीजी न्यूयार्क से डिट्राइट पहुँचे। उस दिन स्वामी तुरीयानन्दजी भी गुरुभाई की इच्छा व सम्मति से कैलिफोर्निआ चले गये। स्वामीजी गुरुभाई को आश्रम-स्थापना सम्बन्धी उपदेश आदि देकर विदा देते हुए गम्भीर स्वर से बोले, "जाओ वीर, कैलिफोर्निआ में आश्रम की स्थापना करो, वेदान्त का झण्डा फहराओ। आज से भारत की चिन्ता स्मृति से मिटा दो। आदर्श जीवन व्यतीत करो, जगज्जननी की कृपा से सारे काम सफल होंगे।"

अन्तरंग भक्त व मित्रों में लगभग एक सप्ताह बिताकर स्वामीजी १० जुलाई को न्यूयार्क लौट आये। अन्त में कुछ दिन विश्राम करके २० जुलाई को उन्होंने पैरिस की यात्रा की।

पैरिस पहुँचकर स्वामीजी ने लिगेट दम्पति का आतिथ्य स्वीकार किया। इस समय श्रीमती ओली बुल ब्रिटानी प्रान्त के लानिओन नामक स्थान में निवास कर रही थीं। उनके आग्रह-पूर्ण आमन्त्रण पर स्वामीजी थोड़े दिनों के लिए वहाँ पधारे। श्रीमती बुल के निवासस्थान पर फ्रान्स के प्रसिद्ध दार्शनिक व लेखक मॉ० जूल बोआ के साथ स्वामीजी का परिचय हुआ। इनके साथ सदा ही दर्शन, साहित्य व ऐतिहासिक गवेषणा के सम्बन्ध में चर्चा होती थी, जिससे स्वामीजी को फ्रान्सीसी भाषा सीखने का अवसर प्राप्त हुआ था।

लिगेट दम्पति अपने श्रद्धेय अतिथि की सब प्रकार की सुख-सुविधाओं के प्रति लक्ष्य रखते हुए मुक्त हस्त हो अर्थ व्यय करने लगे। प्रतिदिन विख्यात दार्शनिक, साहित्यिक, चित्रकार, भास्कर (संग तराश), धर्माचार्य व वैज्ञानिकगण उनके भवन में आमन्त्रित होते थे। पैरिस की विराट प्रदर्शनी व धर्मेतिहास सभा के उपलक्ष्य में अनेक पण्डितगण संसार की इस सर्वश्रेष्ठ नगरी में एकत्रित हुए थे।

स्वामीजी ने लिखा है, "कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक, समाजसेवक, गायक, गायिका, शिक्षक, शिक्षिका, चित्रकार, शिल्पकार, संग तराश, वादक आदि नाना प्रकार के व्यक्तियों का समावेश श्री लिगेट के अतिथि-सत्कार के आकर्षण से उनके घर में होता था। उनके घर में होने वाला अविराम वार्तालाप, चारों ओर के नाना प्रकार के भावों का विकास, मनमोहक संगीत, विद्वानों की गम्भीर विचारधारा सभी को देश-काल भुलाकर मुग्ध बना देती थी।" *

उदारहृदय, परमतसहिष्णु, मित्रवत्सल विवेकानन्द सभी के साथ समभाव से मिलते थे और पारस्परिक भाव व चिन्ता-राशि के लेनदेन के साथ ही जगत् के पास जिस सन्देश को पहुँचाने के लिए श्री गुरुदेव ने उन्हें नियुक्त किया था उसका प्रचार निःसकोच करते थे। जगत् के विभिन्न स्थानों से आये हुए प्राच्य विद्याविशारद, दार्शनिक, कवि तथा साहित्यिकों को वेदान्त के प्रभाव से थोड़ा बहुत प्रभावित देख स्वामीजी बड़े आनन्दित हुए। पिछले कुछ वर्षों से अत्यन्त साहसपूर्ण उद्यम के साथ वेदान्तप्रचार

---

* श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित स्वामी विवेकानन्द कृत 'परिव्राजक' पुस्तक से उद्धृत।

के कार्य में उन्होंने जो आश्चर्यजनक परिश्रम किया है, उसने इस बीच में ही धीरे धीरे प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मस्तिष्क को अभिभूत कर लिया है और अभी भी उसकी क्रिया जारी है। विवेकानन्द ने देखा, दो-एक व्यक्ति यद्यपि अपनी मौलिकता को कायम रखने के लिए वेदान्त के प्रभाव को अस्वीकृत करते हैं, परन्तु अधिकांश पण्डितगण इस बात को स्वीकार करते हैं कि पाश्चात्य जगत् का आधुनिक साहित्य व दर्शन धीरे धीरे वेदान्त के भाव में अनुप्राणित हो रहा है।

शिकागो-महासभा के अनुकरण पर पैरिस प्रदर्शनी के उपलक्ष्य में एक धर्ममहासभा का अधिवेशन होने की चर्चा चली थी, परन्तु रोमन कैथलिक ईसाई सम्प्रदाय की प्रबल आपत्ति से वह न हो सका। शिकागो-महासभा में कैथलिक सम्प्रदाय बडे ही उत्साह के साथ सम्मिलित हुआ था। उनका विश्वास व धारणा यह थी कि ईसाई धर्म जगत् के सम्मुख अपने मत की श्रेष्ठता प्रमाणित कर सकेगा। इस उद्देश्य से कैथलिक धर्म की महिमा को उच्च स्वर से संसार में घोषित करने के लिए वे सर्वधर्म-सम्मेलन में सन्नद्ध हुए थे। परन्तु ईश्वरेच्छा से परिणाम विपरीत हुआ। इसलिए अब सार्वजनीन धर्ममहासभा के अनुष्ठान के सम्बन्ध में वे उत्साहहीन तथा प्रतिवादी बन गये। कट्टर ईसाई मण्डली में विवेकानन्द व वेदान्त का भय इतना प्रबल हो उठा था कि धर्मसभा का प्रस्ताव उठने के साथ ही सब मिलकर सम स्वर से उसका प्रतिवाद करने लगे। फ्रान्स के अधिकांश निवासी कैथलिक सम्प्रदाय के हैं तथा जनसाधारण पर पादरियो का प्रभुत्व साधारण नही है। उनकी उपेक्षा कर धर्मसभा का आयोजन करने का साहस प्रदर्शनी के अधिकारीगण न कर सके।

अन्त में धर्मेतिहास-सभा बुलाने का ही निश्चय हुआ। "इस सभा मे अध्यात्मविषयक तथा मतामत सम्बन्धी किसी चर्चा का स्थान न था। केवल विभिन्न धर्मों का इतिहास अर्थात् उनके विभिन्न अंगों के तथ्यों का अनुसन्धान ही उसका उद्देश्य था। इस विषय पर इस सभा में विभिन्न धर्मप्रचारक सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों का नितान्त अभाव था। इस सभा में कुछ ऐसे पण्डित उपस्थित थे जो विभिन्न धर्म की उत्पत्ति के विषय में चर्चा करते हैं।" *

स्वामीजी इस सभा में यथोचित सम्मान के साथ ले लिये गये। इस उपलक्ष्य में उन्होंने जो भाषण आदि दिया तथा समालोचना आदि की उसका एक संक्षिप्त विवरण उन्होंने स्वयं लिखकर 'उद्बोधन' मे प्रकाशनार्थ भेज दिया था। पाठकों की जानकारी के लिए हम उसे उद्धृत करते हैं:—

"वैदिक धर्म—अग्नि, सूर्य आदि प्राकृतिक विस्मयकर जड़ वस्तुओं की आराधना से उत्पन्न हुआ है—यह अनेक पाश्चात्य संस्कृतज्ञों की राय है।

"स्वामी विवेकानन्द इस मत का खण्डन करने के लिए पैरिस धर्मेतिहास-सभा के अधिकारियों द्वारा आमन्त्रित हुए थे। और इस विषय पर एक निबन्ध पढ़ने का वचन उन्होंने दिया था। परन्तु शारीरिक प्रबल अस्वस्थता के कारण वे निबन्ध लिख न सके। वे किसी प्रकार से सभा में केवल उपस्थित हो सके थे। उनके उपस्थित होने पर यूरोप के सभी संस्कृतज्ञ पण्डितों ने उनकी सादर अभ्यर्थना की। उन्होंने इससे पूर्व स्वामीजी द्वारा

* स्वामी विवेकानन्द कृत 'भाववार कथा' (चिन्तनीय बाते) पुस्तक से उद्धृत।

रचित पुस्तकादि का पठन किया था।

"इस सभा में ओपर्ट नामक एक जर्मन विद्वान ने शालिग्राम शिला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक निबन्ध पढ़ा जिसमें उन्होंने बतलाया कि शालिग्राम की उत्पति योनिचिह्न से है। उनके मतानुसार शिवलिंग पुल्लिग का चिह्न है और इसी तरह शालिग्राम शिला स्त्रीलिंग का चिह्न है। शिवलिंग व शालिग्राम दोनों ही लिंग-योनि-पूजा के अंग हैं।

"स्वामी विवेकानन्द ने उपरोक्त दोनो मत का खण्डन करके कहा कि शिवलिंग की नर-लिंगता के सम्बन्ध में अनेक विचारविहीन मत प्रचलित हैं। परन्तु शालिग्राम के सम्बन्ध में यह नवीन मत मैं आज ही सुन रहा हूँ। स्वामीजी ने कहा कि शिवलिंग की पूजा की उत्पत्ति अथर्ववेद संहिता के यूपस्तम्भ के प्रसिद्ध स्तोत्र से है। उस स्तोत्र में अनादि अनन्त स्तम्भ अथवा स्कम्भ का वर्णन है और यही प्रतिपादित हुआ है कि यह स्कम्भ ही ब्रह्म है। जिस प्रकार यज्ञ की अग्नि, शिखा, धूम, भस्म, सोमलता व यज्ञकाष्ठ का वाहक वृष, महादेव की पिंगल जटा, नीलकण्ठ, अंगकान्ति व वाहन आदि में परिणत हुए हैं उसी प्रकार यूपस्कम्भ भी श्रीशंकर में लीन होकर महिमान्वित बना है। अथर्ववेद संहिता में इसी प्रकार से यज्ञोच्छिष्ट की भी ब्रह्मत्वमहिमा प्रतिपादित हुई है।

"लिंगादि पुराण में इस स्तव के ही वार्तालाप के सिलसिले में महास्तम्भ की महिमा तथा महादेव की प्रधानता की व्याख्या की गयी है।"

* * * *

"बौद्धस्तूप का दूसरा नाम है धातुगर्भ। स्तूप के बीचवाले शिलाकरण्ड में प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुओं की भस्मादि रखी जाती

थी। उसके साथ सोना आदि धातु भी गाड़ दिये जाते थे। शालिग्राम शिला यह अस्थि, भस्म आदि रखने की शिला का प्राकृतिक प्रतिरूप है। अतः वह पहले बौद्धों द्वारा पूजित होकर बौद्ध धर्म के दूसरे अंगो की तरह वैष्णव सम्प्रदाय मे प्रविष्ट हो गयी है। तथापि नर्मदा के तट पर तथा नेपाल में बौद्धों की प्रबलता दीर्घस्थायी हुई थी। यह भी विचारणीय है कि प्राकृतिक नर्मदेश्वर शिवलिग तथा नेपाल के शालिग्राम का ही विशेष आदर होता है।

"शालिग्राम के सम्बन्ध में यौन व्याख्या पहले कभी नही सुनी गयी थी और प्रारम्भ से ही अप्रासंगिक है। शिवलिग के सम्बन्ध में यौन व्याख्या भारतवर्ष में बहुत ही अर्वाचीन काल से प्रचलित है और बौद्ध सम्प्रदाय की घोर अवनति के समय की गयी है। उस समय के घोर बौद्ध तन्त्र अभी भी नेपाल व तिब्बत में विशेष प्रचलित हैं।" *

दूसरे भाषण मे स्वामीजी ने भारतीय धर्ममत के विस्तार के विषय में हिन्दू व बौद्ध धर्म के प्राचीन ऐतिहासिक तत्वों की चर्चा की। विशेष रूप से भारतीय सभ्यता, साहित्य, दर्शन, ज्योतिष आदि पर ग्रीक प्रभाव के विषय में जो कुछ कहा जाता है, इसका उन्होने प्रतिवाद किया। कुछ विद्वानों ने कहा कि भारतीय सभ्यता पर ग्रीस देशनिवासियों का विशेष प्रभाव है। उनके प्रति लक्ष्य करके स्वामीजी नें उपसंहार मे कहा कि वे धीर भाव से प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन करे तो समझ जायँगे कि उसमे ग्रीक प्रभाव की छाया का अंश तक नहीं है, बल्कि अनेकांश में यह बात सत्य है कि ग्रीसनिवासियों ने ही

* 'भावबार कथा' (चिन्तनीय बाते) पुस्तक से उद्धृत।

हिन्दुओं से अनेक विषयों की शिक्षा प्राप्त की थी।

हमने इसके पहले बताया है कि पैरिस-प्रदर्शनी के उपलक्ष्य में आये हुए अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों के साथ स्वामीजी का परिचय हुआ था। इनमें से जो सज्जन स्वामीजी के विशेष मित्रों में गिने जाते थे उनमें मॉ. जुल बोआ, एडिनबरा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पैट्रिक गेडिस, विख्यात कैथलिक पादरी पेअर-या-स्यँन्थ, विख्यात तोपनिर्माता मि. हिरम मैक्सिम, यूरोप की सर्वश्रेष्ठ गायिका मैडम कैलवे, सुप्रसिद्ध तथा सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री सारा बर्नहर्ड, प्रिन्सेस डेमिडफ तथा उनके स्वदेशवासी वैज्ञानिक डा. सर जगदीशचन्द्र बोस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा. बोस के सम्बन्ध में स्वामीजी ने अपनी 'परिव्राजक' नामक पुस्तक में गर्व के साथ लिखा है, "आज २३ अक्टूबर है और कल सायंकाल पैरिस से विदा। इस वर्ष यह पैरिस सभ्य जगत् का एक केन्द्र है—इस वर्ष महा प्रदर्शनी हुई। अनेक देशों से आये हुए सज्जनों का संगम हुआ। आज इस पैरिस में देशदेशान्तरों के मनीषियों ने अपनी अपनी प्रतिभा प्रकट कर स्वदेश की महिमा का विस्तार किया है। महा केन्द्र की भेरीध्वनि आज जिनके नाम का उच्चारण करेगी, वह नादतरंग साथ ही साथ उनके स्वदेश को भी गौरवान्वित करेगी। और मेरी जन्मभूमि—इस जर्मन, फ्रान्सीसी, अंग्रेज, इटैलिअन आदि विद्वद्मण्डली द्वारा शोभित महा राजधानी में तुम कहाँ हो बंगभूमि? कौन तुम्हारा नाम लेता है? कौन तुम्हारे अस्तित्व की घोषणा करता है? इन अनेक गौरवपूर्ण विद्वद्मण्डली के बीच जिस एक मात्र युवा यशस्वी वीर ने बंगभूमि की—हमारी मातृभूमि की घोषणा की है—वह वीर है विश्व-

विख्यात वैज्ञानिक डा. जगदीशचन्द्र बोस। अकेले इस युवक बंगाली वैद्युतिक ने आज बिजली के वेग से पाश्चात्य मण्डली को अपनी प्रतिभा की महिमा से मुग्ध कर दिया है—बिजली के इस संचालन से मातृभूमि के मृतप्राय शरीर मे नवजीवन-तरग का संचार हुआ है। सभी वैद्युतिक मण्डली के आज शिरोमणि हैं जगदीश बोस—भारतवासी! बगवासी! धन्य वीर! श्रीमान बोस तथा उनकी सती साध्वी सर्वगुणसम्पन्ना धर्मपत्नी जिस देश में जाते है, वही भारत के मुख को उज्ज्वल करते है, बगाल के गौरव को बढ़ाते है। धन्य है यह दम्पति।"

लगभग तीन मास पैरिस मे बिताकर स्वामीजी २४ अक्टूबर की रात को अपने साथियो के साथ विएना की ओर रवाना हुए। विएना नगरी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थानों को देखकर हंगेरी, सर्विया, रुमानिया, बल्गेरिया होकर उन्होंने कन्स्टैन्टिनोपल में प्रवेश किया। कन्स्टैन्टिनोपल नगर को बहुत कुछ प्राच्य भावापन्न देख स्वामीजी प्रसन्न हुए और दूसरे ही दिन अपनी शिष्या कु. मैक्लिऔड के साथ नगर देखने गये। तोपनिर्माता मैक्सिम साहब के दिये हुए परिचय-पत्र की सहायता से स्वामीजी का स्थानीय अनेक विख्यात व्यक्तियो से परिचय हुआ। स्वामीजी के साथी अन्यतम प्रसिद्ध वक्ता पादरी लयसन को वहाँ भाषण देने का अधिकार प्राप्त नही हुआ। स्वामीजी को भी कन्स्टैन्टिनोपल में प्रकट रूप से भाषण देने का अधिकार नही मिला। कुछ स्वल्पसंख्यक उच्चशिक्षित मान्य व्यक्तियों ने अपने बैठकघर मे स्वामीजी के लिए प्रश्नोत्तर-सभा का आयोजन किया और विशष आग्रह से उन्होंने वेदान्त-चर्चा मे भाग लिया। इस प्रकार कुछ दिन आनन्दपूर्वक बिताकर स्वामीजी प्राचीन ग्रीक

सभ्यता की समाधिभूमि एथेन्स में पधारे। एथेन्स नगरी का परिदर्शन कर उन्होंने अपने पुरुष तथा स्त्री साथियों के साथ मिश्र देश की ओर यात्रा की। कैरो शहर में पहुँचकर स्वामीजी म्युजियम में रखी हुई प्राचीन सामग्रियों को उत्सुकता से देखने लगे और अपने साथियों को मिश्र के अतीत इतिहास से अद्भुत-कर्मा फेरो राजवंश का विवरण सुनाने लगे। पिरामिड, स्फिन्क्स आदि को देखकर उनके सम्बन्ध में विशेष वातें स्वामीजी अपने साथियों को वताने लगे। साथियों को यह देखकर वड़ा विस्मय हुआ कि स्वामीजी प्राचीन मिश्र के सम्बन्ध में इतनी अधिक वातें जानते हैं कि मानो वे समग्र जीवन भर मिश्र के प्राचीन तत्त्वों की ही चर्चा करते रहे हों।

पैरिस, विएना, कन्स्टैन्टिनोपल, एथेन्स, कैरो आदि नगरों के ऐश्वर्य, सौन्दर्य, विलास आदि को देखकर मानो स्वामीजी मन ही मन विरक्त हो उठे थे। पार्थिव सम्पद् से गर्वित पाश्चात्य राष्ट्रों का उद्धत अहंकार उनके चित्त को सदैव ही पीड़ित करता रहता था। इन्द्रियसुख को ही अपना एक मात्र लक्ष्य माननेवाले वहिर्मुख राष्ट्रों की नयी नयी भोग्य वस्तुओं के आविष्कार के लिए सदा आप्राण चेष्टा तथा उसे प्राप्त करने की कामना से पग पग पर न्याय, नीति व धर्म को लापरवाही से पैरों तले कुचलना—यही यूरोप की नित्य नैमित्तिक घटना है। निर्लिप्त संन्यासी, द्रष्टा अथवा साक्षी की तरह सर्वत्र विचरण करते थे। मिश्र में पहुँचने के वाद ही भारत में लौटने के लिए उनका मन अत्यन्त आकुल हो उठा। इस वीज में समाचार आया, मायावती मठ के संस्थापक श्री. सेविअर परलोक सिधार गये हैं। इस मर्मान्तिक समाचार को पाते ही स्वामीजी ने भारत में लौट

आने का निश्चय कर लिया।

माँ. बोआ, मैडम कैलवे, कु. मैक्लिऔड दुःखित अन्तःकरण से स्वामीजी को विदा देने के लिए बाध्य हुए। जहाज पर से भारत की तटभूमि देखते ही स्वामीजी के आनन्द की सीमा न रही। बम्बई बन्दरगाह में उतरकर वे कलकत्ते की ओर चले। इस बार अभिनन्दन, भाषण, लोकशिक्षा, प्रचारकार्य इत्यादि की ओर उनकी तनिक भी इच्छा न थी और इसीलिए अत्यन्त गुप्त रूप से गाड़ी पर चढ़े।

स्वामीजी के पूर्वयूरोप-भ्रमण की अन्यतम संगिनी, यूरोप की विश्वविख्यात गायिका मैडम कैलवे का थोड़े दिन हुए देहान्त हो गया है। उनका आत्मजीवनचरित्र न्यूयार्क की 'सैटर्डे इवनिंग पोस्ट' नामक प्रसिद्ध पत्रिका मे धारावाहिक रूप से प्रकाशित होकर अन्त मे पुस्तकाकार में मुद्रित हुआ है। उसमें से हम स्वामी विवेकानन्द सम्बन्धी अंश का अनुवाद नीचे दे रहे हैं—

"यह मेरे परम आनन्द व सौभाग्य की बात है कि मैंने एक ईश्वर को जाननेवाले व्यक्ति के साथ परिचित होने का गौरव प्राप्त किया था। वे उन्नत व उदार साधु पुरुष दार्शनिक तथा एक विश्वस्त मित्र है। मेरे धर्मजीवन पर उनका प्रभाव बहुत ही गम्भीर है, उन्होंने मुझे एक नवीन भावराज्य का पता दिया है। मेरे जीवन की धर्म-सम्बन्धी धारणा व आदर्श को उन्होंने नवीन प्रेरणा द्वारा संजीवित किया है तथा सत्य की उपलब्धि करने के एक महान् उपाय का सन्धान दिया है। मेरी आत्मा सदैव के लिए उनके निकट अनन्त कृतज्ञता के बन्धन से आवद्ध है। यह असाधारण पुरुष एक वेदान्तवादी सन्यासी है। सर्वसाधारण में वे स्वामी विवेकानन्द नाम से परिचित हैं। धर्मप्रचारक के रूप

में अमेरिका देश में उनका यश सुप्रतिष्ठित है। जिस वर्ष उन्होंने शिकागो में भाषण दिया था उस समय मैं वहीं थी और कई कारणों से मानसिक अवसादग्रस्त तथा दुर्बल हो गयी थी। मैंने स्वामीजी के साथ साक्षात्कार करने का संकल्प कर लिया। मन में आकांक्षा हुई, एक बार देख आऊँ कि किस शक्ति के बल पर उन्होंने मेरे कुछ मित्रों के हृदय में शान्ति प्रदान की है।

"साक्षात्कार का समय निश्चय कर लिया गया। नियत समय पर मैं उनके निवासस्थान पर पहुँच गयी। उसी समय मुझे उनके पठनागार में ले जाया गया। जाने से पूर्व मुझसे कहा गया, 'स्वामीजी द्वारा जिज्ञासित न होने तक मैं कुछ न कहूँ।' अतः मैं कक्ष में जाकर चुपचाप खड़ी हो गयी। वे फर्श पर भारतीय प्रथा से बैठे थे, उनका उज्ज्वल गैरिक वस्त्र भूमि पर प्रसारित हो रहा था। मस्तक की गैरिक पगड़ी सामने की ओर थोड़ी झुक गयी थी। वे आँखें नीचे किये स्थिर बैठे थे। थोड़ी देर बाद मेरी ओर बिना देखे ही वे कह उठे, 'वत्से! तुम्हारा मन बहुत ही उत्कण्ठित व चंचल है। शान्त हो! सब से पहले मानसिक प्रशान्ति आवश्यक है।'

"उसके बाद शान्त गम्भीर स्वर में उदास भाव से वे (जो मेरा नाम तक न जानते थे) मेरे जीवन के ऐसे सभी गुप्त अभिप्राय तथा मेरी अशान्ति के कारणों को सहज भाव से बताने लगे जिसके बारे में मेरे अन्तरंग मित्रगण तक कुछ न जानते थे। मुझे यह एक रहस्यपूर्ण अस्वाभाविक घटना प्रतीत हुई। मैं बोल उठी, 'आपको इन बातों का कैसे पता चला? मेरे विषय में आपसे किसने कहा?'

"करुणापूर्ण हँसी के साथ उन्होंने मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि

से देखा, मानो मै एक सरल, अज्ञ शिशु की तरह प्रश्न पूछ रही थी। बाद मे धीर भाव से बोले, 'तुम्हारे विषय में किसी ने भी मुझसे कुछ नही कहा। क्या किसी से सुनना ही चाहिए, ऐसी बात तो नहीं है। मैंने तुम्हारे हृदय का पुस्तक की तरह पाठ किया है।'

"विदा लेते समय वे खड़े होते होते बोले, 'तुम पिछली बाते भूलने की चेष्टा करो। विमर्श भाव को दूर कर चित्त को सदा प्रसन्न रखो। सब प्रकार से यत्न करके स्वास्थ्य की रक्षा करो। नीरव रहकर अपने दु:ख के कारणों को अपने हृदय मे छिपाये न रखो। अपने रोके हुए भावो के आवेग को दूसरे पथ से बाहर निकाल दो। धर्मजीवन की स्वाभाविक स्वच्छन्दता के लिए यही सब से पहले आवश्यक है। तुम सगीतकला में निपुण हो, संगीत के लिए भी इसकी आवश्यकता है।

"मै उनके वाक्य तथा प्रखर व्यक्तित्व के असाधारण प्रभाव मे अभिभूत होकर लौट आयी। मैंने अनुभव किया, जो जटिल समस्याएँ अस्वाभाविक उत्तेजना द्वारा मेरे मस्तिष्क को क्लान्त व पीड़ित कर रही थी वे अदृश्य हो गयी है और उनके स्थान पर स्वामीजी के सरल, शान्त भावों का प्रभाव विद्यमान था।

"मै फिर से नवीन भाव मे संजीवित व हर्षोत्फुल्ल हो उठी। यह उन्ही की असीम इच्छाशक्ति का परिणाम था। उन्होने तथाकथित संमोहिनी विद्या अथवा तदनुरूप किसी प्रक्रिया का मुझ पर प्रयोग नही किया था। यह उनका सुदृढ चरित्रबल तथा पवित्र व अदम्य सत्सकल्प था, जिसने मेरे हृदय मे विश्वास व श्रद्धा का सचार किया था। बाद में उनके साथ घनिष्ठ परिचय होने पर मैंने देखा, वे सहज ही मे उत्तेजित तथा चिन्ताकुल

भाव को दूर कर श्रोता को शान्त कर देते थे, जिससे कि उनकी बातों को वह एकाग्र चित्त होकर सुन सके तथा उन्हें धारण कर सके।

"स्वामीजी हमारे प्रश्नों के उत्तर मे छोटी छोटी कहानियों, कविताओं आदि की सहायता से अपने वक्तव्य विषय को हृदय-ग्राही, मर्मस्पर्शी तथा साथ ही सरल बना देते थे। हम एक दिन मुक्ति व व्यक्तिस्वातन्त्र्य की चर्चा कर रहे थे। वे अपने धर्ममत के पुनर्जन्मवाद नामक एक विशेष मत की व्याख्या करके उसे समझा रहे थे, इतने मे ही मै सहसा बोल उठी, 'नही, यह मैं नही सोच सकती। मेरा 'मै पन' मुझे चाहिए। एक अनन्त के बीच मे चिर विलयप्राप्ति की प्रार्थना मै नहीं करती। उसका विचार तक मुझे डरा देता है।'

"स्वामीजी ने उत्तर दिया, एक दिन जल का एक बूंद समुद्र में पड़कर तुम्हारी ही तरह रोने लगा और ठीक तुम्हारी ही तरह अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए सोचकर व्याकुल होने लगा। महासमुद्र उसकी ओर देखता हुआ बोला, 'तुम रोते क्यों हो? मुझे तो इसका कारणं ढूंढने पर भी नहीं मिल रहा है। मेरे साथ सम्मिलित होकर तुम अपने भाई-वहिनों के साथ मिल गये हो—मै तो इन्ही की समष्टि हूँ। अब तो तुम स्वयं ही समुद्र हो। यदि तुम मुझसे स्वतन्त्र होना चाहते हो तो तुम्हें सूर्य किरणों की सहायता से ऊपर उठकर बादल का सहारा लेना पड़ेगा। वहाँ से तुम कल्याणप्रद आशीर्वाद के रूप मे पृथ्वी की प्यासी छाती पर उतर आ सकते हो।'

"स्वामीजी के कुछ शिष्य व मित्रों के साथ उन्हें लेकर हम टर्की, ग्रीस व मिश्र देश में भ्रमण करने गये थे। हमारे साथ

फादर ह्यसिन्थ लयसन्, उनकी धर्मपत्नी तथा स्वामीजी की अनुरागिनी व शिष्या शिकागो की कु० मैक्लिऔड थी। यह बहुत ही मधुर स्वभाववाली तथा अदम्य उत्साही थी और मै थी इस दल की गायिका पक्षिणी ! क्या ही सुन्दर थी यह तीर्थयात्रा ! विज्ञान, दर्शन, इतिहास—मानो स्वामीजी को कुछ भी अज्ञात नही है। मै सदा तल्लीन होकर उनकी ज्ञानपूर्ण वचनावली सुना करती थी। परन्तु उनके तर्क में सम्मिलित न होती थी। केवल गाना गाते समय मे सदा उपस्थित रहती थी। स्वामीजी धार्मिक तथा विद्वान फादर लयसन् के साथ अनेक विषयों की चर्चा करते थे। ईसाई धर्म के इतिहास पर तर्क करते समय स्वामीजी ने एक प्राचीन उद्धरण को ज्यों का त्यों कण्ठस्थ कह सुनाया और एक ऐसे चर्च कौन्सिल की तिथि बता दी, जिसके सम्बन्ध मे फादर लयसन् भी निश्चित रूप से बोल न सके थे।

"हमने ग्रीस मे युलिसिस देखा। स्वामीजी ने इसके रहस्य की व्याख्या की, हमे वेदी व मन्दिरो को दिखाया, किस स्थान पर क्या होता था समझा दिया, पुरोहितो की उपासना तथा पूजा की विशेष प्रणाली की व्याख्या की तथा प्राचीन मन्त्र व कहानियों को कह सुनाया।

"दूसरे एक दिन मिश्र देश में—एक चिरस्मरणीय रात में वे हमे सुदूर अतीत मे ले गये, स्फिन्क्स की छाया मे बैठकर रहस्यपूर्ण भाषा मे कितने ही इतिहास बताने लगे।

"स्वामीजी सदा ही हमारी जिज्ञासा को जाग्रत रखते थे। यहाँ तक कि, जब वे सहज भाव से वार्तालाप करते थे उस समय भी वे अच्छे लगते थे। उनके कण्ठस्वर मे मोहिनी-शक्ति थी जो श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध बना देती थी। स्टेशन के विश्रामगृह में

स्वामीजी को घेरकर बैठे हुए अपूर्व उपदेशों का श्रवण करते करते कितनी ही बार हमारी गाड़ी छूट गयी। इसका लेखाजोखा नही है—यहाँ तक कि, दल में सब से धीर स्थिर कु० मैक्लिऑड तक आत्मविभोर हो जाती थीं। प्राय: वे ही नियत समय पर हमें सतर्क कर देती थी और हमे वही आशा भी रहती थी परन्तु वे भी कभी कभी भूल जाती थी और फल यह होता था कि हमें उस अपरिचित स्थान में पड़े रहकर नाना प्रकार की असुविधाएँ भोगनी पड़ती थी।

"एक दिन हम कैरो मे रास्ता भूल गये। सम्भव है उस दिन विशेष रूप से आत्मविभोर होकर हम वार्तालाप कर रहे थे। एक मैली दुर्गन्धपूर्ण गली मे प्रवेश कर देखा, कुछ अर्धनग्न औरते खिड़की में से झाँक रही हैं और कोई कोई दरवाजे पर खड़ी है। स्वामीजी ने पहले कुछ भी ध्यान नही दिया। एक टूटे महल के सामने बेंच पर बैठी कुछ औरतो ने उच्च हास्य के साथ उन्हे बुलाया और उसी समय उन पर स्वामीजी की दृष्टि पड़ी। हमारे दल की एक महिला शीघ्रातिशीघ्र उस स्थान को छोड़ जाने के लिए उद्यत हुई। स्वामीजी सहसा आगे बढ़कर उन स्त्रियो के सामने चले गये।

"स्वामीजी बोले, 'हा: ! अभागिनी सन्तानो ! ये बेचारी अपने रूप की उपासना में ईश्वर को भूल गयी है। अहा! इनकी ओर जरा देखो तो सही !' पतित नारी के सम्मुख खड़े ईसा मसीह की ही तरह, स्वामीजी की आँखो से आँसू झरने लगे। वे स्त्रियाँ निर्वाक् तथा लज्जित होकर एक दूसरे की ओर ताकने लगी। एक नारी अग्रसर होकर उनके वस्त्राग्र भाग को चूमती हुई गद्गद् कण्ठ से स्पेनिश भाषा मे बोलने लगी, 'Hombre de

Dios—Hombre de Dios (ईश्वर को जाननेवाला व्यक्ति)।' एक दूसरी नारी ने विस्मय तथा संभ्रम के साथ अपने दोनों हाथों से मुँह को छिपा लिया मानो उसकी संकुचित आत्मा स्वामीजी की पवित्र दृष्टि को सह न सकती थी।

"इस अपूर्व भ्रमण मे ही स्वामीजी के साथ मेरा अन्तिम साक्षात्कार हुआ। थोड़े ही दिन के बाद उन्होंने स्वदेश में लौटने की इच्छा प्रकट की। अपने महाप्रस्थान का समय निकट जान उन्होंने अपने स्वदेशी शिष्य व गुरुभाइयों से मिलना चाहा।

"एक वर्ष बाद हमने सुना, वे एक अपूर्व जीवन लीला की रचना कर उसके पन्ने पन्ने की प्रत्येक पंक्ति मे अमर कहानी लिखकर इस लोक से विदा हो गये है। उन्होंने हिन्दू योग-शास्त्रोक्त समाधि द्वारा देहत्याग किया है तथा देहत्याग के पूर्व ही निर्दिष्ट दिन बता दिया था।

"कुछ वर्ष के बाद जब मै भारतवर्ष गयी तो मेरी इच्छा हुई कि जिस मठ में स्वामीजी ने अपने अन्तिम कुछ दिनों को व्यतीत किया है उसे एक बार देख आऊँ। मै स्वामीजी की माताजी के साथ वहाँ पर गयी थी। स्वामीजी की अमेरिकन मित्र (जो स्वामीजी से सन्तान जैसा स्नेह करती थीं और जिन्हें स्वामीजी 'माँ' कहकर पुकारते थे) श्रीमती लिगेट ने उनकी चिताशय्या पर जिस संगमर्मर की समाधि का निर्माण करवा दिया था उसका मैने दर्शन किया। मैने देखा कि समाधि पर स्वामीजी का कोई नाम खुदवाया नही गया है। स्वामीजी के एक संन्यासी भाई से मैने इसका कारण पूछा। उन्होंने विस्मित होकर मेरी ओर देखते हुए सम्भ्रम को जाग्रत करनेवाले मनोरम संकेत से कहा (वह आज तक मेरी स्मृति में जाग्रत है)—'वे इहलोक छोड़ गये है।'

(सम्भव है कि संन्यासी के कहने का मतलब यही था कि स्वामीजी इस समय नामरूप से परे हो गये है।)

"वेदान्त में ही हिन्दू धर्म का समस्त सार मौलिक आकार में विद्यमान है। वैदान्तिकों का कोई विशेष मन्दिर नहीं है, वे साधारण गृह में भी उपासना कर सकते हैं। वहाँ पर धर्मभाव को जगानेवाले किसी चित्र या दूसरी चीज की आवश्यकता नही है। वे केवल उस अव्यक्त अनिर्वचनीय परब्रह्म की उपासना किया करते हैं।

"स्वामीजी ने मुझे प्राणायाम करना सिखाया था। उन्होंने कहा था कि ईश्वरीय शक्ति समग्र विश्व में ओतप्रोत रूप से विद्यमान है। उसमें से तेज व वीर्य का संग्रह करना होगा।

"बेलुड़ मठ के संन्यासियों ने बिना किसी आडम्बर तथा सरल भाव से हमें अतिथिसत्कार द्वारा प्रसन्न किया था। उन्होंने वृक्षों के नीचे मेज पर वस्त्र बिछाकर हमें खाने के लिए फलमूल दिये थे तथा पुष्पगुच्छों का उपहार दिया। हमारे सामने निर्मलसलिल भागीरथी बह रही थी, संन्यासीगण मेरे अपरिचित यन्त्र के साथ अभिनव स्वर में संगीत गा रहे थे। यद्यपि मैं उनकी भाषा समझ न सकी थी फिर भी उस सगीत ने मेरे हृदय को स्पर्श किया। एक युवक कवि ने करुण स्वर में स्वामीजी के परलोक-गमन के उपलक्ष्य में एक कविता पढ़ी। उस दिन का तीसरा प्रहर मैंने शान्त गम्भीर भाव से एक अपूर्व शान्ति मे बिताया था।

"उन सब शान्त धीर प्रकृतिवाले संन्यासियों के साथ मैंने जो कुछ घण्टे बिताये थे उन्हें इस दीर्घ काल के बाद भी मै भूली नही। मानो वे सभी लोग इस जगत् के नही है, वे एक उच्चतर ज्ञानराज्य में निवास कर रहे हैं।"

१९०० ई० के ९ दिसम्बर की रात को स्वामीजी अप्रत्याशित रूप से बेलुड़ मठ में उपस्थित हुए। उस समय रात हो गयी थी—मठ के संन्यासी तथा ब्रह्मचारीगण भोजन के लिए बैठे थे, उसी समय बगीचे के माली ने दौड़ते हुए आकर समाचार दिया कि एक साहब आये हैं, फाटक खोलने के लिए चाभी चाहिए। फाटक खोलकर देखा गया, गाड़ी खाली है, साहब उसमें नहीं है। इधर साहब माथे की टोपी को जरा खींचकर भोजनालय के सामने आकर खड़े थे—स्वामी प्रेमानन्दजी ने हाथ में दिया लेकर देखा, साहब और कोई नहीं—इन्ही के प्रियतम श्री विवेकानन्द हैं। स्वामीजी ने बालक की तरह उच्च हास्य करते हुए कहा, "बाहर से खाने की घण्टी सुनकर सोचा कि यदि जल्दी न जाऊँ तो रात को फिर भोजन न मिलेगा। इसीलिए दीवार फाँदकर आ गया। बहुत भूख लगी है, मुझे कुछ खाने के लिए दो।" स्वामीजी की बात सुनकर तथा उन्हें पाकर श्रीरामकृष्ण-शिष्यों में एक प्रीतिपूर्ण आनन्द का स्रोत बहने लगा। स्वामीजी आग्रह व आनन्द के साथ अनेक दिनों के बाद खिचड़ी खाते खाते अनेक प्रकार का वार्तालाप करने लगे। उस दिन रात में मठ में जिस आनन्द—जिस उत्साह से सभी के चित्त नृत्य करने लगे थे, वह अवर्णनीय है।

बेलुड़ मठ पहुँचकर ही स्वामीजी मायावती जाने की तैयारी करने लगे। मायावती मठ के अध्यक्ष श्री. सेविअर के अभाव में आश्रम का कार्य कैसा चल रहा है, यह देखना तथा श्रीमती सेविअर को सान्त्वना देना ही स्वामीजी का उद्देश्य था। तदनुसार वे २७ दिसम्बर को कलकत्ते से मायावती की ओर चले। काठ-गोदाम से मायावती के पथ पर भयंकर ओले तथा बरफ गिरने

के कारण स्वामीजी को बहुत ही कष्ट हुआ ! एक तो अस्वस्थ देह, उस पर पथ-श्रम की क्लान्ति—शिष्यगण विशेष यत्नपूर्वक स्वामीजी की सेवा करने लगे। स्वामीजी ने एक दिन वार्तालाप के प्रसग में श्रीमती सेविअर से कहा, "वास्तव में मेरा स्वास्थ्य अब टूट गया है, परन्तु मेरा मस्तिष्क अभी भी पहले जैसा सबल व कार्यक्षम है।"

एक दिन स्वामीजी ने शिष्य स्वामी स्वरूपानन्द को बुलाकर आश्रम प्रचार-कार्य तथा 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के संचालन के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के उपदेश दिये। स्वामी स्वरूपानन्द ने श्रीगुरुदेव के आशीर्वाद से इस बीच में ही आशातीत सफलता प्राप्त कर ली थी। गुरुदेव का अभिप्राय समझकर स्वरूपानन्दजी ने परहित के लिए कार्य को ही सर्वश्रेष्ठ साधना मानकर कर्म-प्रवाह मे अपने को बहा दिया था। स्वामीजी यह समझकर कि अस्वस्थ शरीर लेकर प्रचार-कार्य के निमित्त इधर उधर घूमना अब उनके लिए सम्भव न हो सकेगा, वे अपने प्रत्येक शिष्य को बड़े उत्साह से 'सेवाव्रत' तथा कर्मयोग के प्रचार के सम्बन्ध में उपदेश देने लगे। हिमालय पर स्थित उस सुनसान मठ का उद्वेगहीन जीवन स्वामीजी को बहुत ही शान्तिपूर्ण लगने लगा। एक दिन शिष्यों के साथ भ्रमण करते करते उन्होंने कहा :

"अन्य सब प्रकार के कर्मो को छोड़ मैं अपने जीवन के शेष दिनो को इसी मठ में व्यतीत करूँगा, निश्चित तथा स्थिर होकर अध्ययन करूँगा और पुस्तक आदि लिखूंगा, बालक की तरह आनन्द से सरोवर के तट पर घूमता फिरूँगा !" पर हा ! शान्ति व विश्राम के इच्छुक संन्यासी ! भगवान के विशेष कर्मी हो तुम—तुम्हारे विश्राम का स्थान तो धरती की धूलिमय गोद

तथा वेदज्ञ अध्यापकों की आवश्यकता समझकर स्वामीजी सहसा इस कालेज की स्थापना में अग्रसर नहीं हुए थे। परन्तु जीवन के अन्तिम भाग में इस विषय में उनका झुकाव विशेष बढ़ गया था। गुरुभाइयों के साथ परामर्श कर कुछ अर्थ संग्रह करके मठ में ही छोटे रूप में एक योग्य पण्डित की देखरेख में एक शिक्षालय स्थापन करने का निश्चय उन्होंने किया, यहाँ तक कि उन्होंने स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को 'उद्बोधन' प्रेस बेच डालने की राय दी। प्रेस बेचकर जो धन प्राप्त हुआ वह इस वेदविद्यालय की स्थापना के लिए जमा रखा गया। उन्होंने निश्चय किया कि स्वास्थ्य कुछ अच्छा होते ही वे इस संकल्प को लेकर जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित होंगे। परन्तु कुछ ही महीनों बाद उनका देहत्याग हो जाने से सारी व्यवस्था बिगड़ गयी। अस्तु——

अब कुछ वर्षों से बेलुड़ मठ के भूतपूर्व सहकारी अध्यक्ष श्री स्वामी प्रेमानन्द के यत्नो से एक संस्कृतज्ञ विद्वान को मठ-भवन में रखा गया है। उनसे ब्रह्मचारीगण नियमित रूप से संस्कृत भाषा व शास्त्रादि का अध्ययन करते हैं। स्वामीजी के संकल्प की तुलना में यह संस्था छोटी होने पर भी नगण्य नहीं है और हमारा विश्वास है, महापुरुष का संकल्प कभी व्यर्थ न होगा।

इसी वर्ष के अन्तिम भाग में जापान से दो विख्यात विद्वान बेलुड़ मठ मे पधारे। जापान में एक धर्मसहासभा बुलाने का संकल्प लेकर वे विशेष रूप से स्वामीजी से ही मिलने के लिए आये थे। जापान के एक बौद्ध मठ के अन्यतम नायक रे० ओड़ा ने स्वामीजी से कहा, "आप जैसे विख्यात व्यक्ति यदि इस कार्य में सहायक हों तो हमारा उद्देश्य अवश्य ही सफल होगा। जापान में इस समय धर्म का संस्कार विशेष आवश्यक हो गया है। आप

जैसे शक्तिशाली आचार्य के अतिरिक्त यह कार्य और किसके द्वारा सम्पन्न हो सकेगा।" इन महोदय के साथ ही डा० ओकाकुरा भी जापान की वर्तमान स्थिति का वर्णन कर स्वामीजी से अनुरोध करने लगे। जड़ सभ्यता की दृष्टि से तेजी के साथ उन्नति करने वाले जापान में धर्मभाव की कमी की बात सुन स्वामीजी के हृदय में जोश भर आया। शारीरिक अस्वस्थता को भूलकर वे जापान जाने के लिए तैयार हुए।

स्वामीजी के अलौकिक चरित्र तथा उदारता से मुग्ध होकर वे लोग मठ ही में निवास करने लगे। स्वामीजी प्रतिदिन भगवान बुद्धदेव तथा बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में इनके साथ चर्चा किया करते थे। पाश्चात्य पण्डितों ने बौद्ध दर्शन को हिन्दू दर्शन के नितान्त विपरीत बताकर जो मन्तव्य प्रकट किये हैं, स्वामीजी उनका खण्डन कर दिखा देते थे कि बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म की विद्रोही सन्तान होने पर भी बुद्धदेव के अधिकांश उपदेशों के साथ उपनिषदों का काफी मेल है। फलतः उपनिषद के ज्ञान-काण्ड पर ही बौद्ध दर्शन की नींव है। जापानी पण्डितगण स्वामीजी के बौद्ध धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों को सुनकर विस्मित हुए। उन्होंने देखा, इस सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली संन्यासी ने बुद्ध धर्म सम्बन्धी अधिकांश ग्रन्थों का यत्नपूर्वक अध्ययन किया है। वे समय समय पर यह नहीं समझ पाते थे कि स्वामीजी को बौद्ध श्रवण कहें या हिन्दू संन्यासी !

कुछ दिनों बाद १९०२ ई० के जनवरी मास में स्वामीजी डा० ओकाकुरा का आमन्त्रण स्वीकार कर उनके साथ बुद्ध गया जाने के लिए तैयार हुए। यह भी निश्चय हुआ कि वे वहाँ से काशीधाम में जाकर कुछ दिन विश्राम करेंगे। स्वामीजी के

परिव्राजक जीवन का यही अन्तिम भ्रमण था।

बहुत दिनों के बाद विवेकानन्द आज फिर उसी पवित्र बोधिद्रुम के नीचे पद्मासन में ध्यानमग्न हैं! तीव्र वैराग्य से प्रेरित हो बालक श्री नरेन्द्रनाथ एक दिन इसी बोधिद्रुम के नीचे सत्य-प्राप्ति की इच्छा से ध्यानमग्न हुए थे। उनकी वह साधना सिद्ध हुई थी। उन्होंने समझा था—उन्मत्त की तरह भटकने से कुछ प्राप्त न होगा। जिस महापुरुष का संग छोड़ वे इतनी दूर दौड़े हुए आये है उसी पागल पुजारी के पैरों तले फिर लौट जाना होगा। उनकी विश्वशोषी पिपासा की निवृत्ति के लिए एक मात्र वहीं पर अमृत-वारि है। वह एक दिन था—जब उन्होंने अपने जीवन के प्रथम प्रभात के धुँधले आलोक में जिस सत्य की उपलब्धि की थी, आज इस शान्त, स्तब्ध, महिममय जीवन-सन्ध्या में क्या उसकी स्मृति नहीं जाग उठी है? उनके जीवन का जो उद्देश्य था, वह तो पूर्णतया सिद्ध हो चुका है—फिर आज भी वे पूर्ण रूप से उदासीन क्यों न हो सके? पाठक, एक बार कल्पना के नेत्रों से भगवान बुद्धदेव के पवित्र साधनपीठ पर बैठे हुए इन संन्यासी के करुणाकातर मुखमण्डल की ओर देखो, समझ सकोगे, यह ध्यान, यह साधना अपनी मुक्ति की कामना से नहीं है। एक उत्पीड़ित, उपेक्षित, दुःखी, पतित जाति के प्रतिनिधि के रूप में—तीस करोड़ मानव के कातर आर्त नाद की असीम प्रतिध्वनि को वक्ष में धारण कर वे बोधिद्रुम के नीचे आज ध्यानमग्न है। इसी सिद्धासन पर कितने ही वर्ष पूर्व एक दूसरे महापुरुष निखिल विश्व के दुःखों को दूर करने की कामना से ध्यानमग्न हुए थे—भारत के अतीत इतिहास में वह एक स्मरणीय दिन था और एक दिन आयेगा जब भावी सन्तान अपने

महिमा-समुज्ज्वल अतीत इतिहास में इस दिन को भी सुवर्णाक्षरों से लिखकर रखेगी।

बुद्ध-गया मठ के महन्तमहाराज स्वामीजी की प्रसिद्धि की बात बहुत दिनों से सुनते आ रहे थे। आज उन्हें अप्रत्याशित रूप से अतिथि के रूप में प्राप्त कर महन्तजी के आनन्द की सीमा न रही। स्वामीजी को किसी प्रकार असुविधा न होने पाये इसलिए स्वयं उन्होंने सभी प्रकार की व्यवस्था कर दी। कुछ दिन ध्यान के आनन्द में बिताकर स्वामीजी ने वाराणसी की ओर यात्रा की।

स्वामीजी के उपदेशों, शिक्षा तथा उत्साह द्वारा उद्बुद्ध होकर कुछ बंगाली युवक एकत्र होकर अनाथ, रोगग्रस्त, असहाय तीर्थ-यात्रियों की सेवा के लिए अग्रसर हुए। एक छोटासा मकान किराये पर लेकर वे राजपथ तथा गंगाघाट से बूढ़े, रोगी नर-नारियों को उठाकर वहाँ पर ले जाते और यथासाध्य औषधि, पथ्य, सेवा आदि द्वारा उनके कष्ट को कम करने की चेष्टा करते थे। श्रद्धा व निष्ठा के साथ दीन-दुखियों को नारायण मानकर उनकी निःस्वार्थ सेवा में आत्मोत्सर्ग करनेवाले युवकों की यह दृढ़ता देखकर स्वामीजी को बड़ा हर्ष हुआ। यह देखकर कि उनके आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने के लिए अभी तक कोई नहीं आ रहा है, वे कभी कभी खिन्न हो जाते थे, परन्तु आज इन थोड़े से युवकों का कार्य देख उनका वह दुःख दूर हुआ। वे गर्व तथा आनन्द से अपने मानसपुत्रों की कार्यप्रणाली का पर्यवेक्षण करने लगे। उत्साह देते हुए बोले, "वत्स, तुम लोगों ने सत्य मार्ग जान लिया है। मेरा प्रेम तथा आशीर्वाद सदा तुम्हारा कल्याण करे। साहस के साथ अग्रसर होते जाओ, अपने अभावों के लिए निराश न होना—धन आयेगा। तुम्हारी इस छोटी सी संस्था की नींव

पर भविष्य में जो कुछ होगा वह तुम्हारी वर्तमान प्रियतम कल्पनाओं को भी लाँघ जायगा।"

स्वामीजी ने इस नवीन 'रामकृष्ण सेवाश्रम' की प्रथम रिपोर्ट के साथ जनसाधारण के समीप आर्थिक सहायता की प्रार्थना कर एक आवेदन-पत्र लिखा। स्वामीजी से उत्साह व आशीर्वाद प्राप्त कर युवकों का कर्मोत्साह सौगुना बढ़ गया। काशीधाम में सेवा-धर्म के सुवर्ण-सौध की नीव चिर काल के लिए स्थापित हो गयी। उसके बाद कितनी बाधाएँ, विपत्तियाँ, असुविधाएँ आयीं, पर उन सब के साथ संग्राम कर सेवाश्रम वर्तमान स्थिति तक पहुँच गया है—आत्मत्याग के उस सुदीर्घ यशस्वी इतिहास को लिखने के लिए यहाँ स्थान नही है। स्वामीजी की भविष्यवाणी आज सफल हुई है। उसके बाद देखते ही देखते भारत के अनेकानेक स्थानों में सेवाश्रमों की स्थापना हुई। त्यागी ब्रह्मचारी व संन्यासीगण रोगियों को नारायण जानकर बारी बारी से चुपचाप उनकी सेवा करते हुए स्वयं धन्य हो रहे हैं—देश को धन्य कर रहे हैं। काशी रामकृष्ण सेवाश्रम के प्रतिष्ठाताओं में अन्यतम चारुचन्द्र दास महाशय—जो आजीवन सतत उत्साह से इस संस्था की सेवा करते हुए इस समय परलोक सिधार गये है—वे विवेकानन्दगतप्राण ख्यातिविहीन स्वदेशसेवक नीरव कर्मी बंगाली थे इसलिए क्या हम आज गर्व का अनुभव नहीं करेंगे ?

नवीन स्थापित रामकृष्ण मठ के जो सब संन्यासी सेवाव्रत को मुक्ति का अन्यतम उपाय जानकर 'नारायण' की सेवा में सर्व-प्रथम अग्रसर हुए थे उन्होंने राष्ट्र के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करने की दिव्य प्रेरणा को केवल स्वामीजी के ओजपूर्ण उपदेशों से ही प्राप्त नहीं किया था। उन्हें विवेकानन्द का जीवन आदर्श

के रूप में प्राप्त नहीं हुआ था---जिनके प्रतिदिन के छोटे छोटे कार्यों में भी सेवा का यह भाव मिला हुआ रहता था। किस प्रकार दुःखी, पतित, लाचार व्यक्तियों के हृदय से अपना हृदय मिलाकर उनके दुःख, दीनता तथा व्यथा का अनुभव किया जाता है और उसके बाद कृतज्ञ चित्त से असीम निष्ठापूर्वक उसके प्रतिकार का उपाय अवलम्बन किया जाता है---इस बात को उन्होंने स्वामीजी के जीवन में अनेक बार प्रत्यक्ष किया था।

१९०१ ई० के अन्तिम भाग में स्वामीजी की बुद्ध-गया-यात्रा से कुछ दिन पूर्व बेलुड़ मठ में एक मर्मस्पर्शी घटना हुई, जिससे दीनदुखियों के प्रति उनकी अपार कृपा की स्मृतिरेखा सेवाव्रती कर्मियों के हृदय में चिर काल तक अंकित रहेगी।

"मठ की जमीन को साफ करने के लिए प्रति वर्ष कुछ संथाल स्त्री-पुरुष आते थे। स्वामीजी उनके साथ कभी कभी हँसी खेल करते थे तथा उनके सुख-दुःख की बात बड़े ध्यान से सुनते थे। एक दिन कलकत्ता से कुछ विशिष्ट भद्र पुरुष मठ में स्वामीजी के साथ साक्षात्कार करने आये। स्वामीजी उस दिन संथालों के साथ गप्पें लड़ाने में इतने मस्त थे कि स्वामी सुबोधानन्द ने आकर उन्हें जब सब व्यक्तियों के आने का समाचार दिया तो वे बोल उठे, 'मैं अब किसी से मिल न सकूँगा, इनके साथ बड़े मजे में हूँ।' और वास्तव में उस दिन स्वामीजी उन सब दीन-दुःखी संथालों को छोड़ आगन्तुक भद्र महोदयों से मिलने न गये। संथालों में से एक व्यक्ति का नाम था केष्टा। स्वामीजी का केष्टा से बहुत स्नेह था। कभी कभी जब स्वामीजी उससे बात करने जाते थे तो वह कहता था, 'अरे स्वामी बाप, तू हमारे काम के समय यहाँ न आया कर---तेरे साथ बात करने पर हमारा

काम बन्द हो जाता है और बूढा बाबा आकर हमे बकता है।' यह बात सुनकर स्वामीजी की आँखों में आँसू भर आये और वे बोले, 'नहीं नहीं, बूढा बाबा (स्वामी अद्वैतानन्द) नही बकेगा, तू अपने देश की बातें बता'---और यह कहकर वे उनके पारिवारिक सुख-दु:ख की बाते छेड देते थे।"

एक दिन स्वामीजी ने केष्टा से कहा--"अरे, तुम लोग हमारे यहाँ खाओगे?" केष्टा बोला, "हम अब तुम्हारा छुआ नही खाते, हमारी शादी हो गयी है, तुम लोगों का छुआ नमक खाने पर जात जायेगी बाप।" स्वामीजी बोले, "नमक क्यों खायेगा? बिना नमक की तरकारी पका देगे, फिर तो खायेगा न?" केष्टा इस बात पर राजी हो गया। इसके बाद स्वामीजी के निर्देश से मठ मे उन सब सन्थालों के लिए पूड़ी-तरकारी, मिठाई, दही आदि का प्रबन्ध किया गया और वे स्वयं बैठकर उन्हें खिलाने लगे। खाते खाते केष्टा बोला, "अरे स्वामी बाप, तुम्हे ऐसी चीजे कहाँ से मिली---हमने तो कभी ऐसा नही खाया।" स्वामीजी उन्हें सन्तोषपूर्वक खिलाकर बोले, "तुम लोग जो नारायण हो---आज मेरे नारायण का भोग हुआ।" स्वामीजी जो दरिद्रनारायण की सेवा करने को कहते थे उसे वे इस प्रकार स्वय करके दिखा गये है।

भोजन के बाद जब सन्थालगण आराम करने गये तो स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "इन्हें देखा, मानो साक्षात् नारायण हैं---ऐसा सरल भाव---ऐसा निष्कपट सच्चा प्रेम और कभी नही देखा था।" बाद मे मठ के संन्यासियो को लक्ष्य करके बोले---"देखो ये लोग कैसे सरल है। इनका दु:ख कुछ दूर कर सकोगे? नही तो गेरुआ वस्त्र पहनकर फिर क्या किया? दूसरो के हित

के लिए सर्वस्व का अर्पण--इसी का तो नाम है वास्तव संन्यास। इन्हें कभी कुछ अच्छा खाद्य पदार्थ प्राप्त ही नहीं हुआ। इच्छा होती है, मठ-फट सब बेचकर इन सब गरीब दुःखी दरिद्र-नारायणों में बाँट दूं। हमने तो वृक्षतल को ही सहारा बनाया है। अहो, देश के लोगों को खाना नसीब नहीं हो रहा है--हम किस प्राण से मुँह में ग्रास उठा रहे हैं? * * * देश के लोगों को दोनों समय दो दाने अन्न न पाते देख कभी कभी मन में आता है--छोड़ दूं यह शंख फूंकना और घण्टा हिलाना, छोड़ दूं लिखना पढ़ना तथा स्वयं मुक्त होने की चेष्टा भी--सब लोग मिलकर गाँव गाँव में घूमकर चरित्र व साधना के बल पर धनियों को समझाकर धन संग्रह कर लायें और दरिद्रनारायणों की सेवा करते हुए हम जीवन बिता दें।--

"अहो, देश के गरीब दुखियों के लिए कोई नही सोचता है। जो राष्ट्र की रीढ़ की हड्डियाँ हैं, जिनके परिश्रम से अन्न पैदा हो रहा है, जिन मेहतर-भंगियों का एक दिन काम बन्द होने पर शहर में हाहाकार मच जाता है, उनके साथ सहानुभूति करे, उनके सुख-दुःख मे सान्त्वना दे, देश में ऐसा कोई भी नही है रे! यह देखो न--मद्रास प्रान्त में हिन्दुओं की सहानुभूति न पाकर हजार हजार पेरिआ ईसाई बनते जा रहे हैं, ऐसा न समझना कि केवल पेट भरने के लिए ही ईसाई बनते हैं, बल्कि हमारी सहानुभूति नही पाते इसलिए ईसाई बन रहे है। हम दिन रात केवल उनसे कहते है, 'मत छुओ, मत छुओ।' देश मे क्या और दया धर्म है रे बाबा? केवल छुआछूत वालो का दल--ऐसे आचार के मुँह पर झाड़ू मार--लात मार! इच्छा होती है--तुम्हारी छुआछूत की सीमा को तोड़ अभी निकल जाऊं--'कौन कहाँ

पतित है, दुःखी, दीन, निर्धन, कौन कहाँ हो' यह कहकर उन सभी को श्रीरामकृष्णदेव के नाम पर बुला लाऊँ। इनके उठे बिना माँ न जागेगी। हम यदि इनके अन्न-वस्त्र की व्यवस्था न कर सके तो फिर किया क्या! हा! वे दुनियादारी कुछ भी नहीं जानते, इसलिए रात दिन मेहनत करके भी अन्न वस्त्र की व्यवस्था नही कर सक रहे है। आओ, सब मिलकर इनकी आँखें खोल दें——मैं दिव्यदृष्टि से देख रहा हूँ, इनमे और मुझमें एक ही ब्रह्म, एक ही शक्ति मौजूद है——केवल विकास की ही न्यूनाधिकता है। सभी अंगों में रक्त का संचार हुए बिना किसी भी देश को कभी कहीं पर उठते देखा है? निश्चित जानना कि एक भी अंग के बिगड़ जाने पर——अन्य सब अंग भले ही सबल रहें, शरीर किसी काम का नहीं रहता।"

स्वामीजी अपने कर्मजीवन में इस अथक सेवाव्रत को वास्तव रूप दे सके थे, इसीलिए तो आज उनके आवेगपूर्ण आह्वान से राष्ट्र जाग्रत हुआ है। इसीलिए तो आज 'भीरु बंगाली' अपनी सदियों की दुर्बलता को फेंककर दुर्भिक्ष, बाढ़, प्लेग, महामारी के साथ संग्राम कर रहे हैं——और आगामी युग का वह दिन भी निकट जान पड़ रहा है जब इसी महापुरुष के ईप्सित सेवाव्रत-धारी शूरवीर-गण आविर्भूत होकर स्वदेश के मुख को उज्ज्वल करेंगे। कवि की यह भविष्यवाणी अवश्य ही सार्थक होगी इसमें जरा भी सन्देह नही——

"वीर संन्यासी विवेकेर वाणी छूटे छे जगत्मय,
वांगालीर छेले, बाघे ओ बलदे घटाबे समन्वय।"

अर्थात् "वीर संन्यासी विवेकानन्द की वाणी समग्र पृथ्वी भर मे फैल रही है, बंगाल का सपूत बाघ और बैल में मेल करा देगा।"

श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव को निकट जानकर स्वामीजी काशी से वेलूड़ मठ लौट आये। काशी की जलवायु से स्वामीजी कुछ स्वस्थ हुए थे। परन्तु मठ में आकर रोग इतना वढ़ गया कि वे शय्याग्रहण करने के लिए वाध्य हो गये। श्रीरामकृष्णोत्सव के दिन आनन्द पर एक विषाद की छाया दिखने लगी। अनेक व्यक्ति स्वामीजी के दर्शन की इच्छा से आये थे, पर संकल्प सिद्ध होने का कोई उपाय न देख वे निराश हो गये। स्वामीजी ने इच्छा की थी कि जनता के सम्मुख आयेंगे, परन्तु प्रातःकाल दो-चार आगन्तुकों के साथ वार्तालाप करके उन्हें इतनी थकावट मालूम होने लगी कि और अधिक वाहर आने का साहस वे न कर सके।

मठ का विशाल प्रांगण जनपूर्ण था। कहीं कीर्तन हो रहा है तो कहीं प्रसाद वाँटा जा रहा है। इस आनन्दोत्सव में स्वामीजी को सम्मिलित होने में असमर्थ देख अनेक व्यक्ति दुःखी हुए। उस दिन श्री० शरच्चन्द्र चक्रवर्ती महाशय स्वामीजी के पास वैठे थे। स्वामीजी की धीरे धीरे वढती हुई रोगयन्त्रणा तथा शारीरिक अस्वस्थता को देख उनका मुख म्लान हो गया, उनका हृदय विदीर्ण हो गया और वे आँसू वहाने लगे। स्वामीजी ने शिष्य का मनोभाव समझकर कहा, "क्या सोच रहे हो? शरीर पैदा हुआ है, नष्ट भी होगा। यदि मैं तुम लोगों में अपने भावों को कुछ कुछ भी प्रविष्ट कराने में समर्थ हो सका, तभी जानूंगा कि मेरा शरीरधारण सार्थक हुआ है।"

थोडी देर वाद भगिनी निवेदिता ने कुछ अंग्रेज महिलाओं के साथ आकर गुरुदर्शन के वाद थोड़ी ही देर में विदा ली। स्वामीजी को कष्ट होगा, यह सोचकर वे अधिक देर तक न

ठहरीं। दिन के ढाई बजे के बाद शरदबाबू एक बार उत्सव-प्रांगण का परिदर्शन कर आये और आकर स्वामीजी से उत्सव की बातें बताने लगे। शिष्य के मुँह से पचास हजार लोगों के एकत्रित होने का समाचार सुन उन्हें देखने के लिए उन्होंने बड़े कष्ट से खिड़की के डण्डे को पकड़कर धीरे से खड़े होकर उस जनसमुदाय के प्रति दृष्टिपात किया। कहा, 'अधिक से अधिक तीस हजार।' अधिक देर तक खड़े रहना उनके लिए असम्भव था। थोड़ी देर बाद वे फिर शय्या पर लेट गये।

इस दिन उत्सव के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि इस समय जिस प्रणाली से उत्सव चल रहा है उसे बदलकर चार पाँच दिनों के उत्सव की व्यवस्था करना अच्छा होगा। प्रथम दिन शास्त्रपाठ व व्याख्या, दूसरे दिन वेदान्त का विचार व मीमांसा, तीसरे दिन प्रश्नोत्तर सभा, चौथे दिन श्रीरामकृष्णदेव की जीवनी तथा उनके द्वारा प्रदर्शित आदर्श व मार्ग के सम्बन्ध में भाषण व चर्चा और अन्तिम दिन प्रसादवितरण व दरिद्र-नारायणसेवा। उत्सव के उपलक्ष्य में ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे श्रीरामकृष्णदेव के जीवनगठन योग्य भाव सभी शिक्षित व्यक्तियों के हृदय में प्रविष्ट हों। महोत्सव का अनुष्ठान यदि उनके भावप्रचार के केन्द्र के रूप में परिवर्तित न हो तो ऐसा समझना निरर्थक है कि कुछ लोग मिलकर केवल हल्लागुल्ला करने से ही श्रीरामकृष्णदेव के भाव का प्रचार हो गया। सामयिक धर्मभाव की उत्तेजना मे कीर्तन, नृत्य आदि द्वारा विशेष कुछ न होगा।

लगातार औषधि-सेवन तथा नियम-कानून के नियन्त्रण में रहते हुए स्वामीजी विरक्त हो गये। उन्होंने सुना कि उनके गुरुभाईगण

गम्भीर दार्शनिक तत्त्व आदि की आलोचना होने की आशंका से अनेक जिज्ञासु व्यक्तियों को उनके साथ साक्षात्कार करने की अनुमति नहीं देते हैं। अनेक व्यक्ति प्रतिदिन निराश होकर खिन्न मन से मठ से लौट जाते हैं। एक दिन उन्होंने गुरुभाइयों को बुलाकर कहा, "देखो, इस देह को रखकर और क्या होगा? पर-कल्याण में इसका पतन हो जाय। श्रीरामकृष्णदेव ने असहनीय रोगयन्त्रणा को सहन करके भी जीवन के अन्तिम दिन तक परहित के लिए उपदेश दिया है। मुझे भी क्या ऐसा ही करना उचित नहीं? तृण जैसी यह मामूली देह रहे या जाय, मैं इसकी परवाह नहीं करता। सत्य के अनुसन्धानकारी व्यक्तियों के साथ सम्भाषण करने में जो मुझे आनन्द होता है इसकी तुम लोग कल्पना भी नहीं कर सकोगे। अपने स्वदेशवासी भाइयों की आत्मा की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत करने में सहायता करने के लिए बार बार जन्म ग्रहण करने से भी मैं विचलित नहीं होता।"

इससे पूर्व स्वामीजी जब कभी स्वस्थता का कुछ अनुभव करते थे उसी समय कोई न कोई काम आरम्भ कर देते थे। बिना काम किये बैठे रहना उनके लिए बिलकुल असम्भव था। मार्च मास के प्रथम भाग से जीवन के अन्तिम दिन तक, इन चार मास में शारीरिक अस्वस्थता की परवाह न करते हुए उन्होंने नाना प्रकार से जो असाधारण परिश्रम किया था वह वास्तव में विस्मयकर है। जिस समय वे एकाग्र चित्त से किसी कार्य में युक्त होते थे उस समय वे इस बात को मानो सम्पूर्ण रूप से भूल जाते थे कि वे रुग्ण हैं। इस समय उन्होंने कुछ पुस्तकें लिखने का संकल्प किया था, परन्तु खेद है कि उस कार्य का प्रारम्भ

मात्र हुआ था; वे एक भी पुस्तक को सम्पूर्ण न कर पाये।

स्वामीजी आडम्बरपूर्ण क्रियाकलाप के विशेष विरोधी थे। मठ की नित्य नैमित्तिक ठाकुर-पूजा यथासम्भव सादगी के साथ समाप्त कर वे ब्रह्मचारी तथा संन्यासियों को अधिकांश समय साधना, शास्त्रचर्चा, वेदपाठ आदि कार्यों में ही बिताने का निर्देश देते थे। मठ के प्रतिदिन की कार्यावली की शृंखला को स्थिर रखने के लिए उन्होने प्रत्येक कार्य का समय निर्दिष्ट कर दिया था। मठ के प्रत्येक व्यक्ति पर वे तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे——जान बूझकर यदि कोई किसी नियम का उल्लंघन करता तो वे उस पर असन्तुष्ट होते और कठोर भाषा में उसकी भर्त्सना भी करते थे।

रात्रि के तीन बजे शय्यात्याग करके स्वामीजी ध्यानमग्न होते थे। ध्यान के कमरे में उनके लिए एक अलग आसन रखा रहता था। दूसरे संन्यासी व ब्रह्मचारीगण उन्हे घेरकर बैठते थे। जब तक स्वामीजी न उठते तब तक किसी को उठने का अधिकार न था, और आवश्यकता भी नही होती थी। महापुरुषों की पवित्र चिन्ताधारा के प्रभाव से प्रत्येक का ही मन बाह्य विषय से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होता था। एक अभूतपूर्व आनन्द की अनुभूति से चित्त भर जाता था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने एक दिन कहा था, "नरेन के साथ ध्यान करने बैठने पर जैसा ध्यान जमता है वैसा मै जब अकेला बैठता हूँ तब नही जमता।" कभी कभी स्वामीजी दो घण्टे से अधिक समय तक ध्यानासन पर बैठे रहते थे। उसके बाद 'शिव शिव' कहते कहते आसन से उठकर श्रीरामकृष्णदेव को प्रणाम कर कोई श्यामासंगीत अथवा शिव-संगीत गाते गाते नीचे उतर आते थे और प्रांगण में टहलते थे।

मुखमण्डल पर ध्यानजन्य अपूर्व प्रशान्ति, विशाल विस्तृत नेत्रों में भाव के आवेग से ईषत् लालिमा, अर्धबाह्य दशा में लापरवाही से टहलना आदि देखकर ऐसा लगता था कि मानो वास्तव में वे इस पृथ्वी के मनुष्य नहीं है।

इसके बाद शास्त्रचर्चा प्रारम्भ होती थी। स्वामीजी स्वयं उपस्थित रहकर शिष्यों का विचार करते तथा जटिल स्थलों की स्वयं मीमांसा कर देते थे। प्रातःकाल उपनिषद, ब्रह्मसूत्र आदि वेदान्त शास्त्रों का अध्ययन व अध्यापन चलता था। स्वामीजी ने स्वयं कुछ दिनों से शिष्यों को पाणिनी तथा लघुकौमुदी पढ़ाना शुरू किया था। दोपहर में भोजन के बाद फिर पठन-पाठन चलता था। तीसरे प्रहर ब्रह्मचारी व संन्यासीगण कुछ देर विश्राम करते, तत्पश्चात् उनमें से कुछ भ्रमण के लिए जाते, और कोई कोई मठकार्य में लग जाते। सन्ध्या-आरती के शंख-घण्टा बजने के साथ ही सब लोग ध्यानगृह में एकत्र होते थे। ध्यान के समय पर यदि कोई अनुपस्थित रहता तो स्वामीजी उसकी भर्त्सना करते थे। कोई भी ब्रह्मचारी शारीरिक अस्वस्थता के अतिरिक्त अन्य किसी भी कारण से मठ की दैनिक नियमावली का उल्लंघन करने पर उस दिन के लिए मठ में भोजन न पाता था। आसपास के गाँवों से भिक्षा माँगकर उस दिन के लिए उसे उदरपूर्ति करनी पड़ती थी। स्वामीजी एक ओर जिस प्रकार उदार, दयालु व स्नेहपरायण थे, दूसरी ओर उसी प्रकार कठोर, न्यायपरायण तथा निर्मम थे, व्यक्तिविशेष की--वह कितना ही प्रिय पात्र क्यों न हो--छोटी से छोटी त्रुटि को भी वे क्षमा नहीं करते थे। वे जानते थे. उदारता व क्षमा की अधिकता होने पर भविष्य मे मठ के आदर्श की रक्षा करना असम्भव हो जायगा।

वास्तव में इस समय वहिर्जगत् के यश-मान, प्रतिपत्ति आदि सभी बातें सम्पूर्ण रूप से भूलकर उन्होंने अपनी सारी शक्ति 'मनुष्य-गठन' के कार्य में नियुक्त कर दी। इस प्रकार अप्रैल व मई मास व्यतीत हुए। भारत तथा बाहरी देशों में रामकृष्ण मिशन के प्रचारक संन्यासीगण बड़े उत्साहपूर्वक प्रचारकार्य मे नियुक्त थे। स्वामीजी के नवीन कर्मोत्साह को देख कोई यह न समझ सका कि वे महायात्रा के आयोजन में संलग्न है।

जून मास के प्रथम भाग से ही स्वामीजी मठ तथा रामकृष्ण मिशन सम्बन्धी बातों में सम्पूर्ण उदासीनता प्रकट करने लगे। किसी भी विषय में अब वे अपना मतामत व्यक्त न करते थे, कभी कभी कार्य मे उनकी सलाह पूछने पर वे विरक्ति के साथ उन्हें स्वयं मीमांसा कर लेने का आदेश देते थे। आचार्य, नेता, गुरु, शिक्षादाता आदि उपाधियों को एक एक करके छोड़ इस समय वे अधिकांश समय ध्यानानन्द में ही निमग्न रहते थे। ध्यान की आकांक्षा को अधिक से अधिक बढते देख उनके गुरु-भाईगण चिन्तित हुए। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "वह जिस दिन अपने को पहचान सकेगा उस दिन फिर उसका शरीर न रहेगा"---यही बात बार बार सभी के मन मे आने लगी। भगिनी निवेदिता ने लिखा है, "इस समय एक दिन स्वामीजी किसी गुरु-भाई के साथ अतीत घटनाओं की चर्चा कर रहे थे, इतने में ही उन्होंने पूछा, 'अच्छा स्वामीजी, क्या आप समझ सके हैं कि आप कौन है ?'

"स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया, 'हाँ, अब मैं समझ गया हूँ।' स्वामीजी का गम्भीर भाव देख अधिक प्रश्न करने का साहस तो किसी ने न किया, परन्तु सभी समझ गये कि अब किसी भी

मुहूर्त में वे देहत्याग कर सकते है। परन्तु इस समय उनके शरीर से रोग के सभी लक्षण दूर हो गये थे। चिन्तित व दुःखी गुरु-भाइयों के साथ हास्य, खेल आदि करते हुए वे सदा अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाये रखते थे। वे वास्तव में देहत्याग करेंगे, कोई इस बात को जानकर भी समझ नहीं सकता था।"

देहत्याग के एक सप्ताह पूर्व आचार्यदेव ने स्वामी शुद्धानन्दजी को एक पंचांग लाने का निर्देश दिया। पंचांग आ जाने पर उन्होंने स्वयं उसे देखभाल कर अपने कमरे में रख दिया। बीच बीच में वे गम्भीर ध्यान के साथ उसे देखते थे, उस समय उनके मुख का भाव देखकर ऐसा लगता था मानो वे किसी विशेष कार्य के लिए कोई दिन चुनना चाहते हैं, परन्तु किसी निर्णय पर पहुँच नहीं सक रहे हैं। स्वामीजी का देहान्त होने के बाद उनके गुरुभाई-गण समझ सके कि स्वामीजी के बारम्बार पंचांग देखने का क्या मतलब था। भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने भी देहत्याग से कुछ दिन पूर्व एक शिष्य को पंचांग देखने के लिए बुलाया था। उसके बाद कुछ दिनों की विशेष बातें जान लेने के बाद श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था, "बस अब और आवश्यकता नहीं।" स्वामीजी ने भी श्रीगुरुदेव की पद्धति का अनुसरण करते हुए महायात्रा का दिन निश्चित कर लिया था। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि स्वामीजी को पंचांग देखते समय किसी को थोडा भी इस बात का स्मरण न हुआ।

देहत्याग से तीन दिन पूर्व स्वामीजी मठ के विस्तृत मैदान में घूमते घूमते, जहाँ पर इस समय उनका समाधि-मन्दिर बना है उस स्थान को उँगली के इशारे से दिखाते हुए सहसा बोल उठे, "मेरा देहान्त होने पर उस स्थान पर मेरा अन्तिम संस्कार

करना ।" साथ में जो लोग थे उन्होंने चुपचाप सुन लिया, कोई प्रश्न करने की बात किसी के मन मे न उठी ।

बुधवार दिन, एकादशी थी । स्वामीजी ने उस दिन उपवास किया था । प्रातर्भोजन के समय शिष्यों को स्वयं परसकर भोजन कराने की इच्छा उन्होंने प्रकट की । भात के साथ पकाये हुए कटहल के बीज तथा आलू, और दूध--यही भोजन की सामग्री थी । भोजन के समय स्वामीजी हास्य विनोद से सभी को हँसाने लगे । स्वामीजी को प्रफुल्लित देख शिष्यगण बहुत ही आनन्दित हुए । स्वामीजी जिस समय बालक की तरह हँसी-मजाक करते थे तथा उच्च हास्य एवं मधुर व्यवहार के साथ सभी से सरल भाव से मिलते थे उस समय उनके सामने किसी को लज्जा या संकोच नही होता था । परन्तु जब वे गम्भीर होकर बैठे रहते थे उस समय उनके पास होकर चले जाने में भी भय से हृदय काँप उठता था । आहार के बाद सब लोगों के उठ जाने पर स्वामीजी उनके हाथ धुलाने के लिए लोटे से स्वयं जल देने लगे और आचमन के बाद तौलिए से उनके मुँह और हाथो को पोंछने लगे ।

"यह आप क्या कर रहे हैं स्वामीजी ? यह सब काम तो मुझे करना उचित है, मैं आपका सेवक हूँ, आपसे सेवा ले नही सकता ।" इस प्रकार आपत्ति उठाते ही महापुरुष गम्भीर भाव से स्वर्ग का माधुर्य लाते हुए बोले, "क्या ईसामसीह ने अपने शिष्यों के पैर नहीं धोये थे ?"

इस प्रश्न का उत्तर मन में उठा--"परन्तु वह तो उनका अन्तिम दिन था ।" परन्तु रुद्ध कण्ठ से इसका उच्चारण किया न जा सका । दोनों ओंठ जरा हिलकर चुप रह गये ।

१९०२ ई० चार जुलाई । तड़के ही शय्या त्यागकर स्वामीजी

आज सभी के साथ एकत्र ध्यान करने न गये, अतीत की बातें चलाकर वे नाना प्रकार से वार्तालाप करने लगे। दूसरे दिन अमावस्या व शनिवार था। इसलिए मठ में उन्होंने श्री काली-पूजा करने की इच्छा प्रकट की। पूजा के आयोजन के सम्बन्ध में वार्तालाप हो रहा था। इसी समय स्वामी रामकृष्णानन्द के पिता शक्तिसाधक तथा तन्त्र-शास्त्र में पण्डित ईशानचन्द्र भट्टाचार्य महाशय मठ में पधारे। उन्हें देख स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। भट्टाचार्य महाशय के साथ परामर्श करके स्वामीजी ने उसी समय स्वामी शुद्धानन्द तथा बोधानन्दजी को पूजा की आवश्यक व्यवस्था करने के लिए निर्देश दिया। इसके बाद थोड़ी सी चाय पीकर वे मठ के ठाकुरघर में प्रविष्ट हुए। थोड़ी ही देर बाद देखा गया कि ठाकुर-घर के सभी दरवाजे व खिड़कियाँ बन्द कर दी गयी हैं। इस प्रकार वे तो कभी दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द नहीं करते थे—इसका क्या कारण है? कौन कहे! लगातार तीन घण्टे व्यतीत हो जाने पर एक श्यामा-संगीत गाने के बाद भाव के आनन्द में मग्न महापुरुष धीरे धीरे सीढ़ियों से उतरकर नीचे आये। "मन, चल निज निकेतने" गाना गुनगुनाते हुए वे मठ के प्रांगण में टहलने लगे। आज उस दिन की याद आती है—जिस दिन गुरु शिष्य का पहले पहल साक्षात्कार हुआ था। उस दिन बालक नरेन्द्रनाथ ने भाव के आनन्द में गद्गद होकर दक्षिणेश्वर के पवित्र देवालय में यही गाना गाया था और उनके सम्मुख अर्धबाह्य दशा में बैठे श्रीरामकृष्ण आँखों से आँसू बहाते हुए उनके कैशोर लावण्योज्ज्वल स्निग्ध मुख की ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रहे थे। उस दिन बालक की आँखों में थी—सकरुण मौन विनति! संसार की शठता, प्रवंचना,

अन्याय, अविचार के शत शत शोचनीय चित्रों को देख व्यथित-हृदय बालक ने उस दिन माँगी थी--मुक्ति, निर्वाण, भगवद्-दर्शन। आज उन्हीं नेत्रों मे है गम्भीर समवेदना से कातर कल्याण की वर्षा करनेवाली पवित्र दृष्टि--मुखमण्डल पर है ब्रह्मविद् की उद्‌भासित ज्योति--जगत् के कल्याण के व्रत में पूर्ण आत्मदान की गौरवपूर्ण महिमा--सिद्धसंकल्प महायोगी की असीम प्रशान्ति! वह था एक दिन--और आज है एक दूसरा दिन! इन दोनों के बीच कैसी विराट चेष्टा; महान् प्रयास! टहलते टहलते आत्मस्थ महायोगी क्या यही सोच रहे है? मन ही मन एकान्त मे धीरे धीरे न जाने वे क्या कह रहे है? स्वामी प्रेमानन्दजी पास ही खड़े थे। उन्होंने सुना, स्वामीजी आप ही आप कह रहे है, "यदि इस समय कोई दूसरा विवेकानन्द होता तो वह समझ सकता, विवेकानन्द ने क्या किया है। परन्तु समय पर अवश्य अनेक विवेकानन्द जन्म ग्रहण करेगे।"--स्वामी प्रेमानन्दजी चौक उठे, क्योंकि वे जानते थे, स्वामीजी का मन उच्चतम भावभूमि पर आरूढ़ हुए बिना तो वे ऐसी बाते कभी नही करते। महा-माया का खेल कौन समझे? सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि वाले महापुरुष स्वामी प्रेमानन्द भी देखकर देख न सके, समझकर भी न समझ सके कि उनके प्यारे गुरुभाई विवेकानन्द आज देहत्याग का सकल्प लेकर योगारूढ़ हुए है।

नियमित समय पर भोजन की घण्टी होते ही स्वामीजी ठाकुर-घर के नीचे के बरामदे में सभी के साथ एकत्र मिलकर भोजन करने बैठे। स्वामीजी अस्वस्थ होने के बाद से बहुधा सभी के साथ भोजन नहीं करते थे। आज सहसा उस नियम का व्यति-क्रम होते देखकर भी किसी के मन में कोई सन्देह न हुआ, बल्कि

सहसा अप्रत्याशित रूप से स्वामीजी के साथ एकत्र भोजन करने का सौभाग्य प्राप्त कर सभी बड़े आनन्दित हुए। स्वामीजी अस्वाभाविक आग्रह के साथ भोजन करने लगे और गुरुभाइयों के साथ हास्यालाप में रत हुए। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा कि दूसरे दिनों की अपेक्षा आज उनका शरीर अधिक स्वस्थ लग रहा है।

भोजन के बाद थोड़ी देर विश्राम करके ही स्वामीजी ने ब्रह्मचारियों को संस्कृत क्लास में बुला लिया। अन्य दिन ढाई-तीन बजे के समय पाठ शुरू होता था, आज एक बजकर पन्द्रह मिनट पर ही पाठ प्रारम्भ हुआ। लघुकौमुदी व्याकरण का पाठ चल रहा था—विषय नीरस होने पर भी लगातार तीन घण्टे में किसी ने किसी प्रकार विरक्ति का अनुभव न किया। कभी हास्यपूर्ण छोटी छोटी कहानियाँ कहकर, कभी सूत्रों की नाना प्रकार की आकर्षक व्याख्या करते हुए स्वामीजी कठिन कठिन स्थानों को भी सरलता से समझने योग्य तथा आकर्षक बनाने लगे। प्रसंग-क्रम में स्वामीजी ने कहा कि इसी प्रकार कहानी, उपमा तथा हँसी के साथ उन्होंने एक दिन अपने सहपाठी मित्र स्वर्गीय दाशरथी संन्याल (हाईकोर्ट के वकील) को एक रात्रि में ही इंग्लैण्ड का सारा इतिहास सिखा दिया था। व्याकरण का पाठ समाप्त होने पर ऐसा दिखा कि स्वामीजी कुछ थक-से गये हैं।

तीसरे प्रहर में स्वामीजी स्वामी प्रेमानन्दजी को साथ लेकर मठ के बाहर घूमने गये। उस दिन दोनों बातें करते हुए बेलुड़ बाजार तक गये। अन्य बातों के संग में वेद-विद्यालय की बात भी उठी। स्वामी प्रेमानन्दजी ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, वेदपाठ

से क्या उपकार होगा ?" स्वामीजी ने उसी समय गम्भीर भावपूर्ण परन्तु थोड़े शब्दों में उत्तर दिया, "कम से कम इससे अनेक कुसंस्कार अवश्य नष्ट हो जायँगे।"

बाहर से लौटकर स्वामीजी मठ के बरामदे में बैठे और संन्यासी तथा ब्रह्मचारियों के साथ वार्तालाप करने लगे तथा छोटों से स्नेह के साथ कुशल प्रश्न पूछकर उन्हें समयोचित उपदेश आदि देने लगे। सन्ध्या आरती का समय हुआ। ब्रह्मचारीगण एक एक करके स्वामीजी को प्रणाम कर ठाकुरघर की ओर चले। आचार्यदेव धीरे धीरे दुमंजले पर अपने कमरे में पधारे।

एक ब्रह्मचारी सदा ही स्वामीजी के साथ साथ रहते थे। स्वामीजी ने उन्हें अपने कमरे की सभी खिड़कियों वं दरवाजों को खोल देने का आदेश दिया। बाहर गहन अन्धकार, भागीरथी पर अगणित दीपो के प्रतिविम्ब मृदु तरंग से काँप रहे थे। ऊपर अगणित नक्षत्रों को छाती में धारणकर आकाश निस्तब्ध था—आत्ममग्न विवेकानन्द ने धीरे धीरे खिड़की के सामने आकर दक्षिणेश्वर की ओर दृष्टिपात किया। उस गहरे अन्धकार को भेदकर उनकी दिव्य दृष्टि क्या देख रही थी—कौन जाने। बहुत दिन पूर्व काशीपुर के बगीचेवाले मकान मे श्रीरामकृष्ण ने जिस अनुभूति के द्वार को रुद्ध किया था—क्या आज कर्मश्रान्त सन्यासी की निर्निमेष दृष्टि के सम्मुख वही धीरे धीरे उन्मुक्त हो रहा है ? विवेकानन्द की ज्ञानदृष्टि के सम्मुख जिस 'कागज की तरह बारीक' आवरण की बात श्रीरामकृष्ण कहा करते थे उसी रहस्यपूर्ण आवरण के धीरे धीरे अन्तर्हित हो जाने से क्या चरम आत्मोपलब्धि का आनन्द-निकेतन उद्भासित हो उठा है ? काफी देर बाद मानो एकाएक होश सँभालकर विवेकानन्द लौटकर खड़े

हो गये। ब्रह्मचारीजी को बाहर बैठ जप करने का निर्देश देकर वे स्वयं जपमाला हाथ में लिये पद्मासन में बैठ गये। एक घण्टे बाद आसन से उठकर स्वामीजी कमरे में बिस्तर पर लेट गये और ब्रह्मचारीजी को बुलाकर उन्होंने पंखा करने के लिए कहा।

जपमाला हाथ में लिये सोये हुए महापुरुष की देह निःस्पन्द व स्थिर है। उस समय करीब रात्रि के नौ बजे का समय था, इसी समय उनका हाथ काँप उठा और साथ ही वे निद्रित शिशु की तरह अस्पष्ट स्वर से थोड़ा क्रन्दन कर उठे। दो गम्भीर दीर्घ निश्वास के साथ ही साथ उनका मस्तक सिरहाने से हिल गया। स्वामीजी को इस स्थिति में देख, ब्रह्मचारीजी यह न समझ सके कि क्या करना चाहिए; वे घबड़ा उठे और नीचे जाकर बड़े बड़े संन्यासियों को उन्होंने यह समाचार सुनाया। उन्होंने जल्दी ही आकर देखा कि योगीवर अनन्त निद्रा में शयन कर रहे हैं। अमावस्या की रात्रि के अन्धकारपूर्ण घूँघट की आड़ में जगन्माता ने अपने व्यग्र बाहुओं को प्रसारित कर रणश्रान्त वीर पुत्र को अपनी गोदी में उठा लिया है!!

* * * *

जो कुछ आँखों के सामने था वह आँखों से ओझल हो गया! किस उद्देश्य से संसाररूपी रंगमंच पर किसने यह अभिनय किया, कौन हैं विवेकानन्द--कौन हैं भगवान् श्रीरामकृष्ण? मृत्यु की यवनिका द्वारा नेपथ्यभूमि आवृत है। कालस्रोत में कहाँ तक जाकर यह अभिनय समाप्त होगा? मानव का क्षुद्र ज्ञान क्या भूत, क्या भविष्य--किसी भी देश में अन्त तक पहुँच नहीं सकता। इसीलिए वर्तमान को पकड़कर रखने की इस प्रकार अथक चेष्टा! परन्तु आज जो कुछ है--कल वह नहीं रहता--

बहता रहता है केवल अनन्त कालस्रोत--गरज उठती हैं बीच बीच में केवल ऊँची ऊँची लहरें।

बंगाल के जीवनस्रोत में राजा राममोहन से लेकर अनेक तरंगों के उत्थान व पतन का हमने निरीक्षण किया है। शताब्दि के अन्त तथा प्रथम भाग में फिर यह एक तरंग का अभिघात!! दक्षिणेश्वर में गंगाजी के पूर्व तट पर एक दिन इसकी उत्पत्ति हुई--बेलुड़ में पश्चिम तट पर एक दूसरे दिन इसका विलय हुआ! इसके अप्रतिहत वेग से ऐटलान्टिक के दुस्तर लवणाम्बुराशि की दोनों तटभूमि प्रकम्पित--प्रतिध्वनित हैं!! समझा गया--गंगा में स्रोत है और बंगाली नही मरे। परन्तु जो कुछ आँखो के सामने प्रकट हो उठता है और देखते ही देखते डूब जाता है, वह केवल वर्तमान में ही सीमित नही है, परन्तु इसका भूत व भविष्य हम सम्पूर्ण रूप से जान नही सकते। कौन कहेगा, विवेकानन्द कहाँ से आये थे, कौन उन्हें लाया था? और यह भी कौन कह सकता है, इस अभ्युदय की परिसमाप्ति कब--कितनी दूर--कहाँ होगी?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हरिः ॐ तत्सत्

स्वामी विवेकानन्दकृत साहित्य

ज्ञानयोग
राजयोग
प्रेमयोग
कर्मयोग
भक्तियोग
ज्ञानयोग पर प्रवचन
सरल राजयोग

धर्मविज्ञान
धर्मतत्त्व
धर्मरहस्य
हिन्दूधर्म
हिन्दूधर्म के पक्ष मे
शिकागो वक्तृता
मरणोत्तर जीवन

भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता
देववाणी (उच्च आध्यात्मिक उपदेश)
कवितावली (आध्यात्मिक अनुभूतिमय काव्य)
वेदान्त
व्यावहारिक जीवन मे वेदान्त
आत्मतत्त्व
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग
विवेकानन्दजी के सग मे
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप
विवेकानन्दजी के सान्निध्य मे
विवेकानन्द-सचयन – (महत्त्वपूर्ण व्याख्यान, लेख, पत्र, काव्य आदि का प्रातिनिधिक संचयन)
पत्रावली – (धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज, राष्ट्रोन्नति इत्यादि सम्बन्धी स्फूर्तिदायी पत्रों का सकलन)
भारत मे विवेकानन्द (भारत मे दिये हुए व्याख्यानों का सकलन)

प्रकाशकः रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर- ४४० ०१२